हरिॐ तत्सत्

यह पुस्तक स्वामी जगदीश्वरानन्द
तीर्थ जि॰ अल्मोड़ा वाले ने स्वामी
धर्मानन्द तीर्थ को दी है। वह
यहां से चले गये हैं। उनके आने पर
उन्हें दी जाय। नहीं तो यह
पुस्तक स्वामी धर्मानन्द जी
के पास रहेगी। स्वामी
धर्मानन्द तीर्थ

[illegible]

॥ ओ३म् ॥

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

पातञ्जलयोगदर्शनम् ।

निखिलतन्त्रस्वतन्त्रमहर्षिव्यासदेवप्रणीतम्

साङ्ख्यप्रवचन भाष्यसहितम् ।

तथा राजर्षि भोजदेव प्रणीत राजमार्त्तण्ड

वृत्तिसहितम् ।

स्वर्गीय पं० रुद्रदत्त शर्म्मा सम्पादकाचार्य्य

द्वारा अनूदित

संवत् २००० सन् १९४४

पंचमवार १०००] मूल्य ५)

उपोद्घात ।

ईश्वर की भी क्या ही अपार महिमा है कि जिसको क्षण-मात्र एकान्त स्थल में निष्पक्ष होकर विचारने से स्पष्ट भान होता है कि यह जगत क्षणभंगुर है ।

"अथमं जगदेव नश्वरन् पुनरस्मिन्नक्षणभंगुरा तनुः,
ननु तत्र सुखाभिहेतवे क्रियते हन्त जनैः परिश्रमः।"

देखिये प्रथम इन शरीरों की कैसी आश्चर्यमय उत्पत्ति है, यदि इसके उपादान कारण पर दृष्टि देते हैं तो उस रजो वीर्य से ऐसे आश्चर्यमय शरीरों का उत्पन्न होना किसी प्रकार से बुद्धि में नहीं आता, पश्चात् शरीर और प्राण के वियोग होजाने पर यदि समस्त जगत में ढूंढिये तो उस प्राणी का पता न पाइयेगा, परंतु भारतवर्षीय उद्यमशील विद्वानों ने इसही अनित्य और मलसार शरीर से ऐसी २ विद्या प्रकट की हैं कि, जिनके साधन से मनुष्य इस लोक और परलोक में अवधि से अधिक भी सुख प्राप्त कर सकता है, जिस प्रकार से आजकल के यूरोपियन विद्वान लोग अनेक बाह्य विद्या प्रकट करके यश लाभ कर रहे हैं, ऐसे ही भारतीय विद्वान् लोग आन्तरिक विद्याओं को प्रकाशित करके कीर्तिमान् होते थे और यथार्थ में जबतक मनुष्य यह नहीं जाने कि मेरे शरीर में क्या २ पदार्थ हैं तब तक वह पदार्थान्तरों को कैसे जान सकता है ! इसके अतिरिक्त मनुष्यों के शरीरों में अन्तःकरण चतुष्टय* के अन्तर्गत मन ऐसा विघ्नकारक है कि मनुष्यों को अनेक दुःखप्रद विषयों में फँसाकर साँसारिक और पारमार्थिक सुखों से वञ्चित कर देता है और केवल अर्थ और काम में ही फँसाये रखता है, धर्म और मोक्ष का चिन्तन भी नहीं करने देता यद्यपि मन की चपलता और तरलता स्वाभाविक गुण है तथापि सज्जनों का मन धर्म और मोक्ष की ओर चलता है और दुराचारियों का मन निन्दित

कर्मों में चलता है जिससे वे लोग उन कर्मों के आदि मध्य और अन्त में दुःख उठाते हैं और यह आपामर प्रसिद्ध है कि सुख की सब को इच्छा होती है, परन्तु अल्पज्ञ लोग सुखाभास को सुख मानकर फिर दुःखसागर में डूबते हैं जैसे परस्त्री परपुरुष प्रसंगादि क्षणिक सुख में मग्न होने से उपदेश और उससे कुष्टादि महारोगों से जन्म भर महादुःख का भोग करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि वह सुख नहीं बल्कि सुखाभास है, बस सुख वही है जिसमें दुःख का अत्यन्ताभाव हो जाय और उसही दुःख के अत्यन्ताभाव को मोक्ष कहते हैं जैसे महर्षी कपिलदेव ने साँख्यशास्त्र में लिखा है।

"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।"

इसका अर्थ यह है कि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति को मोक्ष कहते हैं। बस विचारशील मनुष्य इसही अक्षय सुख की प्राप्ति का यत्न करते हैं और इस सुख प्राप्ति का साधन मन और इन्द्रियों का निग्रह है एवम् मनोनिग्रह योग के बिना असाध्य है। गीता में कृष्ण ने भी कहा है "अभ्यासेनतु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते" अर्थात योगाभ्यास और वैराग्य से मनोनिग्रह होसकता है और जैसे अग्नि में तपाने से धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही योगाभ्यास से मनुष्य के मल, विक्षेप और आवरण दोष छुटकर शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है और उससे मोक्ष सिद्ध होता है।

परन्तु आजकल लोगों ने योग शब्द को ऐसा बुरा समझ रक्खा है कि जो भिक्षुक गेरुवे वस्त्र पहन कर किसी विद्या के न जानने के कारण बिना उचित परिश्रम किये आलस्यग्रस्त होकर उदरपूर्ति के लिये घर घर भिक्षा माँगते फिरते हैं आज कल वही

निरुद्योगी योगी कहलाते हैं। यदि किसी मनुष्य ने अधिक विचार किया तो बस यहां तक बुद्धि को दौड़ाया कि "योगी का अर्थ यह समझने लगा कि जो घर बार को छोड़ कर जंगल में चला जाय उसे योगी कहते हैं।" और कोई २ मनुष्य कनफटे फकीरों को योगी कहते हैं। परन्तु यह सब मनुष्यों की भूल है क्योंकि योग से और वस्त्रों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं योग का केवल चित्त से सम्बन्ध है बल्कि चित्त की स्थिर वृत्तिही का नाम योग है। उसमें गेरु के रंगे कपड़े वा जटा कुछ सहायक नहीं होते प्रत्युत बाधक होते हैं क्योंकि आज कल प्रायः अज्ञ लोग काषायाम्बरधारी मनुष्यों का सिद्ध जान कर ऐसा घेरते हैं कि उनको अष्टप्रहर अवकाश नहीं लेने देते फिर उनके चित्त की वृत्ति कैसे स्थिर हो सकती है और जो यह कहते हैं कि जंगल में रहने से योग प्राप्त होता है यह भी उनका भ्रम है क्योंकि किसि सज्जन का वचन है कि:—

> वनेपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां,
> गृहेषु पचेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
> अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते,
> निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्॥

गीता में लिखा है कि:—

> कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
> इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

इत्यादि अनेक प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि मनुष्य गृहस्थाश्रम में भी योगसाधन कर सकता है और प्रत्येक मनुष्य दिन भर में दो एक बार योग की क्रिया करते हैं परन्तु उसकी

दशा का न जानने के कारण सांसारिक व्यवहार में युक्त कर देते हैं जैसे कोई लेखक उत्तम अक्षर लिखता है तब उसको समस्त अन्य विषयों से चित्त की वृत्तियों को रोककर अक्षर के आकार में लगानी पड़ती हैं क्योंकि बिना तदाकारवृत्ति किये अक्षर सर्वांग सुन्दर नहीं बन सकता और पतञ्जलि ऋषि ने इस ही योग शास्त्र के प्रथम पाद के दूसरे सूत्र में योग का लक्षण लिखा है कि चित्त की वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं परन्तु आज कल के मनुष्यों पर तो यह कहावत ठीक चरितार्थ होती है कि "गाँव के गाँव फूंक दिये पर अग्यारी करनी न आई।"

भला हम पूछते हैं कि यदि वन में ही मनोनिग्रह होता है तो जो स्त्रियां पानी के भरे घड़े सिर पर रखकर प्रति दिन लाती हैं वह कैसे होता? क्यों कि बिना चित्त की वृत्तियों के निरोध किये निराश्रय घड़ों का सिर पर ठहरना असम्भव है। ऐसे ही नट का निराश्रय रस्से वा तार पर चलना समझिये इन दृष्टांतों से यही मालूम होता है कि स्त्री और नट की चित्त वृत्ति का योग घड़े और रस्से आदि से है। परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि नित्य योग की क्रिया करने पर भी लोग योग के नाम से डरते हैं। पूर्वोक्त निन्दा और इस शब्द के दुर्नाम और भय का कारण यही मालूम होता है कि महाभारत युद्ध के पीछे इस देश में अन्य देशी विद्याओं के फैल जाने से भारतवासी अपनी धर्म्मभाषा संस्कृत को ऐसा भूल गये कि उसके शब्द मात्र से भय करने लगे।

बड़े शोक का स्थल है कि जिन विद्याओं के आविर्भाव (पैदा) करने वाले इस देश में रहते थे उन विद्याओं के पढ़ने पढ़ाने वालों का भी इस देश में अभाव हो गया जिससे उन्हीं महर्षियों के वंशज मुक्तकण्ठ से कहते हैं कि हमारे देश में प्रथम

कोई विद्या ही न थी। इस अभाव को दूर करने के लिये इस योगशास्त्र का सरल भाषा में अनुवाद किया जाता है। आशा है कि ईश्वरानुग्रह से यह कार्य शीघ्र पूर्ण होकर पाठकों को मंगलकारक और सुखदायी होगा।

इस अनुवाद में केवल अक्षरार्थ और उपयोगी बातें लिखी जावेंगी और अनपेक्षित (फिजूल) कुछ नहीं लिखा जायगा, योग में जो २ उपयोगी वस्तु और स्थानादिक हैं वे सब योग के ८ अंगों के वर्णन में लिखे जायंगे।

इस सर्वोपकारी सत्य सुख के देने वाले योगशास्त्र को पाणिनीय व्याकरण और कपिल ऋषि प्रणीत सांख्य शास्त्र के भाष्यकर्त्ता महर्षि पतञ्जलि ने चार भागों में विभक्त किया है।

उनमें से पहिले पाद में योग के लक्षण, मनोनिग्रह और चित्त वृत्तियों के रोकने के उपाय लिखे हैं। इसही लिये इस पाद का नाम समाधिपाद है।

दूसरे पाद में अष्टाङ्गयोग का वर्णन और शम दमादि योग के साधन आदि का सुविस्तर वर्णन किया है इसलिये द्वितीय पाद का नाम साधनपाद रखा है।

तीसरे पाद का नाम विभूतिपाद इसलिये है कि उसमें योगसाधन के गौणफल वाक्सिद्धि और अणिमादि निधियों की प्राप्ति का वर्णन है।

और चतुर्थपाद में योग के प्रधान फल मोक्ष का वर्णन है और इस कारण से चतुर्थ पाद का नाम कैवल्यपाद रखा है।

इनमें से प्रथमपाद में ५१ दूसरे में ५५,तीसरे में ५५ और चौथे में ३४ सूत्र है एवं समस्त सूत्र संख्या १९५ हुई। समस्त मुमुक्षु और विद्वानों को उचित है कि इस आर्ष ग्रन्थ को क्रमशः पढ़ कर लाभ उठावें।

यदि इस भाषानुवाद में कोई त्रुटि हो तो सज्जन लोग अनुग्रह द्वारा सूचित करें क्योंकि भ्रम शून्य होना सर्वथा असम्भव है अतएव त्रुटी सम्भव है। और सज्जनों के सूचित करने पर ध्यान भी दिया जायगा परन्तु जो लोग दुराग्रह से खंडन करेंगे उनके सर्व अहितकारी कथन पर कुछ ध्यान न दिया जायगा क्यों कि वृथा बाद में कालक्षेप करना बुद्धिमत्ता का काम नहीं है।

रुद्रदत्त शर्मा—अनुवादक—
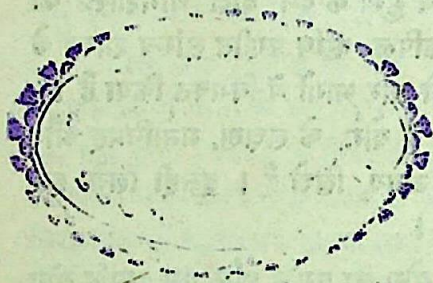
पातंजल-योगदर्शनम् ।

समाधि-पादः ।
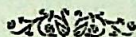
अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

पदार्थ—(अथ) प्रारम्भ सूचक अव्यय (योगानुशासनम्) योग सम्बन्धी शास्त्र ॥

भावार्थ—अब योग शास्त्र का आरम्भ करते हैं ।

व्यासदेवकृतभाष्यम् ।

अथेत्ययमधिकारार्थः । योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम् । योगः समाधिः स च सार्वभौमश्चित्तस्यधर्म्मः । क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रन्निरुद्धमिति चित्तभूमयः । तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते । यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति प्रक्षिणोति च क्लेशान् कर्म्मबन्धनानि श्लथयति निरोधमभिमुखं करोति स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते । स च वितर्कानुगतो विचारानुगत आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत इत्युपरिष्टात् प्रवेदयिष्यामः । सर्ववृत्तिनिरोधेत्वसम्प्रज्ञातः समाधिः तस्य लक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते ॥ १ ॥

भाष्य का पदार्थ-अथ यह शब्द अधिकार अर्थात् आरम्भ सूचक है । योग का अनुशासन अर्थात् योगशास्त्र का आरम्भ समझना चाहिये । योग समाधि को कहते हैं और वह समाधि सब अवस्थाओं में चित्त का एक गुण है । क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध यह चित्त की ५ अवस्था हैं । उनमें से विक्षिप्तावस्थायुक्त चित्त में अनेक विषयों के विचार रूप विघ्न से

नष्ट भ्रष्ट हुई चित्तवृत्ति योग विषय में नहीं रहती है। एकाग्र चित्त में अर्थात् चित्त की एकाग्र अवस्था में सत्पदार्थों को प्रकाश करता है और दुःखों को, कर्म के बंधनों को ढीला करता है. निरोध अर्थात् टूटने के अभिमुख अर्थात् योग्य करता है। वह सम्प्रज्ञात योग अर्थात् जिसमें समाधि के अतिरिक्त अन्य विषयों का भी ज्ञान हो कहलाता है और वह वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत ४ प्रकार का है। यह आगे इस ही पाद के २७ वें सूत्र में वर्णन करेंगे सब वृत्तियों के निरोध अर्थात् चित्त की निरुद्धावस्था में तो असम्प्रज्ञात योग होता है उसका लक्षण कहने की इच्छा से अगला सूत्र बना है—

भाष्य का भावार्थ—इस सूत्र में अथ शब्द आरम्भ का सूचक है। योग समाधि को कहते हैं और वह समाधि सब अवस्थाओं में प्राप्य चित्त का एक गुण है। चित्त की ५ अवस्था हैं—१—क्षिप्त, २—मूढ़ ३—विक्षिप्त ४—एकाग्र, ५—निरुद्ध, जिस अवस्था में चित्त की वृत्तियां अनेक सांसारिक विषयों में गमन करती हैं उसको क्षिप्त कहते हैं, जिसमें चित्त मूर्खवत् हो जाय अर्थात् कृत्याकृत्य को भूल जाय उसे मूढ़ावस्था कहते हैं। विक्षिप्त उस अवस्था को कहते हैं जिसमें चित्त व्याकुल वा व्यग्र हो जाता है, एकाग्र अवस्था वह है जिसमें चित्त विषयान्तरों से अपनी वृत्तियों को खींच कर किसी एक विषय में लगा देता है और निरुद्धावस्था वह है जिस में चित्त की सब वृत्तियां चेष्टा रहित हो जाती हैं (इनमें से पूर्व ४ वृत्तियों में सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण का संसर्ग रहता है; परन्तु पांचवीं अवस्था में गुणों के संस्कार मात्र रहते हैं) इन में से क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त अवस्थाओं में योग नहीं होता क्योंकि चित्त की वृत्तियां उन अवस्थाओं में सांसारिक विषयों में लगी रहती हैं और जो

एकाग्र अवस्था में योग होता है उसे सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। वह ४ प्रकार का है, जिनका प्रथम पाद के २७ वें सूत्र में वर्णन करेंगे। एवं निरुद्धावस्था में असंप्रज्ञात योग होता है उसके लक्षण दूसरे सूत्र में कहते हैं ॥ १ ॥

भोज वृत्तिः—अनेन सूत्रेण शास्त्रस्य सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनान्याख्यायन्ते । अथ शब्दोऽधिकारद्योतको मंगलार्थकश्च । योगो युक्तिः समाधानम् । 'युज समाधौ' । अनुशिष्यते व्याख्यायते लक्षणभेदोपायफलैर्येन तदनुशासनम् । योगस्यानुशासनं योगानुशासनम् । तदा शास्त्रपरिसमाप्तेरधिकृतं बोद्धव्यमित्यर्थः । तत्र शास्त्रस्य व्युत्पाद्यतया योगः ससाधनः सफलोऽभिधेयः । तद्व्युत्पादनञ्च फलम् । व्युत्पादितस्य योगस्य कैवल्यं फलम् । शास्त्राभिधेययोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः लक्षणः सम्बन्धः । अभिधेयस्य योगस्य तत् फलस्य च कैवल्यस्य साध्यसाधन भावः । एतदुक्तं भवति व्युत्पाद्यस्य योगस्य साधनानि शास्त्रेण प्रदर्श्यन्ते तत्साधनसिद्धो योगः कैवल्याख्यं फलमुत्पादयति ॥ १ ॥ तत्र को योगः ? इत्याह—

भो० वृ० का भा०—सूत्र में शास्त्र का सम्बन्ध, प्रतिज्ञा और प्रयोजन का वर्णन किया गया है। अथ शब्द अधिकार को प्रकाश करने और मङ्गल के वास्ते है, योग युक्त अर्थात् प्राणों के निरोध करने को कहते हैं। "युज समाधौ" इस धातु से भाव में घञ् प्रत्यय करने से 'योग' शब्द सिद्ध हुआ है। अनुशासन उसे कहते हैं जिससे लक्षण, भेद, उपाय और फलों के द्वारा विशेष व्याख्या की जाय। सारांश यह है कि इस शास्त्र में योग के लक्षणादि का वर्णन किया जायगा। इस सूत्र का शास्त्र की समाप्ति पर्यन्त अधिकार समझना चाहिये। यह शास्त्र योग का प्रतिपादक है। योग शास्त्र का प्रतिपाद्य होने से सफल कहा जाता है और योग का फल मोक्ष है, शास्त्र और योग का प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है। एवम् योग और मोक्ष का साध्यसाधन भाव सम्बन्ध है।

फलितार्थ यह हुआ कि योग के साधन इस शास्त्र में कहे जावेंगे। उनको सिद्ध करने से मनुष्य को मोक्ष रूप फल प्राप्त होता है? योग क्या पदार्थ है उसका वर्णन अगले सूत्र में करेंगे—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

सूत्र का पदार्थ—(योगः) जो युक्त करे उसे योग कहते हैं। (चित्तवृत्तिनिरोधः) चित्त की वृत्तियों का रोकना।

भावार्थ - चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं।

व्यास भाष्य—सर्वशब्दाग्रहणात् संप्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणं। प्रख्यारूपंहि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टम् ऐश्वर्यविषयप्रियं भवति तदेव तमसाऽनुविद्धम् अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति। तदेवप्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति। तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्व पुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेव ध्यानोपगं भवति तत्परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः। चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च सत्त्वगुणात्मिका चेयम् अतो विपरीता विवेकख्यातिरित्यतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि। तदवस्थं संस्कारोपगं भवति। स निर्विकल्पससमाधिः। न तत्र किंचित्संप्रज्ञायत इत्यसंप्रज्ञातः। द्विविधः स योगश्चित्तवृत्ति निरोध इति। तदवस्थे चेतसि विषयाभावाद्बुद्धिबोधात्मा पुरुषः किं स्वभाव इति ॥ २ ॥

भाष्य का पदार्थ-सब बाह्य शब्दादि विषयों के ग्रहण न होने अर्थात् अभाव से सम्प्रज्ञात भी योग कहलाता है। चित्त ही

विषयविचार, विषय के साथ सम्बन्ध और विषय में स्थिति यह तीन स्वभावयुक्त होने से तीन प्रकार का है। चित्त रजोगुण और तमोगुण से मिला हुआ अनेक द्रव्यादि ऐश्वर्य को चाहता है। वही चित्त तमोगुण के संयुक्त होने से अधर्म, अज्ञान, विषय में अनुरक्ति और दरिद्रता का चिन्तन करता है। वही दूर होगया है मोहरूपी ढकना जिसका चारों ओर से प्रकाशयुक्त केवल रजोगुण के अंश से धर्म, ज्ञान, सांसारिक विषयों में विरक्ति और ईश्वरभाव के चिन्तन में प्रवृत्त होता है। वही चित्त रजोगुण के लेश और पापादि मल से युक्त होता है, अपने रूप में स्थित धर्म्मही का विचार करता है। उस ही को योगी लोग प्रधान प्रसंख्यान कहते हैं। ज्ञान शक्ति जिसका नाश कभी न हो, जिसका प्रतिसंक्रम अर्थात् अदल बदल न हो, जिसके द्वारा विषय देखे जासकते हों जो मलरहित हो और जिसका अन्त न हो वह सत्त्वगुण प्रधान है और इससे उलटी अविवेक कहलाती है। इसलिए उसमें उपरत हुआ चित्त उस विचार को भी रोक देता है। उस अवस्था में स्थित चित्त केवल संस्कार का विचार करता है, वह संकल्प विकल्परहित समाधि कहलाती है जिसमें कुछ न जाना जाय वह असम्ज्ञात योग दो प्रकार का है ॥२॥

भाष्य का भावार्थ—सम्प्रज्ञात योग में भी शब्दादि बाह्य विषयों का निरोध होता है इसलिये उसे भी योग कहते हैं; परन्तु योग शब्द का मुख्यार्थ असम्प्रज्ञात ही है। चित्त का तीन प्रकार का स्वभाव है। एक प्रख्या, दूसरा प्रवृत्ति, तीसरा स्थिति अर्थात् दृष्ट वा श्रुत पदार्थों का विचार फिर विषयों के साथ सम्बन्ध, पश्चात् विषयों में स्थिति। उपनिषद् में भी लिखा है कि "यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत् क्रियया

करोति यत् क्रियया करोति तदभिसम्पद्यते" प्रख्या अर्थात् सत्त्व, रज, तम गुणों के संसर्ग से तीन प्रकार का है। जब चित्त विषयविचार अधिक सत्त्वगुण से युक्त होता है तब केवल ईश्वर का चिन्तन करता है जब वही चित्त अधिक तमोगुण युक्त होता है तब अधर्म, अज्ञान विषयासक्ति का चिंतन करता है और जब रजोगुण चित्त में अधिक हो जाता है तब धर्म और वैराग्य का चिंतन करता है इस अवस्था को योगी लोग "परं प्रसंख्यान" कहते हैं। जो ज्ञानशक्ति परिणाम से रहित और शुद्ध होती है वह सत्त्व गुण प्रधान है अर्थात् उस वृत्ति में तमोगुण और रजोगुण का अभाव हो जाता है; परन्तु जब चित्त इस वृत्ति से भी उपरत अर्थात् विरक्त हो जाता है तब इसको भी त्याग देता है और केवल सत्त्वगुण के संस्कार के आश्रय रहता है और उसी संस्कारशिष्ट दशा को निर्विकल्पसमाधि वा असम्प्रज्ञात योग कहते हैं। असम्प्रज्ञात का अर्थ यह है कि जिसमें ध्येय (ध्यान करने योग्य ईश्वर) के अतिरिक्त और किसी विषय का भान न हो। योग दो प्रकार का है एक सम्प्रज्ञात दूसरा असम्प्रज्ञात।

असम्प्रज्ञात योग में जब चित्त की सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब समस्त दृश्य और विचार्य विषयों के अभाव से जीव किसका विचार करता है और उस समय उसकी कैसी (स्वभाव) प्रकृति रहती है इस प्रश्न को चित्त में धारण करके तीसरे सूत्र में इसका उत्तर देते हैं।

प्रश्न—यह सूत्र अत्यंत संदेहजनक है, क्योंकि चित्त का लक्षण लिखे बिना ही उसकी वृत्तियों के निरोध का वर्णन करना किसी रीति से युक्त नहीं है ?

उत्तर—प्रत्येक शास्त्र में दो प्रकार के संकेत और सिद्धान्त होते हैं। एक प्रतितन्त्र और दूसरा सर्वतन्त्र, यहां पर चित्त शब्द

ऐसा है जो लोकप्रसिद्ध है। अतएव उसका भिन्न लक्षण लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ जो अपने शास्त्रोपयोगिनी क्षिप्तादिक संज्ञा हैं उनके लक्षण लिखने परमावश्यक हैं।

अब यह विचारना भी आवश्यक है कि भगवान् पातंजलि ने शास्त्रारम्भ में योग का फल क्यों नहीं दिखाया? क्योंकि विना फल को जाने कदापि मनुष्यों की प्रवृत्ति नहीं होती?

इसका उत्तर यह है कि इस द्वितीय सूत्र में ही योग का फल लिख दिया है। अभिप्राय यह है कि विना प्राणों के निरोध के चित्तवृत्तियों का निरोध सर्वथा असम्भव है और जब श्वास के साथ वृत्तियों का निरोध होगा तो मनुष्य से पापाचरण भी नहीं हो सकता है, भगवान् मनु ने भी लिखा है :—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनांहि यथा मलाः।
तथा पुँसां प्रदह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

अर्थात् जैसे अग्नि में तपाने से धातुओं का मल नष्ट हो जाता है वैसे ही प्राणों के निरोध से मनुष्यों के पाप नाश होजाते हैं।

बुद्धिमानों ने समस्त प्राणियों के श्वास की संख्या आनुमानिक रीति से लिखी है जिसमें से मुख्य प्राणियों के श्वास की संख्या नीचे दिखाई जाती है :—

प्राणी	प्रति मिनट	आयु	वर्ष
शशक	३८	८	,,
कबूतर	३६	८	,,
वानर	३२	२१	,,
कुत्ता	२९	१४	,,
बकरा	२४	१३	,,

प्राणी	प्रति मिनट	आयु	वर्ष
बिलार	२५	१३	,,
घोड़ा	१६	५०	,,
मनुष्य	१३	१००	,,
हाथी	१२	१००	,,
सर्प	८	१२०	,,
कछुआ	५	१५०	,,

किन्तु यह श्वास संख्या स्वस्थ प्राणियों की है। रोगी और दुर्व्यसनी प्राणियों के श्वास की संख्या का कोई परिमाण नहीं है इसी से उनकी अवस्था का भी कोई परिमाण नियत नहीं होसकता है। श्वास ही के आश्रय से प्राणियों का जीवन है। उसी का निरोध करने से मनुष्य की आयु दूनी, तिगुनी, चौगुनी हो सकती है। महाराज भोज ने योगका लक्षण यह लिखा है कि चित्तवृत्तियों को बाह्यविषयों से हटाकर प्रतिलोम रीति से अन्तर्लीन करना योग कहलाता है। भगवान् व्यास ने अपने भाष्य में सब भूमियों का विवरण लिख दिया है। किन्तु पाठकगण को केवल नाम से बोध नहीं होसकता है इसलिए हम उन भूमियों का नाम और स्पष्टार्थ नीचे लिखे देते हैं :—

क्षिप्त—जिस अवस्था में मनुष्य का चित्त ऐसा चञ्चल रहता है जैसे वायु से दीपक अर्थात् किसी विषय में स्थिर नहीं होता उसे क्षिप्त अवस्था कहते हैं।

विक्षिप्त—अवस्था वह है जिसमें चित्त विषयों के सुख का अनुभव करता है अर्थात् जिस विषय की प्राप्ति के वास्ते प्रथम चित्त चञ्चल था उसको पाकर क्षणमात्र के लिये जो चित्त को स्थिरता प्राप्त होती है उसही को विक्षिप्त अवस्था कहते हैं।

मूढ़—जिस अवस्था में काम वा क्रोधादि के वशमें होकर

मनुष्य अपने कर्तव्य को भूल जाता है; उस तमोगुणाधिका भूमि को मूढ़ कहते हैं। कालीवर वेदान्त वागीश ने निद्रा को इस ही भूमिका में संयुक्त किया है। परन्तु वह सर्वथा असंगत है क्योंकि निद्रा को प्रमाण आदि ५ वृत्तियों में भगवान् सूत्रकार स्वयम् आगे लिखेंगे। जान पड़ता है कि वेदान्त वागीश जी भूमिका और वृत्तियों के भेद को नहीं समझे हैं। अन्यथा कभी निद्रा को मूढ़ न लिखते। यदि निद्रा को मूढ़ भूमि के अन्तर्गत मानें तो विपर्यय और विकल्प को एकाग्र के अन्तर्गत मानना पड़ेगा। एवम् स्मृति का सर्वथा अभाव माना है। अतएव कालीवर का लेख सर्वथा भ्रममूलक है [भूमिका और वृत्ति के भेद को वृत्तिवर्णन में लिखेंगे]।

एकाग्र--अवस्था वह है जिसमें चित्त किसी एक विषय में निश्चल जल वा निवात दीपक के समान स्थिर हो जाता है। अथवा जिस भूमिका में रजोगुण और तमोगुण के भाव विनष्ट के समान हो जावें और सत्त्वगुण के भाव ही चित्त में सञ्चार करें उस भूमिका का नाम एकाग्र है। यद्यपि रजो गुण आदि की ऐसी अवस्था को एकाग्र कह सकते हैं परन्तु रजोगुण में स्वयम् स्थिर स्वभाव नहीं है अतएव तद्विशिष्ट भूमिका को एकाग्र नहीं कह सकते हैं।

निरुद्ध-भूमिका वह है जिसमें चित्त निरवलम्ब हो के ईश्वर के चिन्तन में अर्थात् योगसमाधि में लय रहता है। ‼

भोज वृत्ति-चित्तस्य निर्म्मलसत्त्वपरिणामरूपस्य या वृत्तयोऽङ्गाङ्गिभावपरिणामरूपास्तासां निरोधो बहिर्मुखतया परिणतिविच्छेदादन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन स्वकारणे लयो योग इत्याख्यायते। स च निरोधः सर्वासां चित्तभूमीनां सर्वप्राणिनां धर्मः कदाचित् कस्यांचिद् भूमौ आविर्भवति। ताश्च क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तं एकाग्रं निरुद्धमिति चित्तस्य

भूमयः, चित्तस्यावस्था विशेषाः। तत्र क्षिप्तं रजस उद्रेकादस्थिरं बहिर्मुखतया सुखदुःखादिविषयेषु विकल्पितेषु व्यवहितेषु सन्निहितेषु वा रजसा प्रेरितं। तच्च सदैव दैत्यादानवादीनाम्। मूढं तमस उद्रेकात् कृत्याकृत्यविभागमन्तरेण क्रोधादिभिः विरुद्धकृत्येष्वेव नियमितम् तच्च सदैव रक्षः पिशाचादीनाम्। विक्षिप्तं तु सत्त्वोद्रेकाद्वैशिष्ट्येन परिहृत्य दुःखसाधनं सुखसाधनेष्वेव शब्दादिषु प्रवृत्तं। तच्च सदैव देवानाम्। एतदुक्तं भवति-रजसा प्रवृत्तिरूपं तमसा परापकारनियतं सत्त्वेन सुखमयं चित्तं भवति। एतास्तिस्रश्चित्तावस्थाः समाधावनुपयोगिन्यः। एकाग्रनिरुद्धरूपे द्वे च सत्त्वोत्कर्षात् यथोत्तरमवस्थितत्वात् समाधावुपयोगं भजेते। सत्त्वादिक्रमव्युत्क्रमे तु अयमभिप्रायः -द्वयोरपि रजस्तमसोरत्यन्त-हेयत्वेऽप्येतदर्थं रजसः प्रथममुपादानम्, यावन्न प्रवृत्तिर्दर्शिता तावन्निवृत्ति-र्न शक्यते दर्शयितुमिति द्वयोर्व्यत्ययेन प्रदर्शनम्। सत्त्वस्य तु एतद-र्थं पश्चात् प्रदर्शनं यत् तस्योत्कर्षेणोत्तरे द्वे भूमी योगोपयोगिन्याविति। अनयोर्द्वयोरेकाग्रनिरुद्धयोर्भूम्योर्यश्चित्तस्यैकाग्रतारूपः परिणामः स योग इत्युक्तं भवति। एकाग्रे बहिर्वृत्तिनिरोधः। निरुद्धे च सर्वासां वृत्तीनां संस्काराणां च प्रविलय इत्यनयोरेव भूम्योर्योगस्य सम्भवः॥ २॥

इदानीं सूत्रकारः चित्तवृत्तिनिरोधपदानि व्याख्यातुकामः प्रथमं चित्तपदं व्याचष्टे—

भोजवृत्ति भाष्य—मल रहित*शुद्ध परिणामरूप चित्त की जो वृत्ति अर्थात् अंगांगि भाव की दूसरी दशा (परिणाम)**उनके निरोध बहिर्मुख भाव (सांसारिक विषयों में लगी हुई) को रोक कर अन्त-र्मुखभाव में स्थिर करके उनके कारण अर्थात् चित्त ही में लय कर

---

* मलविक्षेपावरणरूपास्त्रयोदोषाश्चित्तचांचल्यकारिणस्तानव-रुध्यैव योगचिकीर्षा कार्येति सूचयन्नाह निर्मलसत्त्वपरिणामरूपस्येति।

** यत्रैकादशांगिनो तत्रान्यावयरूपत्वेनोपचरन्ति।

देना योग कहाता है । यह चित्तवृत्तियों का निरोध सब प्राणियों का एक स्वाभाविक गुण है। और वह सब भूमियों में होसकता है, परन्तु किसी अवस्था में वह निरोध प्रकाशित होजाता है और किसी में छिपे रूप से रहता है।

चित्त की पांच भूमि हैं, १–क्षिप्त, २–विक्षिप्त, ३–मूढ़, ४–एकाग्र, ५–निरुद्ध। यह चित्त की विशेष अवस्था हैं। इनमें से जो अवस्था रजोगुण की प्रधानता के कारण से सांसारिक विषयों में चित्त को फँसाये रखती है उसे क्षिप्त कहते हैं, यह भूमि दैत्य और दानवों को सदा प्राप्त रहती है। मूढ़ भूमि वह कहाती है जो तमोगुण की प्रधानता को धारण करके कर्तव्य और अकर्तव्य के विभाग को भुला देती है तथा क्रोधादिकों के वश में डाल कर चित्त को सदा बुरे कर्मों में ही फंसाये रखती है। यह भूमिका राक्षस और पिशाच लोगों को प्राप्त रहती है । विक्षिप्तावस्था वह है जिसमें सत्त्वगुण की अधिकता से विशेष रूप से दुःख के साधनों को दूर करके सुख के साधन शब्दादिकों ही में जो लगाये रहें उसे विक्षिप्त भूमि कहते हैं। फलितार्थ यह हुआ कि रजोगुण से सांसारिक विषयों में चित्त की प्रवृत्ति होती है। तमोगुण से दूसरों के अपकार करने में और सत्त्वगुण से सुखमय चित्त होता है। यह तीनों अवस्था समाधि में सहायक नहीं होती हैं। एकाग्र और निरुद्ध यह दोनों अवस्था निर्म्मल और अन्तिम होनेके कारणसे योगमें सहायक होती हैं। रजोगुण और सतोगुण तथा इनकी अवस्थाओं को त्यागना चाहिये (अथवा रजोगुण के कार्य सुख रूप जान पड़ते हैं और तमोगुण के कार्य परिश्रम रूप होने से दुःख रूप जाने जाते हैं)। इस हेतु से रजोगुण को प्रथम लिखा है। प्रवृत्ति के बिना दिखलाए निवृत्ति नहीं होसकती है इसलिये उनकी प्रवृत्ति को शास्त्रकारने दिखलाया है किन्तु योग की अत्यन्त सहायक होने के कारण सत्वगुण की प्रवृत्ति दिखलानी तो बहुतही आवश्यक थी। एकाग्र और निरुद्धा-वस्थाओं में जो चित्त का एकाग्रता रूपी परिणाम होता है उसे ही योग

कहते हैं क्योंकि चित्त के एकाग्र होने ही से बाहर की वृत्ति रुक जाती है एवम् वृत्तियों के रुकने से सब वृत्ति और संस्कारों का लय होजाता है इस में निरुद्ध और एकाग्र भूमि ही में योग होसकता है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

सूत्र का पदार्थ-(तदा) उस समय (द्रष्टुः) देखने वालेकी--निर्विकल्प समाधिस्थ जीवकी (स्वरूपे) आत्मचिन्तन में (अवस्थानम्) अवस्थिति ॥

सूत्र का भावार्थ-जब चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध होजाता है तब समाधिस्थ होकर जीवात्मा केवल अपने रूप को ही देखता है और उसही का विचार करता है (यह दशा निर्विकल्प समाधि में होती है)।

भाष्यम्-स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये। व्युत्थानचित्ते तु सति तथाऽपि भवन्ति न तथा ॥ कथंतर्हि दर्शितविषयत्वात् ॥ ३ ॥

भाष्य का पदार्थ--अपने स्वरूप में स्थित वा अपने स्वरूप का विचार। तब ज्ञान शक्ति जैसे कैवल्य मुक्ति में उत्थान सहित चित्त होने पर भी तो भी होते हैं वैसे नहीं तो फिर कैसे देखे हुये विषयों के कारण से ॥

भाष्य का भावार्थ--जब असम्प्रज्ञात योग में चित्त की स्थिति होजाती है तब जीव केवल अपने स्वरूप का विचार और दर्शन करता है ॥ जैसे कैवल्य *।

मोक्ष में ज्ञान शक्ति रहती है ऐसे निर्विकल्प समाधि में भी वह ज्ञानशक्ति रहती है उस शक्ति का साफल्य तभी होता है जब किसी ज्ञेय पदार्थ से सम्बन्ध हो तब उस निर्विकल्प समाधि में

---

* कैवल्य का लक्षण कैवल्य पाद में वर्णन करेंगे ॥

ज्ञेय विषय क्या है ? इसका उत्तर यही है कि उस असम्प्रज्ञात योग में केवल अपना स्वरूप ही ज्ञेय है क्योंकि जब तक द्रष्टा बाह्य विषयों को देखता है तबतक वह अपने स्वरूप को नहीं जान सकता ॥ ३ ॥

भोज वृत्ति—द्रष्टुः पुरुषस्य तस्मिन्काले स्वरूपे चिन्मात्रतायामवस्थानं स्थितिर्भवति । अयमर्थः–उत्पन्नविवेकख्याते संक्रमाभावात् कर्तृत्वाभिमाननिवृत्तौ प्रोन्मुक्तपरिणामायां बुद्धौ च आत्मनः स्वरूपेणावस्थानं स्थितिर्भवति॥२॥व्युत्थानदशायांतु तस्य किं रूपम् ? इत्याह॥३॥

भोजवृत्ति भाष्य—अब सूत्रकार चित्त की वृत्तियों के विवरण को लिखने की इच्छा से प्रथम चित्त का विवरण लिखते हैं ।

द्रष्टा अर्थात् पुरुष को उस समय में स्वरूप अर्थात् चिन्मात्रतामें अवस्थान अर्थात् स्थिति होती है, फलितार्थ यह है कि जब कि ज्ञान उत्पन्न होता है तब चित्त चञ्चलता रहित होकर कर्तृत्व के अभिमान को त्याग देता है । अभिमान के निवृत्त होनेपर चञ्चलता रहित बुद्धि में जीव की स्थिति होती है ॥ १ ॥

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

सूत्र का पदार्थ—(वृत्तिसारूप्यम्) वृत्तियों से अभेद (इतरत्र) और अवस्थाओं में ॥ ४ ॥

सूत्र का भावार्थ–निरुद्धावस्था के अतिरिक्त और दशाओं में चित्त वृत्ति के रूप को धारण कर लेता है ॥

व्यास भाष्य—व्युत्थाने याः चित्तवृत्तयः तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः। तथा च सूत्रम्–'एकमेवदर्शनं ख्यातिरेव दर्शनमिति।'चित्तमयस्कान्तमणिकल्पंसन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेनस्वम्भवति पुरुषस्य स्वामिनः।तस्माच्चित्तवृत्तिबोधे पुरुषस्यानादिःसम्बन्धो हेतुः॥४॥ ताः पुनर्निरोद्धव्या बहुत्वे सति चित्तस्य ।

विशेष--(प्रश्न) इस सूत्र और भाष्य में यह शङ्का होती है कि द्रष्टा अपने स्वरूपको आपही नहीं देख सकता। जैसे नेत्र अन्य पदार्थों को देख सकते हैं अपने रूपको नहीं। इसीप्रकार से जीवात्मा भी अपने स्वरूपको देखने में असमर्थ है ॥ ४ ॥

(उत्तर)–यह ठीक है परन्तु देखने में नेत्र परतंत्र हैं क्योंकि नेत्र द्वारा सब पदार्थों का द्रष्टा जीव है। बस जीवात्मामें दो प्रकार की दर्शन शक्ति होती है। एक स्थूल दूसरी सूक्ष्म सूक्ष्मदृष्टिको ही दिव्यदृष्टि भी कहते हैं। जीवात्मा दर्शन में अत्यन्त सहायक नेत्र से पदार्थान्तरोंको देखता है और दिव्य दृष्टि अर्थात् सूक्ष्मदृष्टि से सूक्ष्म परमाणु आदि पदार्थ तथा अपने रूपको भी देखता है। क्योंकि परमेश्वर भी स्थूल दृष्टि को अदृश्य है और कठवल्ली उपनिषद् में बहुत स्थलों पर लिखा है कि "तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः" अर्थात् उस परमेश्वर को धीर लोग देखते हैं। इस से सिद्ध हुआ कि सूक्ष्म दृष्टि से सूक्ष्म पदार्थ और स्थूल दृष्टि से स्थूल पदार्थ देखे जाते हैं और जो नेत्र का दृष्टान्त है वह ठीक नहीं क्योंकि दर्पण में नेत्र अपने स्वरूप को आप देख सकता है। बस ऐसे ही योग के आश्रय से जीवात्मा भी अपने स्वरूप को देख सकता है इस में कोई आपत्ति नहीं ॥ ४ ॥

भाष्य का पदार्थ–चित्त की चपलता में जो चित्तकी वृत्ति हैं उनसे भिन्न जीवत्मा है ऐसा ही सूत्र में लिखा है। एक जीवात्मा ही देखने का साधन(विचार ही देखना)है। चित्त स्फटिकमणि के समान है। समीप में स्थित दृश्य पदार्थों के समान आप भी हो जाता है जीवात्मा का इसलिये चित्त की वृत्तियों के ज्ञान में आत्मा का सदा का संसर्ग कारण है ॥ ४ ॥ वे चित्त की वृत्तियां रोकने योग्य हैं चित्त की अनेक वृत्ति होने से।

भाष्य का भावार्थ– चित्त की चपलता से जो अनेक वृत्तियां उठती हैं उन सब से आत्मा प्रथक रहता है और जीव में सुखी

वा दुःखी हूँ ऐसे कथन से आत्मा में वृत्तियों का सम्बन्ध भान होता है। वह भ्रमजन्य है जैसे स्फटिक पत्थर अपने समीप में रक्खे पदार्थ के समान रंग वाला दीखने लगता है। वस्तुतः उस स्फटिक में कोई भी रंग नहीं रहता है ऐसे ही आत्मा भी शुद्ध है। परन्तु वृत्तियों के स्वस्वामीभाव सम्बन्धसे आत्मामें सुख दुःखादि प्रतीत होते हैं। चित्त वृत्तियों के द्वारा जो ज्ञान होता है उसमें ज्ञान स्वरूप आत्माका अनादि सम्बन्ध ही कारण है मनुष्य को उचित है कि चित्त की वृत्तियों को रोके क्योंकि चित्त की अनेक वृत्ति रहने से अगले सूत्र में लिखी वृत्तियां दुःखदायनी होती हैं।

विशेषार्थ-भगवान् पतञ्जलि ने तीसरे सूत्र में कहा कि सम्प्रज्ञात योग में जीव केवल अपने स्वरूप को देखता है परन्तु इस में शङ्का होती है कि इस निरुद्धावस्था में योगी की दशा और मनुष्यों के समान रहती है वा कुछ विलक्षण होजाती है।

(उत्तर) वृत्तिसारूप्यमितरत्र 'इतरस्याँ वृत्तौ' अन्य अवस्थाओं में अर्थात् निरुद्धावस्था के अतिरिक्त योगी की दशा अन्य मनुष्यों की वृत्ति से कुछ विलक्षण ही होजाती है ॥ ४ ॥

दूंसरा अर्थ-निरुद्धावस्था के अतिरिक्त क्षिप्तादि अवस्थाओं में जीवात्मा दृश्य पदार्थ के रूप को धारण करलेता है अर्थात् जब जीवात्मा किसी वस्तु के जानने की इच्छा करता है तब नेत्रादि इन्द्रिय द्वारा जीव की वृत्ति बाहर निकल कर दृश्य वस्तु के रूप में परिणत हो (बदल) जाती है और फिर वह पदार्थ के रूप में परिणत हुई वृत्ति जिस इन्द्रिय द्वारा बाहर आयी थी उस ही मार्ग द्वारा अन्तःकरण में प्रवेश कर जाती है। पश्चात् जीव और उस वृत्ति के योग होने से जीव को ज्ञेय पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होता है। वृत्ति और वृत्तिमान् का समवाय सम्बन्ध होने से जीव ही वृत्तिरूप कहा जाता है। इस अर्थमें पूर्वसूत्र से 'द्रष्टुः' पदकी अनुवृत्ति आती है। कोई २ आचार्य पूर्वसूत्र स्थित षष्ठयन्त

'द्रष्टुः'शब्द से सर्वद्रष्टा परमेश्वरको ग्रहण करते हैं । स्वरूप शब्द को योगरूढ़ी मान कर यह अर्थ करते हैं कि 'जब जब जीव निरुद्धावस्था में स्थित होता है तब परमेश्वर के रूप में स्थिति को लाभ करता है।' और कोई पण्डित 'द्रष्टुः' शब्द की उत्तरसूत्र में अनुवृत्ति समझ कर तद्वाच्य जीव को मानते हैं ॥ ४ ॥

भोज वृत्ति–इतरत्र योगादन्यस्मिन् काले वृत्तयो या वक्ष्यमाण-लक्षणास्ताभिः सारूप्यं तद्रूपत्वम् । अयमर्थः- यादृश्यो वृत्तयो दुःख-मोहसुखाद्यात्मिकाः प्रादुर्भवन्ति तादृग्रूप एव संवेद्यते व्यवहर्तृभिः पुरुषः तदेवं यस्मिन्नेकाग्रतया परिणते विविक्तः स्वस्मिन् रूपे प्रतिष्ठितो भवति । यस्मिंश्चेन्द्रिय वृत्तिद्वारेण विषयाकारेण परिणते पुरुष स्तदाकार एवं परिभाव्यते यथा जलतरङ्गेषु चलत्सु चन्द्रश्चलन्निव प्रतिभासते तच्चित्तम् ॥ ४ ॥ वृत्तिपदं व्याख्यातुमाह

व्युत्थान दशा में जीव को कैसा रूप रहता है उसका अगले सूत्र में वर्णन करते हैं ।

भाष्य—अन्यत्र अर्थात् योग करने के काल से भिन्न समय में जो वृत्ति आगे कही जावेंगी उनके रूपके समान ही रहता है। फलितार्थ यह है कि जैसी सुख दुःख वा मोह रूपी वृत्ति उत्पन्न होती है वैसे ही पुरुष की भी प्रतीत होती है इससे चित्त एकाग्र अवस्था को धारण करता है तब ज्ञानशक्ति में उसकी स्थिति होती है और जब इन्द्रियों के द्वारा विषय वृत्तियों को धारण करता है तब चित्त विषयाकार ही जान पड़ता है जैसे चलती हुई जलकी तरङ्गों में चन्द्रमा भी चलता हुआ जान पड़ता है ॥ ४ ॥

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥५॥*

पदार्थ–(वृत्तयः) वृत्तियां चित्तके परिणाम विशेष (पञ्चतय्यः) पांचों (क्लिष्टा) दुखित हों मनुष्य जिनसे वे

* वि० ताश्च क्लिष्टाक्लिष्ट भेदाभ्यां द्विधा प्रमाणादिभेदैश्च पञ्चधा ।

क्लिष्ट कहलाती हैं (अक्लिष्टाः) सुखी हों मनुष्य जिनसे ॥ ५ ॥

भावार्थ—(अगले सूत्र में लिखी हुई ५ वृत्तियां) दुःख और सुख की देने वाली होती हैं ॥ ५ ॥

व्यासदेवकृत भाष्य—क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचये क्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः । ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टाः । क्लिष्ट प्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः । क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति । तथा जातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते । संस्कारैश्च वृत्तय इति । एवं वृत्ति संस्कारचक्रमनिशमावर्तते । तदेवंभूतं चित्तमवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलयं वा गच्छतीति । ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तयः ॥ ५ ॥

पदार्थ—क्लेश अर्थात् दुःख का कारण कर्म अर्थात् विहित और निषिद्ध चेष्टाजन्य प्रारब्धादि शब्दवाच्य का जो आशय अर्थात् फल उसके प्रचय अर्थात् उत्पत्ति में खेत के समान ख्याति अर्थात् आत्मख्याति वा आत्मविचार सत् रज तम गुणों के अधिकार की विरोधिनी अर्थात् उनसे रहित अक्लिष्ट कहलाती हैं दुःख प्रवाह में पतित अर्थात् प्राप्त हुई भी अक्लिष्ट वृत्तियां होती हैं । सुखप्रद कर्म में दुःखप्रद* होती हैं उन वृत्तियों के समान संस्कार अर्थात् क्लिष्ट से क्लेश और अक्लिष्ट से सुखप्रद संस्कार वृत्तियों के द्वारा होते हैं और संस्कारों

---

* यदि मनुष्य को केवल सुख ही सुख रहे और कभी दुःख न हो तो वह उस सुख के स्वाद को नहीं जान सकता इसलिये यह लक्षण भी उत्तम है ।

से वृत्तियां उत्पन्न होती हैं इस प्रकार से वृत्ति और संस्कारों का चक्र रात दिन चलता रहता है। वह ऐसा चित्त अर्थात क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्ति तथा संस्कारों में ग्रस्त चित्त अस्त हो गये हैं अधिकार जिसके अपने स्वरूप से स्थिर रहता है अथवा लय हो जाता है। क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों प्रकार की वृत्तियां ५ प्रकार की हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—क्लिष्ट का अर्थ यह है कि क्लेश अर्थात् आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों का हेतु अथवा जिस वृत्ति में संचित क्रियमाण और प्रारब्धरूप कर्मफल उत्पन्न होते हैं उसे क्लिष्ट वृत्ति कहते हैं और जिसमें केवल आत्मख्याति अर्थात् सांसारिक विषयों से विरक्तिपूर्वक ईश्वर का विचार होता है एवं जो वृत्ति गुणाधिकार अर्थात सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण के संसर्ग रहित हो वह अक्लिष्ट कहाती है यद्वा जो वृत्ति दुःख-प्रवाह के वेग को रोक करके प्रकट होती है उसे क्लिष्ट कहते हैं अथवा जो दुःखस्थल से उत्पन्न हो वह क्लिष्ट और जो सुखस्थल में उत्पन्न हो वह अक्लिष्ट। जो जैसी वृत्ति होती है उससे वैसा ही संस्कार उत्पन्न होता है और पुनः वह संस्कार उसी वृत्ति को उत्पन्न करता है। इस प्रकार से यह वृत्ति-संस्कार-चक्र रात दिन चलता है और चित्त भी इसी ही चक्र के अनुसार चंचल रहता है। यदि विवेक वैराग्यादि अक्लिष्ट वृत्ति और संस्कार में चित्त स्थित हो जाता है तो अत्यानन्द मोक्ष सुख को प्राप्त होता है और यदि काम क्रोध, लोभ मोहादि क्लिष्ट वृत्तियों को ग्रहण कर लेता है तो महा दुःख स्वरूप प्रलय को प्राप्त हो जाता है।

विशेष—यदि कोई प्रश्न करे कि दृश्य पदार्थ असंख्य हैं उनके योग से चित्त में वृत्तियां उत्पन्न होती हैं तो वृत्तियां भी

असंख्य होनी चाहियें । फिर सूत्रकार ने दो वा ५ वृत्ति कैसे लिखी हैं तो इसका यह उत्तर है कि वृत्ति तो असंख्य ही हैं परन्तु उनके भेद ५ हैं जिस प्रकार प्राचीन आर्य्यावर्त निवासी करोड़ों मनुष्य हैं परन्तु उनके मुख्य ४ भेद हैं – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ।

भो० वृ० —वृत्तियश्चित्तस्य परिणामविशेषाः । वृत्तिसमुदायलक्षणस्य अवयविनो या अवयवभूता वृत्तयस्तदपेक्षया तयप्प्रत्ययः । एतदुक्तं भवति-पंचवृत्तयः । कीदृश्यः ? क्लिष्टा अक्लिष्टाः क्लेशैर्वक्ष्यमाणलक्षणैराक्रान्ताः क्लिष्टाः तद्विपरीता अक्लिष्टाः ॥ ५ ॥
एताएव पंचवृत्तयः संक्षिप्य उद्दिश्यन्ते ।

भाष्य—वृत्ति चित्त के विशेष परिणाम हैं । सामान्य लक्षण युक्त वृत्ति अवयवी और अन्य विशेष लक्षण वाली वृत्ति अवयव हैं इस बात को जतलाने के वास्ते तैयार किया गया है ।* वह वृत्ति कैसी हैं ? आगे लिखे लक्षण युक्त क्लेशों के सहित क्लिष्ट और उनसे विपरीत अक्लिष्ट ॥ ५ ॥

इन्हीं पांच वृत्तियों का विशेष वर्णन आगे लिखते हैं ।

प्रमाणविपर्य्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

सूत्र का पदार्थ—[प्रमाण] यथार्थ ज्ञान का साधन, मिथ्याज्ञान, ज्ञेयशून्य जिसका कल्पित नाम हो परन्तु वस्तु कुछ न हो जैसे 'खपुष्पम्' नरशृङ्ग [निद्रा] सोना [स्मृतिः] पूर्वश्रुत वा दृष्ट पदार्थ का स्मरण करना ।

---

* संख्यावयवेषुतयवित्यनुशासनेन तयपविहितोर्थस्त्वमेव वक्ष्यमाणलक्षणाः पंचैववृत्तयोऽवयवा यासान्ताः पंचतय्यः वस्तुतस्त्वोसांद्वैविधमेव क्लिष्टाक्लिष्टभेदात् केचित्वेकस्यावृत्तेर्द्वैविध्यमामनन्ति ।

भावार्थ—पूर्व सूत्र में कही हुई पांच वृत्तियों के यह नाम हैं, १-प्रमाण, २-विपर्य्यय वृत्ति, ३-विकल्प वृत्ति, ४-निद्रा वृत्ति, ५-स्मृति वृत्ति।

महर्षि व्यासदेव ने इस सूत्र का सरल समझ कुछ भाष्य नहीं किया।

भो० वृ०—आसां क्रमेण लक्षणमाह ॥ ६ ॥

क्रम से इनका लक्षण कहते हैं ॥ ६ ॥

तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

सूत्र का पदार्थ—(तत्र) पांच वृत्तियों में (प्रत्यक्षानुमानागमाः) प्रत्यक्ष अनुमान और आगम (प्रमाणानि) प्रमाण वृत्ति कहलाते हैं ॥ ७ ॥

सूत्र का भावार्थ—पूर्वोक्त पांच वृत्तियों में से प्रमाण वृत्ति तीन प्रकार की हैं १-प्रत्यक्ष, २-अनुमान, ३-आगम ॥ ७ ॥

व्या० कृ० भा०—इन्द्रिय प्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्य विशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारण प्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणं। फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः। प्रति-संवेदीपुरुष इत्युपरिष्टादुपपादयिष्यामः। अनुमेयस्य तुल्य जातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धोयस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्। यथा देशान्तर प्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत्, विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः। आप्तेन दृष्टोऽनुमितोवाऽर्थः परत्र स्वबोध संक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात्तदर्थ विषयावृत्तिः श्रोतुरागमः यस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते। मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवःस्यात् ॥ ७ ॥

पदार्थ—ज्ञान इन्द्रियों के मार्ग से बाह्य अर्थात् सांसारिक पदार्थों की प्रीति से उसके लिये सामान्य अथवा विशेष पदार्थ और चित्त के सम्बन्ध को अच्छी प्रकार से जो निश्चयात्मक निर्णय करना है वह मुख्य वृत्ति प्रत्यक्ष कहलाती है जिस वस्तु का अनुमान किया जाता है उसे अनुमेय कहते हैं उस अनुमेय को एक जाति वाले पदार्थों में युक्त करने वाला भिन्न जाति वाले पदार्थों से पृथक् करने वाला जो सम्बन्ध है उस सम्बन्ध का जिस वृत्ति के द्वारा सामान्य रीति से विचार किया जाय उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। जैसे देशान्तर अर्थात् एक स्थल से दूसरे स्थल में चले जाने के कारण चन्द्रमा तथा समस्त तारादि लोक चलने वाले हैं चैत्र नामक पुरुष के समान विन्ध्य नामक पर्वत की अन्य देशों में अप्राप्ति है इसलिये वह गमनक्रियारहित है। आप्त अर्थात् सत्यवक्ता धर्म तत्ववेत्ता और सत्वोपदेष्टा पुरुष ने जिस विषय को देखा वा जिसका अनुमान किया है दूसरे मनुष्य में निज ज्ञान के प्रदान के लिये शब्द द्वारा जो उपदेश किया जाता है वह आगम वृत्ति कहलाती है ॥ ७ ॥

भावार्थ—पूर्व सूत्र में कही हुई प्रमाण वृत्ति तीन प्रकार की है—१-प्रत्यक्ष, २-अनुमान, ३-आगम जिसमें इन्द्रिय द्वारा चित्त की वृत्ति बाहर निकलकर बाह्य वस्तुओं से संयोग करके आत्मा को उस पदार्थ का ज्ञान कराती हैं उसका नाम प्रत्यक्ष प्रमाण है। अनुमेय (जिसका अनुमान किया जाता है) पदार्थ को समान गति वालों में मिलने वाले और भिन्न जातीय पदार्थों से पृथक करने वाले सम्बन्ध को प्रकाश करने वाली प्रधान वृत्ति को अनुमान कहते हैं, चन्द्र और तारे आदि चलते हैं। क्योंकि एक स्थल से दूसरे स्थल पर जाना बिना चलने के सिद्ध नहीं हो सकता। इससे चैत्र नाम पुरुष के समान सूर्य्यादि सब लोक चलते

हैं। एवं विन्ध्याचल गतिशून्य है क्योंकि सदा एक ही स्थल में रहता है। आप्त अर्थात् धर्म्माधर्म्म तथा सत्य के विवेक सज्जन महर्षि जो अच्छी प्रकार से देखकर वा अनुमान करके परोपकार के निमित्त उपदेश करते हैं उसका नाम आगम प्रमाण है ॥ ७ ॥

सप्तम सूत्रस्थ प्रमाण वृत्ति के यद्यपि अन्य शास्त्रकारों ने ८,४ वा ५ भेद माने हैं परन्तु वह सब इन तीन ही के अंतर्गत हो जाते हैं। उपमान का प्रथम भाग शब्द प्रमाण में अन्तर्भूत हो जाता है और शेष भाग अनुमान प्रमाण से चरितार्थ होता है परन्तु उपमान का शेष भाग स्थिति के अन्तर्गत होने योग्य है क्योंकि उपमान वास्तव में कोई प्रमाण नहीं है। इसी ही रीति से अर्थापत्ति आदि प्रमाण भी इन्हीं के अन्तर्गत हो जाते हैं, अन्य शास्त्रों ने प्रत्यक्षादिकों के लक्षण विस्तारपूर्वक लिखे हैं और वह लक्षण योगाभ्यास में कुछ भी उपयोगी नहीं हैं अतएव उनको इस शास्त्र में लिखना व्यर्थ समझकर भगवान् पतञ्जलि ने केवल भेद ही लिख दिये हैं। प्रमाण के यद्यपि बहुत से लक्षण हो सकते हैं परन्तु सामान्य रीति से यह लक्षण अच्छा जान पड़ता है कि "सामान्यतोर्थ प्रतिपत्तौ हेतुना विशेषावधारणम्प्रमाणम् ।" यद्वा "अविसम्वादिज्ञानं प्रमाणम्" इस वर्णन से प्रमेय और प्रमाता की त्रिपुटी को भी समझ लेना चाहिये ॥ ७ ॥

भो० वृ०--अत्र अतिप्रसिद्धत्वात् प्रमाणानां शास्त्रकारेण भेदलक्षणेनैव गतत्वात् लक्षणस्य पृथक् लक्षणं न कृतम्। प्रमाणलक्षणंतु अविसंवादिज्ञानं प्रमाणमिति इन्द्रियद्वारेण बाह्यवस्तुपरागाच्चित्तस्य तद्विषयसामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधानावृत्तिः प्रत्यक्षम्। संगृहीतसम्बन्धात् लिङ्गात् लिङ्गिनि सामान्यात्मनाऽध्यवसायोऽनुमानम्। आप्तवचनमागमः ॥ ७ ॥ एवं प्रमाणरूपां वृत्तिं व्याख्याय विपर्य्ययरूपमाह।

भाष्य--प्रमाण अत्यन्त प्रसिद्ध हैं तथा शब्द शास्त्र की रीति से व्युत्पत्ति द्वारा ही उनके लक्षण सिद्ध होते हैं। अतएव उनके भिन्न लक्षण नहीं लिखें। प्रमाण का लक्षण तो इतना ही ठीक है कि जो कि संवाद अर्थात् विवाद रहित हो वह प्रमाण कहलाता है।* ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाह्य पदार्थों के ग्रहण से चित्त को सामान्य ज्ञान के पश्चात् जो विशेष ज्ञान प्राप्त करने की प्रधानवृत्ति है उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं, जिस अंग के प्रत्यक्ष होने से अंगों का जो विशेष निश्चय किया जाता है उसे अनुमान कहते हैं, आप्त के वचन को आगम प्रमाण कहते हैं॥ ७॥

इस प्रकार से प्रमाण वृत्ति के भेदों को कहकर अगले सूत्र में विपर्य्यय वृत्तिका वर्णन करते हैं। ७॥

विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्॥ ८॥

पदार्थ--(विपर्य्ययः) "जो पदार्थ के सत्यरूप को छिपा दे उसे विपर्य्यय कहते हैं [मिथ्याज्ञानम्] झूठा ज्ञान [अतद्रूपप्रतिष्ठम्] जिसके द्वारा पदार्थ अपने पारमार्थिक रूप से भिन्न रूप में भान हो॥ ८॥

भावार्थ--मिथ्याज्ञान अर्थात् जिससे पदार्थ का पारमार्थिक रूप न भान हो उसे विपर्य्ययवृत्ति कहते हैं॥ ८॥

विशेष--अनुमान में ४ पदार्थ आवश्यक होते हैं पक्ष, साध्य हेतु और उदाहरण। जो विश्वनाथ भट्टाचार्य ने अपने सिद्धान्त मुक्तावल्यादि ग्रन्थों में पंचावयव वाक्य को अनुमान माना है वह केवल हठमात्र है क्योंकि हेतु से पृथक् कोई पदार्थ व्याप्ति नहीं हो सकती॥८॥

---

* प्रमाजन्य ज्ञानम्प्रमाणम् प्रमाच अबाधितार्थावगाही बोधः आत्मेन्द्रियार्थान्वयादुत्पद्यमानम् परिणामिज्ञानं प्रत्यक्षम्।

व्या० भा०--स कस्मान्न प्रमाणम् । यतः प्रमाणेन सिद्ध बाध्यते । भूतार्थविषयत्वात् प्रमाणस्य । तत्र प्रमाणेन बाधनमप्रमाणस्यदृष्टम् तद्यथा--द्विचन्द्रदर्शनं सद्विषयेणैकचन्द्रदर्शनेन बाध्यते। सेयं पञ्चपर्वा भवत्यविद्या-अविद्यास्मिता राग द्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा इति । एतएव स्वसंज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामि स्रोऽन्धतामिस्र इति । एते चित्तमलप्रसंगेनाभिधास्यन्ते ॥८॥

पदार्थ--वह किस कारण से प्रमाण नहीं है, प्रमाण से खंडित हो जाता है। प्रमाण के भूतार्थ विषयक होने से उक्त तीनों प्रमाणों मे प्रमाण द्वारा खंडन होना अप्रमाण का देखा गया है। जैसे दो चन्द्रमाओं का देखना, एक ही चन्द्रमा के देखने से खण्डित हो जाता है वही विपर्ययपां चभेदवाली अविद्या है। पांच भेद यह हैं अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। यही अविद्या के पांच भेद अपने नामों के अनुसार तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र कहलाते हैं। ये चित्तके मल वर्णन के प्रसंग में कहे जायेंगे।

भाष्य का भा०—वह विपर्य्यय ज्ञान प्रमाण नहीं है क्योंकि प्रमाण से खंडित हो जाता है। प्रमाण से अप्रमाण का खण्डन हो जाना अन्यत्र भी देखा गया है जैसे दो चंद्रमा का दर्शन प्रत्यक्ष एक चंद्रमा के दर्शन से खण्डन होता है। इस विपर्य्यय को ही अविद्या कहते हैं और उसके पांच भेद हैं अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन्हीं पांचों के दूसरे नाम तम, मोह, महामोह, तामिस्र व अन्धता है इनका विशेष वर्णन चित्त मल के प्रसंग में किया जायगा ॥ ८ ॥

प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञानेन्द्रियों के भेद से पांच प्रकार का है १-चाक्षुष प्र०, २-श्रावण प्रत्यक्ष, ३-रासन प्र०, ४-घ्राणज प्र० और त्वाच प्र०।

८ सूत्र विशेष—योग में चित्त वृत्तियों का निरोध ही मुख्य है अतएव क्रम से उनका वर्णन करना ही आवश्यक है; प्रथम प्रमाणवृत्ति का वर्णन करके अब विपर्य्यय का लक्षण कहते हैं। विपर्य्यय का सामान्य

लक्षण यह है "अतथाभूतेऽर्थे तथोत्पद्यमानं ज्ञानं विपर्य्ययः" जैसे सीप में चांदी का ज्ञान वा जीव में ब्रह्म ज्ञान, यह वृत्ति प्रमाण नहीं है क्योंकि प्रमाण से इसका खण्डन हो जाता है ॥ ८ ॥

भोज वृत्ति—अतथाभूतेऽर्थे तथोत्पद्यमानं ज्ञानं विपर्य्ययः। यथा शुक्तिकायां रजतज्ञानम्। अतद्रूपप्रतिष्ठमिति। तस्यार्थस्य यद्रूपं तस्मिन् रूपे न प्रतितिष्ठति तस्यार्थस्य यत् पारमार्थिकं रूपं न तत् प्रतिभासयतीति यावत्। संशयोऽप्यतद्रूपप्रतिष्ठत्वान्मिथ्याज्ञानं। यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वा इति ॥ ८ ॥ विकल्पवृत्तिं व्याख्यातुमाह।

भो० वृत्ति भा०—जो वस्तु जैसी नहीं है उसमें से उस ज्ञान की उत्पत्ति को विपर्य्यय कहते हैं अर्थात् वस्तु के असल रूप से उल्टे ज्ञान होने को विपर्य्यय कहते हैं जैसे सीप में चांदी का ज्ञान। अतद्रूपप्रतिष्ठ का अर्थ यह है कि जिस पदार्थ का जो वास्तविक रूप है उस का ज्ञान न होने दे। संशय भी पदार्थ के सच्चे रूप को नहीं जानने देता है इस कारण से वह भी मिथ्या ज्ञान है जैसे यह खम्भा है वा पुरुष है ॥ ८ ॥ अगले सूत्र में विकल्प वृत्ति का वर्णन करेंगे।

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥९॥

सूत्र का पदार्थ—[शब्दज्ञानानुपाती] अर्थात् शब्द ज्ञान मात्र ही जिसमें सार है [वस्तुशून्याः] जिसमें ज्ञेय पदार्थ कुछ न हो [विकल्पः] उसे विकल्प कहते हैं ॥९॥

सूत्र का भावार्थ—शब्द मात्र से जिसका भान होता है परन्तु जिसमें ज्ञेय पदार्थ कुछ भी न हो जैसे "वन्ध्या पुत्रो याति" बांझ का लड़का जाता है। इस वचन से मालूम होता है कि कोई पुरुष जाता है परन्तु यथार्थ में वन्ध्या का पुत्र नहीं हो सकता और जिसके पुत्र होगा वह वन्ध्या नहीं हो सकती इसलिये क्रिया आधार बिना रह नहीं सकती ॥९

व्या० भा०—स न प्रमाणोपारोही। न विपर्ययोपारोही च। वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते। तद्यथा-चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति। यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते। भवति च व्यपदेशे वृत्तिः। यथा चैत्रस्य गौरिति। तथा प्रतिषिद्धवस्तुधर्मो निष्क्रियः पुरुषः, तिष्ठति बाणः स्थास्यति स्थित इति, गतिनिवृत्तौ धात्वर्थमात्रं गम्यते। तथाऽनुत्पत्ति-धर्मा पुरुष इति उत्पत्तिधर्म्मस्याभावमात्रमवगम्यते न पुरुषा-न्वयी धर्म्मः तस्माद्विकल्पितः स धर्म्मस्तेन चास्ति व्यवहार इति ॥६

व्यास भा० का पदार्थ—वह विकल्प न प्रमाण ज्ञान और न विपर्य्यय ज्ञान है अर्थात् संशयात्मक ज्ञान है। ज्ञेय पदार्थ न रहने पर भी केवल शब्द ज्ञान के प्रभाव से जिसमें व्यवहार प्रयोग होता है जैसे चेतनता पुरुष अर्थात् आत्मा का स्वरूप है जब ज्ञान ही पुरुष है तब कौनसा पदार्थ किसके द्वारा मुख्य व्यवहार किया जाता है। व्यपदेश अर्थात् मुख्य व्यवहार में वृत्ति ही निश्चित है जैसे चैत्र नामक पुरुष की गऊ है तैसे ही निवारित वस्तु अर्थात् अल्पव्यापक वस्तुओं के गुण से भिन्न गुण वाला क्रियारहित आत्मा है। बाण रक्खा है, रक्खा जायगा रक्खा था, गमनरहित होने में धातु का केवल अर्थ ही समझा जाता है। ऐसे ही जन्म लेने के गुण से रहित आत्मा है। केवल उत्पत्ति का अभाव ही समझा जाता है। आत्मा के सब गुण नहीं समझे जाते हैं। इससे यह गुण अर्थात् आत्मा की उत्पत्ति मिथ्या हुई। इससे उत्पत्ति रहित है ऐसा ध्यानादि व्यवहार करना उचित है ॥ ६ ॥

भा० का भावार्थ—यह विकल्प वृत्ति भी प्रमाण अर्थात् यथार्थ ज्ञान का साधन नहीं है क्योंकि मिथ्याज्ञान और भ्रम उत्पन्न करने वाली यह वृत्ति है और इस वृत्ति में केवल शब्द का ही चातुर्य है; जैसे आत्मा का स्वभाव चैतन्य है, इस शब्द को सुनकर कोई कहे कि ज्ञान से भिन्न आत्मा कोई नहीं है और वह ज्ञान जीव का गुण है। बस
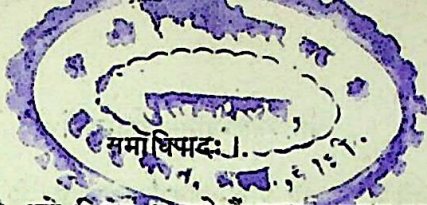
ईश्वर असिद्ध है इसे विकल्प कहते हैं परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है उक्त वचन का अभिप्राय यह है कि चैतन्य वृत्ति वाला आत्मा है अर्थात् जड़ प्रकृति से भिन्न है यहां पुरुष और चेतनता का वृत्ति और वृत्तिमान होने से स्व–स्वामीभाव सम्बन्ध है। कहीं २ कालभेद से क्रिया की एकता में विकल्प होता है जैसे बाण रक्खा है बाण रखा जायगा बाण रक्खा था इन वाक्यों में केवल कालकृत विकल्प है परन्तु वक्ता का अभिप्राय केवल धात्वर्थ से है ॥९॥

विशेष––इस वृत्ति में पूर्व से यही भेद है कि उसमें कोई ज्ञेय पदार्थ होता है परन्तु इस वृत्ति में ज्ञेय पदार्थ का सर्वथा अभाव होता है। जहां पर एक शब्द से भिन्नरूप वाली दो वस्तुओं का ज्ञान हो वह भी विकल्प कहाती है जैसे सैंधव शब्द से नमक और घोड़े का बोध होता है अथवा जहां एक वस्तु ही दो रूप से भान हो वह भी विकल्प है जैसे आत्मा को चैतन्य कहने से जान पड़ता है कि आत्मा और चैतन्य भिन्न २ दो पदार्थ हैं परन्तु वास्तव में आत्मा चैतन्यस्वरूप है। तात्पर्य यह है कि भ्रमात्मक ज्ञान को विकल्प कहते हैं ॥९॥

भोज वृत्तिः––शब्दजनितं ज्ञानं शब्दज्ञानं, तदनु पतितुं शीलम् यस्य सः शब्द ज्ञानानुपाती। वस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणो योऽध्यवसायः सः विकल्प इत्युच्यते। यथा पुरुषस्य चैतन्यं स्वरूपमिति। अत्र देवदत्तस्य कंबल इति शब्द जनिते ज्ञाने षष्ठ्या योऽध्यवसितो भेदस्तमिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्ततेऽध्यवसायः। वस्तुतस्तु चैतन्यमेव पुरुषः ॥ ९ ॥

निद्रां व्याख्यातुमाह।

भोज वृ॰ भा॰––शब्द में उत्पन्न हुआ ज्ञान शब्दज्ञान कहाता है शब्दज्ञान के पीछे होने का स्वभाव है जिससे वह शब्दज्ञानानुपाति हुआ, अर्थात् शब्दज्ञान में मोहित होकर पदार्थ की सत्ता की

अपेक्षा जिसमें न रहे वह वृत्ति विकल्प कहाती है जैसे कोई कहे कि "पुरुष का स्वरूप चैतन्य है" इस वाक्य में "देवदत्त से भिन्न षष्ठी विभक्ति द्वारा कम्बल का ज्ञान होता है परन्तु यथार्थ में पुरुष ही चैतन्यरूप है। अगले सूत्र में निद्रा वृत्ति की व्याख्या करेंगे ॥ ९ ॥

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

सू० का प०—[अभाव प्रत्ययालम्बना] अभाव की समता को जो आश्रय करे वह वृत्ति [निद्रा] निर्गत अर्थात् शारीरिक विषय-प्रसक्ति जिस वृत्ति में दूर हो जाती है उसे निद्रा कहते हैं।

सू० का भा०—अभाव अर्थात् ज्ञानाभाव को जो आश्रय करे उसे निद्रा कहते हैं अर्थात् अविद्याग्रस्त वृत्ति को निद्रा कहते हैं।

व्या० भा०—सा च संप्रबोधे प्रत्यवमर्शात् प्रत्यय विशेषः। कथं सुखमहमस्वाप्सम्। प्रसन्नं मे मनः, प्रज्ञां मे विशारदी करोति। दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनोभ्रमत्यनवस्थितं। गाढं मूढोऽहमस्वाप्सं। गुरूणि मे गात्राणि। क्लान्तं मे चित्तम्। अलसम् मुषितमिव तिष्ठतीति। स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यात् असति प्रत्ययानुभवे तदाश्रिताःस्मृतयश्च तद्विषया न स्युः। तस्मात् प्रत्ययविशेषो निद्रा। सा च समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति ॥१०

व्या० भा० पदार्थ—और वह निद्रा जाग्रत हो जाने पर निद्रावस्था के विचारने से ज्ञान विशेष है। यदि वह ज्ञान विशेष न हो तो जागने पर यह बोध कैसे हो सकता, मैं आनन्द से सोया, मेरा मन प्रसन्न है। बुद्धि मुझे उत्तम बनाती है अर्थात् मेरी बुद्धि निर्मल है। मैं दुःखपूर्वक सोया, मेरा मन आलस में हो रहा है, घूमता है. अनवस्थित अर्थात् विचारशून्य हो रहा है, अत्यन्त वेसुध मैं सोया, मेरे अंग भारी हो रहे हैं, मेरा चित्त थक रहा है. आलसयुक्त और अपहृत (चुराये हुये)

के समान जड़वत हो रहा है वह निद्रा यदि प्रत्यय न हो तो नींद से जागे मनुष्य को उक्त प्रकार के ज्ञान न हों यदि उस ज्ञान का अनुभव न हो तो उस अनुभव के आश्रित स्मृति भी न होनी चाहिये । इस हेतु से निद्रा भी अभावज्ञान है और वह निद्रावृत्ति भी समाधि अर्थात् योग में और वृत्ति के समान त्यागनी चाहिये ॥ १० ॥

व्या० भा० भावार्थ—निद्रावृत्ति का भी जागृत होने पर विशेष विचार किया जाता है इस लिये वह भी एक प्रकार का ज्ञान है । यदि वह ज्ञान न हो तो—"मैं आज सुख से सोया, इससे मेरा मन प्रसन्न है, मेरी बुद्धि स्वच्छ है, यद्वा मैं दुःख से सोया इससे मेरा मन आलस में हो रहा है और मत्त के समान घूम रहा है" यह विचार भी न होता, क्योंकि अज्ञान से अनुभव नहीं होता और अनुभव के बिना स्मृति नहीं होती इससे सिद्ध होता है कि निद्रा जागृत अवस्था के दृष्ट वा श्रुत पदार्थ ज्ञान के अभाव ज्ञान को कहते हैं ॥ १० ॥

१०वें सूत्र का विशेष—जिसमें सांसारिक पदार्थों के अभाव का ज्ञान रहे अर्थात् जो अभाव ज्ञान के आश्रय पर ही स्थिर हो उस वृत्ति का नाम निद्रा है । इस वृत्ति में तमोगुण ही प्रधान है इस ही कारण से सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान जाता रहता है, इसमें अभाव का ही ज्ञान रहता है इस कारण से इसे मनोवृत्ति कहते हैं ॥ १० ॥

भोज वृत्ति—अभावप्रत्यय आलम्बनं यस्याः सा तथोक्ता वृत्तिः एतदुक्तं भवति-या सन्ततं उद्रिक्तत्वात् तमसः समस्त विषयपरित्यागेन प्रवर्त्तते वृत्तिः सा निद्रा । अस्याश्च सुखमहमस्वाप्समिति स्मृति दर्शनात् स्मृतेश्चानुभवव्यतिरेकेणानुपपत्तेर्वृत्तित्वम् ॥ १० ॥

स्मृतिं व्याख्यातुमाह ।

भोज वृ० भा०—अभाव ज्ञान को धारण करने वाली वृत्ति को निद्रा कहते हैं । फलितार्थ यह है कि तमोगुण की प्रधानता से जिसमें सब विषयों का त्याग हो जाता है उस वृत्ति को निद्रा कहते हैं (२) मनुष्य

जब सो के उठता है तब उसे स्मरण होता है कि मैं सुख से सोया, यह स्मृति बिना अनुभव के नहीं हो सकती है इससे जाना जाता है कि निद्रा भी एक वृत्ति है अगले सूत्र में स्मृति का लक्षण लिखेंगे ॥ १० ॥

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥११॥

सू० का पदार्थ-(अनुभूत विषया सम्प्रमोषः) अर्थात् जिन विषयों का चित्त द्वारा वा इन्द्रिय द्वारा अनुभव अनुभूत किया गया हो उनका जो असम्प्रमोष अर्थात् ध्यान (स्मृतिः) उसे स्मृति कहते हैं ॥ ११ ॥

सू० का भा०---अनुभूत पदार्थों के पुनर्विचार को स्मृति कहते हैं ॥ ११ ॥

व्या० भा०--किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति आहोस्वित् विषयस्येति । ग्राह्योपरक्तःप्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासः तज्जातीयकं संस्कारमारभते। स संस्कारः स्वव्यंजकांजनः तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति। तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः।ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः सा च द्वयी भावितस्मर्त्तव्या चाभावितस्मर्त्तव्या च स्वपने भावितस्मर्त्तव्या । जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्त्तव्येति । सर्वाः स्मृतयः प्रमाणविपर्य्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात् प्रभवन्ति। सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः । सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः । सुखानुशयीरागः । दुःखानुशयी द्वेषः। मोहः पुनरविद्येति। एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः । आसां निरोधे सम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवति असंप्रज्ञातो वेति ॥ ११ ॥

अथाऽऽसां निरोधे क उपाय इति-

व्या० भा० का पदार्थ—क्या बोध का चित्त स्मरण करता है वा विषय का ? ग्रहण करने योग्य विषयों में जो प्रसन्नतापूर्वक बोध होता है उसे प्रत्यय कहते हैं वह प्रत्यय अथवा ग्राह्य जो विषय और ग्रहण अर्थात् जिनके द्वारा पदार्थ ग्रहण किया जाता है वह प्रमाण यह दोनों अपने समान संस्कार को उत्पन्न करते हैं। संस्कार नेत्राञ्जन के समान अपने समान ही अनुभून विषय तथा उसमें ज्ञान की स्मृति को उत्पन्न करता ह परन्तु उस स्मृति में भी बोधरूप बुद्धि है अर्थात् जो विषय ग्रहण का ज्ञान होता है वह बुद्धि है और ग्राह्य विषय का जो स्मरण है वह स्मृति है। और दोनों बुद्धि और स्मृति दो प्रकार की हैं:-- 'भावितस्मर्त्तव्य और अभावितस्मर्त्तव्य'। भेद से स्वप्नावस्था में जो जागृत अवस्था के अनुभूत पदार्थों की स्मृति होती है उसे अभावितस्मर्त्तव्या स्मृति कहते हैं। सब स्मृति प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इन पांचों वृत्तियों के अनुभव से होती हैं और यह सब वृत्तियां सुख दुःख तथा मोह रूप ही हैं। सुख दुःख तथा मोह का वर्णन पांच क्लेशों के वर्णन में किया जायगा। सुख के निमित्त जिसमें प्रवृत्ति होती है उसे राग कहते हैं। दुःख के निमित्त जिसमें प्रवृत्ति होती हैं उसे द्वेष कहते हैं यद्यपि अनुशयी शब्द का अर्थ धात्वर्थ के अनुसार पश्चात्ताप होता है। परन्तु प्रकरणवश यहां निमित्तार्थ करना ही युक्त है मोह अविद्या को कहते हैं। योगी को उचित है कि इन सब वृत्तियों का निरोध करे। इन वृत्तियों के निरोध हो जाने के पश्चात् सम्प्रज्ञात वा असम्प्रज्ञात योग हो सकता है क्योंकि जब तक वृत्तियां निरुद्ध न होंगी तब तक और मनुष्यों के समान ही योगी भी रहता हैं किन्तु उसकी योग संज्ञा भी अनुचित ही हैं ॥ ११ ॥

व्या० भा० का भावार्थ--सूत्रकार ने जो स्मृति का यह लक्षण किया है कि अनुभूत विषयों के पुनर्विचार को स्मृति कहते हैं इसमें यह शंका होती है कि चित्त पदार्थ का स्मरण करता है वा पदार्थ ज्ञान

का ? यदि पदार्थ का ही स्मरण करता है तो बिना पदार्थ ज्ञान के स्मरण होना असंभव है क्योंकि स्मरण में तीन ही कारण होते हैं, राग, द्वेष, मोह । इन तीनों में से राग उसे कहते हैं जो सुख निमित्तक हो और द्वेष वह है जो दुःख निमित्तक हो जैसे देवदत्तः पितरं स्मरति देवदत्त अपने पिता का स्मरण करता है यह सुखपूर्वक राग से स्मरण हुआ । भारतवासी यवन सम्राटों का स्मरण करते हैं यह दुःखपूर्वक द्वेष से स्मरण हुआ, ऐसे ही मोह में भी स्मरण होता है। उस स्मृति के दो भेद हैं एक भावितस्मर्त्तव्य और दूसरा अभावितस्मर्त्तव्य । स्वप्नावस्था में जो जाग्रत अवस्था में देखे पदार्थों का स्मरण होता है वह भावितस्मर्त्तव्या स्मृति है और जाग्रत अवस्था में जो स्मृति होती है वह अभावितस्मर्त्तव्या है । सब प्रकार की स्मृति प्रमाणादि ५ वृत्तियों के अनुभव वा आश्रय से ही होती हैं । योगी को उचित है कि इन सब वृत्तियों का निरोध करे, इन वृत्तियों के निरोध होने ही से संप्रज्ञात वा असंप्रज्ञात योग होता है ॥ ११ ॥

विशेष—समाधिपाद के प्रथम सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा था कि सर्व वृत्ति निरोधेत्व संप्रज्ञातः समाधिः अर्थात् समस्त वृत्तियों के निरोध होने पर असंप्रज्ञात योग होता है और इस ११वें सूत्र के भाष्य में लिखते हैं कि "एताः सर्वा वृत्तिय निरोद्धव्या आसां निरोधे सम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवत्य संप्रज्ञातो वा" अर्थात् इन पांच वृत्तियों के निरोध होने ही पर संप्रज्ञात वा असंप्रज्ञात योग होता है। ये दोनों वाक्य परस्पर विरुद्ध हैं क्योंकि संप्रज्ञात योग जो चार प्रकार का आगे वर्णन करेंगे ;उसमें विचारानुगत योग में अवश्य किसी विषय का विचार किया ही जायगा । ऐसे ही वितर्कानुगत में भी किसी विषय का ध्यान रहने ही से उस पर तर्क वितर्क हो सकती है । इससे सिद्ध होता है कि संप्रज्ञात योग वृत्तियों के रहते भी हो सकता है। फिर भाष्यकार ने अपने भाष्य में पूर्वापर विरोध क्यों लिखा ?

उत्तर—भाष्यकार ने अपने वचन में पूर्वापर विरोध नहीं लिखा केवल समझने वालों की बुद्धि में पूर्वापर विरोध है क्योंकि प्रथम शब्दार्थ को समझना चाहिए अर्थ यह है "सुयोगम् योगमित्याहुर्जीवात्मपरमात्मनोः" अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के मिलाने को योग कहते हैं अर्थात् जो जीवात्मा सांसारिक विषयों में लग रहा है उसे ईश्वर्य्य विषयों में लगा देने को योग कहते हैं और उस योग के अवान्तर दो भेद हैं एक संप्रज्ञात दूसरा असंप्रज्ञात, इनका अर्थ पूर्व लिख भी चुके हैं परन्तु फिर यहां पर लिखना उचित भान होता है इसलिए फिर लिखते हैं—'सम्यक् ज्ञायन्ते बुध्यन्ते पदार्थां अनेनेति संप्रज्ञातः' भली प्रकार से पदार्थों को जाने जिसके द्वारा उसे सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। इसी के अनुसार भाष्यकार ने प्रथम सूत्र के भाष्य में लिखा है—'सद्भूत-मर्थम्प्रद्योतयतीत्यादि' जगत् में उत्पन्न हुए पदार्थों के अर्थ सत्य रूप को जो प्रकाश करे उसे सम्प्रज्ञात योग कहते हैं।

११वें सूत्र का विशेष—प्रमाणेनानुभूतस्य विषयस्ययोऽसम्प्रमोषः संस्कारद्वारेण बुद्धावारोहः सास्मृतिः तात्पर्य्य यह है कि जाग्रत अवस्था में जिन विषयों का इन्द्रियों के द्वारा अनुभव किया जाता है उनका संस्कार हृदय में स्थिर हो जाता है उस ही संस्कार के आश्रय से जो अनुभूत विषयों का चित्त में विचार मात्र होता है उसे स्मृति कहते हैं।

भो० वृ०—प्रमाणेनानुभूतस्य विषयस्य योऽयमसम्प्रमोषः संस्कारद्वारेण बुद्धावारोहः सा स्मृतिः। तत्रप्रमाणविपर्य्ययविकल्पा। जाग्रदवस्था। तएव तदनुभवबलात्प्रत्तीयमाणाः स्वप्नः। निद्रा तु असंवेद्यमानविषया। स्मृतिश्च प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रानिमित्ता ॥११॥

भो० वृ० भा०—जो विषय प्रथम किसी प्रमाण के द्वारा ग्रहीत हो चुका है उसे ही असम्प्रमोष अर्थात् संस्कारों के द्वारा बुद्धि में धारण करने को स्मृति किहते हैं। प्रमाण विपर्य्यय और विकल्प यह जाग्रत

अवस्था की वृत्ति हैं इस ही कारण से इनके अनुभव से केवल प्रत्यक्ष के समान स्वप्न जान पड़ते हैं; परन्तु निद्रा के विषय जाने नहीं जाते हैं। प्रमाण विकल्प और निद्रा के हेतु से स्मृति होती है।

उक्त प्रकार से वृत्तियों का वर्णन करके अब वृत्ति के निरोध का उपाय कहते हैं॥ ११॥

एवं वृत्तीर्व्याख्याय सोपायं निरोधं व्याख्यातुमाह:—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

पदार्थ-(अभ्यास वैराग्याभ्याम्) अभ्यासश्च वैराग्यश्च अभ्यास वैराग्ये ताभ्याम्" ईश्वर का निरन्तर चिन्तन करने से और विषयवासना को त्यागने से (तन्निरोध) "तासां वृत्तीनां निरोधस्तन्निरोधः" पूर्वोक्त पांचों वृत्तियों का निरोध (रोकना) होता है॥ १२॥

भावार्थ—ईश्वर के निरन्तर चिन्तन तथा वैराग्य से उक्त वृत्तियां रुक जाती हैं॥ १२॥

व्यास भाष्य—चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च। या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा। संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिली क्रियते। विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यत इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ १२॥

पदार्थ—चित्तरूप नदी दोनों ओरसे बहनेवाली बहती है कल्याण के लिये और बहती है पाप के लिये जो कैवल्य अर्थात् मोक्ष जिसका पर्वताग्रभाव उत्पत्ति स्थान है अर्थात् जैसे ऊंचे स्थलकी ओर नदीका वेग

नहीं जाता है वैसे ही इस कल्याणवहा चित्तरूप नदी का भी वेग मोक्ष की इच्छा रूप पर्वत से उत्पन्न हुआ है और यह नदी विवेक विषय की ओर नीची है इसीलिए अपने वेग से कल्याणरूपी समुद्र में प्राप्त होती है। संसार अर्थात् जगत् जिसकी ऊँची भूमि अर्थात् उत्पत्ति स्थान है और अविवेक जिसका बहने का स्थान नीचा स्थल है और पाप अधर्म रूपी समुद्र में जाकर मिलती है। उन दोनों प्रवाहों में से वैराग्य विषय रूपी नदी को छिन्न भिन्न कर देता है। विवेक सत्य का विचार तथा दर्शन अर्थात् शास्त्र के अभ्यास से विवेक रूपी नदी का प्रवाह खुल जाता है इस प्रकार से चित्तरूपी नदी दोनों नहरों के आधीन है ॥१२॥

भावार्थ—प्रसिद्ध चित्तरूपी नदी की दो धारा हैं:-एक कैवल्य पहाड़ से निकली है और विवेक भूमि में बहती हुई कल्याण सागर में मिलती है, दूसरी संसाराचल से निकल कर अविवेक तथा विषयभूमि में बहती हुई अधर्म सागर में मिल जाती है। जब वैराग्यरूप बांध से विषयभूमि में बहने वाली धारा को छिन्न भिन्न कर दिया जाता है तब विवेक भूमि में बहने वाली धारा तीव्र हो जाती है। देखिये जैसे जगत् में गंगा आदि नदियों की नहर का जब एक ओर से तख्ते या लोहे के यन्त्र से मार्ग अवरुद्ध (बन्द) कर दिया जाता है और उसका जल दूसरी नहर में छोड़ दिया जाता है तब पहिली नहर (जिसमें तख़्ता लगा दिया था) सूख जाती है और दूसरी बहने लगती है इस ही प्रकार से वैराग्यरूपी तख्ते से चित्त नदी की पापवहा नहर को बन्द करके कल्याणवहा नहर को खोलना निरन्तर ईश्वर चिन्तनरूपी यन्त्र (कल) से होता है। इससे चित्त-वृत्ति-निरोध अभ्यास और वैराग्य के आधीन हैं ॥ १२ ॥

विशेष—चित्त की वृत्ति जो बाह्य विषयों में लिप्त हो रही हैं, वैराग्य द्वारा उनका निरोध होता है अर्थात् सांसारिक विषयो में दोष

दृष्टि होकर घृणा उत्पन्न होती है और घृणा होने ही से वृत्तियों का अभाव हो जायगा अतएव वह स्वयं ही अन्तर्मुख होके लीन हो जातीं हैं जैसे काष्ठ के जल जाने पर अग्नि आप ही बुझ जाती है। एकाग्र और निरुद्ध अवस्था को दृढ़ रखने के वास्ते अभ्यास अर्थात् पुनः पुनः तन्निमित्तक क्रिया करनी चाहिए।

भोज वृत्ति—अभ्यासवैराग्ये वक्ष्यमाणलक्षणे ताभ्यां प्रकाशप्रवृत्तिनियमरूपा या वृत्तयस्तासां निरोधो भवतीत्युक्तम्। तासां विनिवृत्तबाह्याभिनिवेशानां अन्तर्मुखतया स्वकारण एव चित्ते शक्तिरूपतयाऽवस्थानम्। तत्र विषयदोषदर्शनजेन वैराग्येण तद्वैमुख्यमुत्पाद्यते। अभ्यासेन च सुखजनकशान्तप्रवाहदर्शनद्वारेण दृढ़स्थैर्यमुत्पाद्यते इत्थं ताभ्यां भवति चित्तवृत्तिनिरोधः ॥१२॥ अभ्यासं व्याख्यातुमाह

भो० वृत्ति भा०—जिस अभ्यास और वैराग्य का लक्षण आगे कहेंगे उनसे प्रकाश प्रवृत्तियों और नियमरूप वृत्तियों का निरोध होता है। तात्पर्य यह है कि दूर हो गया है बाह्य वस्तुओं में अभिनिवेश जिनका उन वृत्तियों का अन्तर्मुख होके चित्त में स्थिर रखना ही अभ्यास है। विषयों में दोष दृष्टि से उत्पन्न हुआ जो वैराग्य उससे विषयों में विमुखता उत्पन्न होती है और अभ्यास से सुख की उत्पादक शान्त प्रवाह से दृढ़ स्थिरता प्राप्त होती है इसी रीति से अभ्यास और वैराग्यके द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है ॥ १२ ॥

अभ्यास का लक्षण लिखते हैं।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

पदार्थ—(तत्र) परमेश्वर में (स्थितौ) स्थिर करने में [यत्नोऽभ्यासः] उत्साह को अभ्यास कहते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ—परमध्येय परमेश्वर में बल और उत्साहपूर्वक चित्त की स्थिति सम्पादन को अभ्यास कहते हैं ॥ १३ ॥

व्या० भा०—चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशांतवाहिता स्थितिः। तदर्थःप्रयत्नो वीर्यमुत्साहः तत्संपिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः ॥ १३ ॥

भाष्य का पदार्थ—राजस और तामस वृत्ति से रहित चित्त की जो प्रशान्त वाहिता स्थिति है। अर्थात् जब चित्त बाह्य वृत्तियों से उपरत होकर केवल अपने ध्येय में निमग्न हो जाता है तब वह अवृत्तिक कहलाता है। अत्यन्त उद्योग वा स्थिरता के साधनों का सम्पादन करना बल अथवा दृढ़ता कभी दुःख प्राप्त होने पर भी चित्त में ग्लानि न लाना, उस स्थिरता की सम्पादन अर्थात् प्राप्ति की इच्छा से उसके साधन विषयान्तर में मनोनिग्रहादि के प्रयोग करने को अभ्यास कहते हैं ॥ १३ ॥

भाष्य का भावार्थ—चित्त जो अनेक विषयों में चंचल रहता है, ईश्वर में अत्यन्त शान्त स्थिति के लिये उद्योग बल अर्थात् दृढ़ता और उत्साहपूर्वक जो उसके साधनों का अनुष्ठान करता है उसे अभ्यास कहते हैं ॥ १३ ॥

१३वें सूत्र का विशेष—महाराज भोज ने स्थिति का अर्थ यह लिखा है कि 'वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठः परिणामस्थितिः' वृत्तिरहित चित्त की जो अपने रूप में स्थिति है उसका नाम स्थिति है। श्रीमान् स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने जो इस सूत्र के अर्थ में ईश्वर के रूप में स्थिति का अर्थ किया हैं वह भाष्य के चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः इस वाक्य का आवृत्तिकस्य ऐसा पदच्छेद करने से हो सकता है, परन्तु एकाग्र और निरुद्ध भूमि में अभ्यास बढ़ाने से तात्पर्य है। सारांश यह है कि चित्त को विषयों से रोककर निरुद्ध और एकाग्र भूमि में स्थिर करने का नाम अभ्यास है ॥ १४ ॥

भोज वृत्ति –वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठः परिणाम स्थिति तस्यां यत्न उत्साहः पुनः पुनस्तत्वेन चेतसि निवेशनमभ्यास इति ॥ १३ ॥ तस्यैव विशेषमाह ॥ १३ ॥

भोज वृ० का भाष्य—वृत्ति रहित चित्त का जो स्वरूप मात्र परिणाम है उसे स्थिति कहते हैं, उसमें जो यत्न अर्थात् उत्साह अर्थात् बारम्बार चित्त को लगाना है, उसे अभ्यास कहते हैं ॥ १३ ॥

स तु दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः

पदार्थ–(सः) वह अभ्यास (दीर्घकालनैरन्तर्य सत्कार-सेवितः) दीर्घकाल तक अभ्यास से अर्थात् बहुत समय तक ईश्वर के ध्यान से निरन्तर अर्थात् आलस्य प्रमाद को परित्याग करके नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य से सत्कार अर्थात् श्रद्धापूर्वक ईश्वर के स्मरण से सेवन किया हुआ (दृढ़-भूमिः) दृढ़भूमि कहलाता है ॥ १४ ॥

व्या० भा०—दीर्घकालासेवितो निरन्तरासेवितः सत्कारा-सेवितः। तपसा ब्रह्मचर्य्येण विद्यया श्रद्धया च संपादितः सत्कार-वान् दृढ़भूमिर्भवति। व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय इत्यर्थः ॥ १४ ॥

व्या० भा० का पदार्थ—बहुत काल तक अभ्यास किया गया, व्यवधानरहित अर्थात् प्रतिदिन अभ्यास किया गया, श्रद्धापूर्वक सेवन किया गया, क्लेश सहकर धर्म्म करना। ब्रह्मचर्य्य अर्थात् ब्रह्म जो वेद उसके ज्ञान से अथवा ब्रह्म जो परमेश्वर उसकी उपासना से, तृण से ईश्वर पर्यन्त सब पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से, सत्यधारण किया जाय, जिससे वह श्रद्धा कहलाती है अर्थात् सत्यग्राहिणी बुद्धि या नीति से

प्राप्त किया आदरयुक्त दृढ़ विश्वास होता है और वही उत्थान रहित संस्कार द्वारा शीघ्र ही निश्चय हो जाने वाला विषय होता है, यही अभिप्राय है ॥ १४ ॥

भावार्थ-वह अभ्यास दीर्घकाल अर्थात् बहुत दिनों तक व्यवधान रहित अर्थात् प्रतिदिन वा अपने नियत किये हुये प्रत्येक दिन के भागों में तप अर्थात् युक्त आहार विहार अथवा अपने वर्णाश्रम के योग्य धर्मानुष्ठान से ब्रह्मचर्य अर्थात् मन और इन्द्रियों को वाह्य विषयों से निरुद्ध करके श्रद्धापूर्वक सेवित होकर दृढ़ होता है ॥ १४ ॥

भो० वृ०—बहुकालं नैरन्तर्य्येण आदरातिशयेन च सेव्यमानो दृढ़भूमिः स्थिरो भवति । दार्ढ्र्याय प्रभवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

वैराग्यस्य लक्षणमाह ।

भोज वृत्ति का भा०—वह बहुत समय तक निरन्तर अर्थात् किसी समय किसी अवस्था में वा किसी विघ्न से त्याग न किया हुआ अधिक आदर के साथ अनुष्ठान करने से दृढ़ होता है ॥ १४ ॥*

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

पदार्थ-(दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य) इस जन्म और दूसरे जन्म में प्राप्त होने वाले सुख की इच्छा रहित पुरुष की (वशीकारसंज्ञावैराग्यम्) जो वश में न हो उस अवश मन को वश में करने का नाम वैराग्य है ॥ १५ ॥

---

*अभ्यास सत्वनल अल्पकाल यथा स्यात्तथा, व्यवधानराहित्येन विघ्नबाहुल्यभयाभावेतवा, भक्तियाधिक्येन वा सेवितः सम्यगनुष्ठितः दृढ़भूमिर्भवतीति फलितार्थः दृढ़ा स्थिरा भूमिर्य्यस्यति समासः ॥ १४ ॥

भावार्थ--ऐहिक और आमुष्मिक अर्थात् स्रक वनितादि ऐहिक और पुनर्जन्म में अच्छे कुल में उत्पन्न होऊँ यह आमुष्मिक विषय में जो अत्यन्त 'तृष्णा है उसके निरोध करने को वैराग्य कहते हैं ॥ १५ ॥

व्यास भाष्य--स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये वितृष्णस्य स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्रविकविषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्यविषयसंप्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यानबलादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

पदार्थ--सुन्दर स्त्री अन्न उत्तम २ भक्ष्य पदार्थ शीतल जल वा दुग्धादि, ऐश्वर्य्य राज्यादि सुख इत्यादि इन सांसारिक विषयों में इच्छारहित होना अधिक सुख विदेह मुक्ति वा कैवल्यमुक्ति की प्राप्ति आदि वेदविहित विषय में तृष्णा प्राप्ति की इच्छा विगत अर्थात् दूर हो गई हो जिसकी दिव्य जन्मान्तरीय सुख वा मोक्षादि और अदिव्य सांसारिक विषय के संयोग अर्थात् प्राप्ति में भी सब विषयों में दोष दर्शी चित्त की अध्यात्म विचार बल से जो भोगादि दृष्ट विषयों में आसक्त न होने वाली त्याज्या और ग्राह्य के विचार से शून्य वशीकार संज्ञा का नाम वैराग्य है। अभिप्राय यह है कि जो चीज़ वश में नहीं है उसको अपने वश में करके ईश्वर परायण होकर अन्य विषय की इच्छा न करने को वैराग्य कहते हैं ॥ १५ ॥

आगे वैराग्य का लक्षण कहेंगे।

भावार्थ--स्त्री अन्नपान आदि राज्य पर्य्यन्त सब सांसारिक विषयों की दोषदृष्टि से इच्छा न करना एवं पारलौकिक विषयों की भी इच्छा न करना अर्थात् चित्त को समस्त विषयवासना से हटाकर अपने वश में करके ईश्वर में लय रखने को वैराग्य कहते हैं। यथार्थ तो यह है कि वैराग्य के समान अन्य कोई भी सुख नहीं क्योंकि

जिसके वश में आप हो और फिर उस ही को अपने वश में करले इससे अधिक और क्या सुख होगा। सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्"। ॥ १५ ॥

१५वें सूत्र का विशेष—जब मुमुक्षु सब विषयों को त्यागेगा तब ही उसका चित्त योग में लगेगा अतएव वैराग्य भी योग का साधन है।

भो० वृ०—द्विविधो हि विषयो दृष्ट आनुश्रविकश्च। दृष्ट इहैवोपलभ्यमानः शब्दादिः। देवलोकादायानुश्रविकः। अनुश्रूयते गुरुमुखादित्यनुश्रवो वेदस्तत आगत आनुश्रविकः। तयोर्द्वयोरपि विषययोः परिणामविरसत्वदर्शनाद्विगतगर्धस्य वशीकार संज्ञा ममैते वश्या नाहमेतेषां वश्य इति योऽयं विमर्शस्तद्वैराग्यमुच्यते ॥१५॥
तस्यैव विशेषमाह

भोज वृत्ति का भा०—विषय दो प्रकार का है एक दृष्ट दूसरा अनुश्रविक। जिनका इस ही लोक में भोग किया जाता है उन्हें दृष्ट विषय कहते हैं, देवलोक अर्थात् स्वर्गादिक अनुश्रविक विषय कहाते हैं, जब गुरु मुख से सुना जाय उसे अनुश्रय कहते हैं। अनुश्रय अर्थात् वेद से जिन विषयों का ज्ञान होता है वे अनुश्रविक विषय कहाते हैं, इन दोनों विषयों को परिणामी अर्थात् अनित्य जानकर निर्लोभी की जो वशीकार संज्ञा अर्थात् मेरे वश में विषय है, मैं विषयों के वश में नहीं हूं—इस विचार को वैराग्य कहते हैं। इस ही के विशेष रूप को आगे कहते हैं ॥ १५ ॥*

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

---

* तच्छब्दे नात्र पूर्वोक्त वैराग्यं गृह्यते, पूर्वोक्तलक्षणलक्षितं वैराग्यं पुरुषख्यातेःपुरुषस्येश्वरस्य ख्यातिर्ज्ञानम्, ईश्वर ज्ञानानन्तर मेनीत्कृष्टं वैराग्यमुत्पद्यते नान्यथेति भावार्थः ॥ १५ ॥

पदार्थः-(तत्) वह वैराग्य (परम् पुरुषख्यातेः) ईश्वर के पूर्ण और यथार्थ ज्ञान हो जाने से (गुणवैतृष्ण्यम्) प्रकृति के गुण अर्थात् सत्व, रज, तम और उनके कार्य में तृष्णा रहित होना है ॥ १६ ॥

भावार्थ-परमेश्वर के पूर्ण ज्ञान हो जाने से जो प्रकृति के गुण और कार्यों में अरुचि होती है उसे वैराग्य कहते हैं ॥ १६ ॥

व्यास भाष्य—दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धिगुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति तदद्वयं वैराग्यं तत्र यदुत्तरं तत्ज्ञानप्रसादो मात्रं । यस्योदये सति योगी प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते प्राप्तं प्रापणीयं क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः छिन्नः । श्लिष्टपर्वाभवसंक्रमो यस्या विच्छेदात् जनित्वाम्रियते मृत्वा च जायतइति ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यं एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति ॥ १६ ॥

अथोपायद्वयेन निरुद्धचित्तवृत्तेः कथमुच्यते सम्प्रज्ञातः समाधिरिति ॥ १६ ॥

भाष्य का प०—लौकिक और पारलौकिक विषयोंमें दोष देखकर विरक्त अर्थात् व्यग्र हुआ पुरुषकी शास्त्रविचार और योगाभ्याससे चित्त की शुद्धि होती है और उससे बुद्धि निर्मल होती है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष गुणों से उपरत होना यह दोनों प्रकार का वैराग्य होता है। उन दोनों में जो पिछला वैराग्य है वह केवल ज्ञान का साधन है। जिस के उदय होने पर उदित हुए ज्ञान से मुमुक्षु ऐसा मानता है जिसकी मुझे इच्छा थी उसे मैंने पाया जिनको मैं क्षय करना चाहता था वे मेरे क्लेश दूर हो गये जिसकी संधियां परस्पर एक से दूसरी सटी हुई हैं वह संसारमयी वेड़ा टूट गया, जिसके बिना विच्छिन्न हुये जन्म लेकर मरता है और मरकर जन्म लेता है व इस ज्ञान ही की अधिकता को

वैराग्य कहते हैं। इसी वैराग्य के विघ्नरहित अभ्यास करने से मोक्ष होता है ॥१६॥ अब दोनों उपायोंसे निरुद्ध चित्त वृत्तिवाले को सम्प्रज्ञात योग कैसे होता है ?

भावार्थ—लौकिक और पारलौकिक विषयों में विरक्त पुरुष को विवेक द्वारा बुद्धि शुद्ध होने से स्थूल और सूक्ष्म गुणों में विरक्तता होने से शुद्ध ज्ञान उदय होता है और उस मनुष्य को यह ज्ञान होता है कि मुझे प्राप्य सुख की प्राप्ति हुई है और हेय दुःखों का नाश हुआ है। जिस अज्ञान से जन्म लेकर मरता है और मरकर फिर जन्म लेता है, वह भी नष्ट हो गया। इस ज्ञान का दृढ़ होना ही वैराग्य कहलाता है। इस ज्ञान की निर्विघ्न स्थिति से मोक्ष होता है, इस वैराग्य द्वारा जिसकी चित्तवृत्ति निरुद्ध हो गई है उसको संप्रज्ञात समाधि होती है ॥१६

भोज वृत्ति—तद्वैराग्यं परं प्रकृष्टं प्रथमं वैराग्यं विषय विषयं द्वितीयं गुणविषयं उत्पन्न गुणपुरुषविवेकख्यातेरेव भवति, निरोध-समाधेरत्यन्तानुकूलत्वात् ॥ १६ ॥

एवम् योगस्य स्वरूपमुक्त्वा सम्प्रज्ञातस्वरूप भेदमाह।

भोज वृत्ति का भाष्य—यह वैराग्य उत्तम और प्रथम विषय विषयक है अर्थात् प्रथम संसार के विषयों में दोषदृष्टि से उन्हें त्यागने की इच्छा उत्पन्न होती है, दूसरा गुणविषयक वैराग्य है- वह परमपुरुष के ज्ञान से उत्पन्न होता है अर्थात् परमात्म ज्ञान से प्रकृति के समस्त गुणों में वितृष्णा उत्पन्न होती है। यह वैराग्य समाधि में अत्यन्त सहायक है। इस रीति से योग का लक्षण कहके अब योग के संप्रज्ञात भेद का वर्णन करते हैं।

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः

पदार्थ—(वितर्कविचार नन्दास्मितारूपानुगमात्) वितर्क उसे कहते हैं जिससे सर्व पदार्थों का स्थूल विचार किया,

जाता है और जिससे सूक्ष्म विचार किया जाता है उसे विचार कहते हैं। जिससे सन्तोष प्राप्त हो उसे आनन्द कहते हैं अस्मिता उस ज्ञान को कहते हैं जिसके द्वारा जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जैसे मैं पंच भौतिक शरीर से भिन्न हूं, ऐसे ही ईश्वर से भी भिन्न हूँ, यहां पर अनुगत शब्द का "द्वन्द्वान्ते श्रयमाणं प्रत्येकमभिसम्बध्यते" इस न्याय से प्रत्येक के संग में योग होता है इन चार वेदों से चार प्रकार का (सम्प्रज्ञातः) संशय जिसमें संशय विपर्ययशून्य ध्येय का तथा ध्याता का निश्चय हो वह सम्प्रज्ञात योग है ॥ १७ ॥

भावार्थ—सम्प्रज्ञात योग चार प्रकार का है वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भेद से।

व्या० भा०—वितर्कः चित्तस्याऽऽलम्बने स्थूल आभोगः। सूक्ष्मो विचारः। आनन्दोह्लादः। एकात्मिका संविदस्मिता। तत्र प्रथमः चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः। द्वितीयो वितर्कविकलःसविचारः तृतीयो विचारविकलः सानन्दः चतुर्थस्तद्विकलो अस्मितामात्र इति। सर्व एते सालम्बनाः समाधयः ॥ १७ ॥

अथासम्प्रज्ञातः समाधिः किमुपायः किंस्वभावो वेति—

पदार्थ—वितर्क चित्त के आश्रय में स्थूलपूर्णता अर्थात् विचार अथवा स्थूल विषय सम्बन्ध, सूक्ष्म सम्बन्ध को विचार कहते हैं आनन्द संतोष को कहते हैं। एक जीव ही जिसमें विचार्य रहता है वह ज्ञान अस्मिता कहलाता है उन दोनों समाधियों में पहिला अर्थात् सम्प्रज्ञात

योग चारों के अनुगत है–वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत। पहिला वितर्कानुगत सवितर्क अर्थात् स्थूल आभोग के सहित होता है दूसरा वितर्करहित विचार के सहित होता है इसलिए उसे विचारानुगत कहते हैं। तीसरा विचाररहित और आनन्द के सहित होता है, चौथा अर्थात् उस आनन्द से रहित केवल अस्मिता अर्थात् अपने ही स्वरूप का विचार इसमें रहता है ये चारों आलम्ब अर्थात् आश्रय के सहित योग होते हैं। इसके पश्चात् असम्प्रज्ञात योग का क्या उपाय है योगी का उसमें कैसा स्वभाव रहता है यह अगले सूत्र में कहते हैं॥ १७॥

भावार्थ--वितर्क उसे कहते हैं जो चित्त के स्थिर करने में स्थूल आश्रय होता है जैसे घट का कारण मृत्तिका मृत्तिका का कारण त्रसरेणु त्रसरेणु का कारण द्व्यणुक ऐसे ही लक्ष्य पर स्थूल दृष्टि रखने को वितर्क कहते हैं और वितर्कानुगत योग वह है जिसमें वितर्क का आश्रय लिया जाय जैसे समाधि समय में यह विचारना कि इस जगत की उत्पत्ति कैसे हुई है, पुनः उसके द्वारा समस्त सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर में चित्त को लगा देना। विचार उसे कहते हैं जिससे सूक्ष्म वस्तुओं का विचार किया जाय और विचारानुगत योग वह है जिसमें चित्त और शरीर के सूक्ष्म अवयव तथा जगत् कर्त्ता की रजोकार्य से असाध्य उत्पत्ति समझकर और उसको अत्यन्त ही निपुण शिल्पी है ऐसा जानकर उसमें अपनी स्थिति का सम्पादन करना है। सन्तोष को आनन्द कहते हैं जिसमें पूर्वोक्त दो समाधि से सम्पूर्ण पदार्थों को यथा रूप में जानकर और अपने को सब जड़ पदार्थ तथा स्थूल शरीर से भिन्न जानकर महा-आनन्द अर्थात् सन्तोष होता है उसे आनन्दानुगत कहते हैं और अस्मितानुगत वह है जिसमें जीव अपने स्वरूप ही को केवल विचारता है क्योंकि जब तक अपने स्वरूप को अच्छी प्रकार से नहीं जानेगा तब तक

योगी स्थिरचित्त नहीं हो सकता अब दूसरे असम्प्रज्ञात योग का लक्षण अगले सूत्र में कहेंगे।

विशेष—योग वा समाधि दो प्रकार की है एक सम्प्रज्ञात दूसरी असम्प्रज्ञात, सम्प्रज्ञात का लक्षण यह है "संशयविपर्य्ययरहितत्वेन प्रकर्षेणोत्कृष्टतया ज्ञायते भाव्यस्य रूपं येन सः सम्प्रज्ञातः" संशय और विपर्य्ययरहित उत्तम प्रकार से ध्येय का जिससे रूप जाना जाय उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं और विशेष चिन्तन का नाम समाधि है।

भोज वृत्ति—समाधिरिति शेषः सम्यक् संशयविपर्य्ययरहितत्वेन प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्य रूपं येन स संप्रज्ञातः। समाधिर्भावनाविशेषः। स वितर्कादिभेदाच्चतुर्विधः—सवितर्कः—सविचारः सानन्दः सास्मितश्च। भावना भाव्यस्य विषयान्तरपरिहारेण चेतसि पुनः पुनर्निवेशनम्। भाव्यञ्च द्विविधम्-ईश्वरस्तत्त्वानि च। तान्यपि द्विविधानि जड़ाजड़भेदात्। जड़ानि चतुर्विंशतिः। अजड़ः पुरुषः। तत्र यदा महाभूतेन्द्रियाणि स्थूलानि विषयत्वेनाऽऽदाय पूर्वापरानुसन्धानेन शब्दार्थोल्लेखसम्भेदेन च भावना क्रियते तदा सवितर्कः समाधिः। अस्मिन्नेवाऽऽलम्बने पूर्वापरानुसन्धानशब्दोल्लेखशून्यत्वेन यदा भावना प्रवर्तते तदा निर्वितर्कः। तन्मात्रान्तःकरणलक्षणं सूक्ष्मविषयमालम्ब्य तस्य देशकालधर्म्मावच्छेदेन यदा भावना प्रवर्तते तदा सविचारः। तस्मिन्नेवावलम्बने देशकालधर्म्मावच्छेदं विना धर्मिमात्रावभासित्वेन भावना क्रियमाणा निर्विचार इत्युच्यते। एवं पर्य्यन्तः समाधिर्ग्राह्यसमापत्तिरिति व्यपदिश्यते। यदा तु रजस्तमोलेशानुविद्धमन्तःकरणसत्त्वं भाव्यते तदा गुणभावाच्चितिशक्तेः सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्य भाव्यमानस्योद्रेकात् सानन्दः समाधिर्भवति। अस्मिन्नेव समाधौ ये बद्धधृतयस्तत्त्वान्तरं प्रधानपुरुषरूपं न पश्यन्ति ते विगतदेहाहङ्कारत्वाद्विदेहशब्दवाच्याः। इयं ग्रहणसमापत्तिः। ततः परं रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धसत्त्वमालम्बना-

कृत्य या प्रवर्तते भावना तस्यां ग्राह्यस्य सत्त्वस्य न्यग्भावात् चितिशक्ते-रुद्रेकात् सत्तामात्रावशेषत्वेन समाधिः सास्मित इत्युच्यते । नचा-हंकारास्मितयोरभेदः शंकनीयः ? यतो यत्रान्तःकरणमहमिति उल्लेखेन विषयान् वेदयते सोऽहंकारः । यत्रान्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामे प्रकृति-लीने चेतसि सत्तामात्रं अवभाति सास्मिता । अस्मिन्नेव समाधौ ये कृत परितोषाः परमात्मानं पुरुषं न पश्यन्ति तेषां चेतसि स्वकारणे लयमु-पागते प्रकृतिलय इत्युच्यन्ते । ये परं पुरुषं ज्ञात्वा भावनायां प्रवर्तन्ते तेषामियं विवेकख्यातिर्ग्रहीतृसमापत्तिरित्युच्यते । तत्र सम्प्रज्ञाते समाधौ चतस्रोऽप्यवस्थाः शक्तिरूपतयाऽवतिष्ठन्ते । तत्रैकैकस्यास्त्यागे उत्तरोत्तरा इति चतुरवस्थोऽयं सम्प्रज्ञातः समाधिः ॥ १७ ॥

असंप्रज्ञातमाह ।

भो० वृत्ति का भा०—संशय और विपर्य्यय में रहित उत्तम रीति से समाधि द्वारा जिसमें ज्ञेय का रूप जाना जाता है उस बोध को सम्प्रज्ञात कहते हैं, वह समाधि अर्थात् सम्प्रज्ञात योग वितर्कादि भेद से ४ प्रकार का है—सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित भावना भाव्य अर्थात् ध्येय को ही बारम्बार चित्त में चिन्तन करना और दूसरे विषय को चित्त में न लाना । ध्येय दो प्रकार के हैं—एक ईश्वर दूसरे तत्व । तत्व भी दो प्रकार के हैं जड़ और चैतन्य । जड़ तत्व २४ हैं और चैतन्य केवल जीव है । जब महाभूत और इन्द्रियों को विषय बना के और उनके पूर्वापर को विचार कर शब्द और अर्थों के विचार द्वारा ध्यान किया जाता है तब वह सवितर्क समाधि कहाती है। इस ही आश्रय से पूर्वापर के शब्द और अर्थों के विचार को त्यागकर जो समाधि की जाती है उसे निर्वितर्क समाधि कहते हैं । जिसमें केवल अन्तःकरण की तन्मात्रा ही सूक्ष्म विषय हों। देश और काल के संबंध को विचारकर जो समाधि की जाती है उसे सविचार समाधि कहते हैं । उक्त आधार से देश और काल के विचार को त्यागकर केवल गुणों के परिज्ञान से

जो समाधि की जाती है उसे निर्विचार समाधि कहते हैं। यहां तक जो समाधि की जाती है उन्हें ग्राह्यसमापत्ति कहते हैं। जिस समय रजोगुण और तमोगुण के थोड़े से अंश से युक्त हुआ मन जान पड़ता है, उस समय सत्त्वगुण सुखस्वरूप हो चित्त में संचारित रहता है इस कारण वह समाधि भी सानन्द कहाती है। इस सानन्द समाधि ही में जिनकी धारणा दृढ़ हो जाती है वह विदेह कहलाते हैं क्योंकि इन लोगों की समाधि में शरीर और जीव का भी बोध नहीं रहता है, यह अवस्था ग्रहण समापत्ति कहाती है। इसके पश्चात् रजोगुण और तमोगुण के लेश से रहित शुद्ध सत्गुण को आश्रय करके जो समाधि की जाती है उसमें ग्राह्य के पृथक् होने से तथा चित्त शक्ति की प्रबलता से सत्तामात्र जो समाधि होती है उसे सास्मित समाधि कहते हैं। अहंकार और अस्मिता के एक होने की शका न करनी चाहिए क्योंकि अहंकार उसे कहते हैं जिसमें मैं हूं इस अभिमान के साथ बाह्य विषय का ज्ञान होता है और अस्मिता वह है जिससे अन्तर्मुख होके चित्त प्रकृति में जब लय हो जाता है इस ही समाधि में जिनको सन्तोष होता है और जो परमात्मा को नहीं देखते हैं वह प्रकृत लय कहाते हैं जो परम पुरुष परमात्मा को जानकर समाधि में प्रवृत्त होते हैं उनका विवेक ज्ञान ग्रहीतृमापत्ति में पूर्व कही चारों अवस्था शक्ति रूप से रहती हैं उनमें से पहली अवस्थाओं को त्यागकर पिछली अवस्थाओं को ग्रहण करना चाहिए ॥ १७ ॥

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः×संस्कारशेषोऽन्यः॥१

संस्कार अर्थात् वह गुण जो निमित्त के नाश होने पर किंचितमात्र गुण रह जाता है।

पदार्थ-(विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः) समस्त चित्तवृत्तियों के अवसान अर्थात् अन्तों को विराम कहते हैं उस विराम का जो प्रत्यय अर्थात् ज्ञान के बारम्बार अभ्यासपूर्वक (संस्कारशेषः) जिसमें केवल संस्कार ही शेष हैं, अर्थात् निरालम्ब अवस्था (अन्यः) असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है ॥१८॥

भावार्थ—जिसमें चित्त की समस्त वृत्तियों का अवसान (अन्त) हो जाता है उस वितर्कादि के अभाव ज्ञान को बारम्बार विचारपूर्वक केवल संस्कार ही शेष रहते हैं उस निरालम्ब समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं परन्तु चित्तवृत्ति निवृत्ति का मुख्य कारण वैराग्य है १८

व्यास भाष्य—सर्ववृत्ति प्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसम्प्रज्ञातः। तस्यपरं वैराग्यमुपायः सालम्बनोह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति। विरामप्रत्ययो निर्वस्तुकआलम्बनी क्रियते। स चार्थशून्यः। तदभ्यासपूर्वकं चित्तं निरालम्बनभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिरसम्प्रज्ञातः॥ १८ ॥ स खल्वयं द्विविधः—उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च। तत्रोपायप्रत्ययो योगिनां भवति।

पदार्थ—सब वृत्तियों के अस्त हो जाने पर जिसमें केवल संस्कार ही शेष रह जाते हैं वह चित्त का निरोध असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है उस असम्प्रज्ञात समाधि का परम उपाय वैराग्य है। वितर्कादि के आश्रय से जो प्राणायाम का अभ्यास है वह उक्त असम्प्रज्ञात समाधि के सिद्ध करने को युक्त नहीं है। चित्त वृत्तियों का अभाव ज्ञान अथवा विषयों में विरक्ति, निर्वस्तुक अर्थात् निराकार परमेश्वर के आश्रय में दृढ़ करता है वह निरालम्ब असम्प्रज्ञात समाधि सांसारिक प्रयोजन से

रहित होती है उसके अभ्यास से चित्त निराश्रय होने से ऐसा भान होता है कि मानो है ही नहीं इस निर्बीज अर्थात् निराश्रय समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं सो यह निर्विकल्प असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकार की है उपाय प्रत्यय और भव प्रत्यय। उन दोनों में से उपाय प्रत्यय योगियों को होती है ॥१८॥

भावार्थ—जब चित्त की समस्त वृत्तियां अस्त हो जाती हैं और केवल संस्कार शेष रह जाते हैं तब असम्प्रज्ञात समाधि होती है। उसकी प्राप्ति का परम उपाय वैराग्य है। आलम्बन सहित कोई उपाय उसकी प्राप्ति का साधन नहीं है सांसारिक विषय से रहित होती है केवल दृश्य पदार्थों में विरक्ति और आकाररहित परमेश्वर में स्थिति एवं प्राणायाम उसका साधन है जिससे चित्त का अभाव सा भान होने लगता है। असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद हैं—एक उपाय प्रत्यय दूसरा भव प्रत्यय इन दोनों में से उपाय प्रत्यय योगियों को होती है ॥१८॥

भो० वृ०—विरम्यतेऽनेनेति विरामो वितर्कादिचिन्तात्यागः। विरामश्चासौ प्रत्ययश्चेति विरामप्रत्ययस्तस्याभ्यासः पौनः पुन्येन चेतसि निवेशनम्। तत्र या काचिद्वृत्तिरुल्लसति तस्या नेति नेतीति नैरन्तर्य्येण पर्य्युदसनं यतपूर्व्वः सम्प्रज्ञात समाधिः संस्कारशेषोन्यः तद्विलक्षणोऽयमसम्प्रज्ञात इत्यर्थः। न तत्र किञ्चिद्वेद्यं संप्रज्ञायत इत्य-सम्प्रज्ञातो निर्बीजः समाधिः। इह चतुर्विधः चित्तस्य परिणामः- व्युत्थानं समाधिप्रारम्भो निरोधः एकाग्रता च—तत्र क्षिप्तमूढ़े चित्तभूमी व्युत्थानं विक्षिप्ता भूमिश्च। सत्त्वोद्रेकात् समाधिप्रारम्भः। एकाग्रत्वनिरुद्धते च पर्य्यन्तभूमी। प्रतिपरिणामं च संस्काराः। तत्र व्युत्थान जनिताः संस्काराः समाधिप्रारम्भजैः संस्कारैः प्रत्याहन्यन्ते, तज्जाश्चैकाग्रताजैः निरोधजनि-तैरेकाग्रताजाः संस्काराः स्वरूपञ्च हन्यन्ते। यथा सुवर्ण संवलितं ध्मायमानं सीसकमात्मानं सुवर्णमलञ्च निर्दहति एवमेकाग्रताजनितान् संस्कारान् निरोधजाः स्वात्मानञ्च निर्दहन्ति ॥१८॥ तदेवं योगस्य

स्वरूपं भेदञ्च संक्षेपेणोपायं चाभिधाय विस्तरेणोपायं योगाभ्यास प्रदर्शनपूर्वकं वक्तुमुपक्रमते।

भोज वृत्ति का भा०--जिसके द्वारा वितर्कादिकों की चिन्ता को त्यागा जाता है उसे विराम कहते हैं। विराम रूप प्रत्यय अर्थात् ज्ञान को बारम्बार चित्त में धारण करने को विरामप्रत्ययाभ्यास कहते हैं। फलितार्थ यह हुआ कि सब वृत्तियों के निवारण करने को विराम-प्रत्ययाभ्यास कहते हैं। जिसमें विरामप्रत्ययाभ्यास हो जाता हैं उसे सम्प्रज्ञात समाधि और उससे जो विलक्षण समाधि हो उसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। असम्प्रज्ञात योग निर्बीज समाधि का ही नाम है। चित्त का परिणाम ४ प्रकार का है। व्युत्थान, समाधि, प्रारम्भ, निरोध और एकाग्रताक्षिप्त मूढ़ भूमिकाओं में जो चित्र का परिणाम रहता है उसे व्युत्थान कहते हैं, सत्वगुण से समाधि का प्रारम्भ होता है, समाधि के संस्कारों से व्युत्थान के संस्कारों का नाश होता है। समाधि प्रारम्भ के उत्पन्न हुए संस्कार एकाग्रता के संस्कारों से नाश होते हैं, ऐसे ही एकाग्रता के संस्कार निरोध से नष्ट हो जाते हैं, जैसे सोने में मिला हुआ सीसा आग में रखने से सोने के मैल को जलाकर आप भी जल जाता है ऐसे ही निरोध के संस्कार एकाग्रता के संस्कारों को नष्ट करके आप भी लय हो जाते हैं।

इस प्रकार से योग के भेद और संक्षिप्त रीति से उपाय दिखला कर योग के उपायों को विस्तार के साथ कहते हैं ॥१८॥

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥१९॥

पदार्थ--[भवप्रत्ययः] भव जो जगत् अथवा अविद्या उसका प्रत्यय अर्थात् ज्ञान जिसमें रहता है उसे भवप्रत्यय कहते हैं [विदेहप्रकृतिलयानाम्] विदेहप्रकृतिलयों को "भवतीति शेषः" होता है ॥१९॥

भावार्थ—भवप्रत्यय विदेहलय और प्रकृतिलयसंज्ञक योगियों को होता है।

व्यास भाष्य—विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः। ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति। तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्तते अधिकारवशाच्चित्तमिति ॥१६॥

पदार्थ--विदेहलय अर्थात् देहरहित जो आत्मसत्ता उसमें लय अर्थात् तत्पर योगी हैं वे विदेहलय कहाते हैं। कामादि शत्रु तथा निज इन्द्रियों को जीतने वालों को भव-प्रत्यय नामक समाधि होती है क्योंकि वे अपने संस्कार की सहायता से चित्त द्वारा मोक्ष के सुख भोगते हैं अपने संस्कार के फल को संस्कार के समान ही निर्वाह करते हैं अर्थात् जैसा उनका जन्मान्तरीय शुद्ध संस्कार होता है वैसे ही शुद्धाचरण तथा शुद्ध ध्यानादि भी रखते हैं। ऐसे ही अव्याकृत प्रकृति उसमें जो संलग्न योगी हैं वे अपने अधिकारयुक्त चित्त में प्रकृति में लीन होकर मोक्ष के सुख का अनुभव करते हैं, अर्थात् प्रकृति लय नामक योगी सांसारिक पदार्थों की सिद्धि को परम पद मान लेता है जब तक फिर न अपनी पूर्वावस्था में लौटकर आवे तभी तक वह मोक्ष सुख रहता है क्योंकि उसके चित्त में प्राकृत पदार्थों का अधिकार अर्थात् सम्बन्ध निवृत्त नहीं हुआ है ॥१६॥

भाष्य का भावार्थ—विदेहलय योगी अपने संस्कार मात्र से मोक्ष सुख को प्राप्त होते हैं क्योंकि जैसा उनका शुद्ध संस्कार होता है वैसा ही उनको शुद्ध फल भी मिलता है और प्रकृतिलय योगी तभी तक मोक्ष के सुख का स्वाद लेते हैं जब तक वे ध्यानावस्थित रहते हैं परन्तु जब उनका चित्त प्राकृतिक पदार्थों में अपने अधिकार के अनुसार लग जाता है तब वह सुख भी नहीं रहता ॥१६॥

भोज वृत्ति—विदेहाः प्रकृतिलयाश्च वितर्कादिभूमिकासूत्रे व्याख्याताः तेषां समाधिर्भवप्रत्ययः, भवः संसारः स एवं प्रत्ययः कारण यस्य स भवप्रत्ययः । अयमर्थः – आधिमात्रान्तर्भूता एव ते संसारे तथाविधसमाधिभाजो भवन्ति । तेषां परतत्त्वादर्शनाद् योगाभासोऽयम् । अतः परतत्त्वज्ञाने तद्भावनायाञ्च मुक्तिकामेन महान् यत्नो विधेय इत्येतदर्थमुपदिष्टम् ॥१६॥ तदन्येषान्तु—

भोज वृत्ति का भाष्य-विदेह और प्रकृतिलय योगियों का वर्णन पूर्व कर चुके हैं उनको समाधि भवप्रत्यय होती है । भव कहते हैं संसार को, वही है प्रत्यय अर्थात् कारण जिसका वह भव प्रत्यय कहाता है । फलितार्थ यह हुआ कि वह लोग आधिमात्र के अन्तर्गत हैं उनको समाधि होती है परन्तु वह परमतत्त्व परमेश्वर को नहीं देख सकते हैं । इसलिए उनकी समाधि योगाभास कहाती है । इस कारण से योगी को चाहिये कि परमतत्त्व के जानने से उसके ध्यान करने में मुक्ति पाने की इच्छा से महान् यत्न करे ॥१६॥

इन से भिन्न लोगों को अर्थात् जिन लोगों को अभी इच्छामात्र उत्पन्न हुई है उनकी समाधि सिद्धि का उपाय अगले सूत्र में कहते हैं ।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥२०॥

पदार्थ–(इतरेषाम्) विदेहलय और प्रकृतिलय नामक योगियों से भिन्न मुमुक्षुओं को (श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकः) श्रद्धा, उत्साह, स्मृति, एकाग्रचित्तता और यथार्थ ज्ञान से उपायप्रत्यय योग होता है ॥२०॥

भावार्थ—पूर्वोक्त योगियों से भिन्न मुमुक्षुओं को योग श्रद्धा, उत्साह, स्मृति, समाधि प्रज्ञा से होता है इसी से वह उपाय प्रत्यय कहाता है ॥२०॥

व्यास भाष्य—उपायप्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः संप्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य हि श्रद्धधानस्य विवेकार्थिनो, वीर्यमुपजायते। समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरूपतिष्ठते स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते। समाहितचित्तस्य प्रज्ञा विवेक उपावर्तते। येन यथार्थं वस्तु जानाति। तदभ्यासात्तत्तद्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति ॥२०॥ ते खलु नवयोगिनो मृदुमध्याधिमात्रोपाया भवन्ति। तद्यथा मृदूपायोमध्योपायोऽधिमात्रोपाय इति ॥२०॥

पदार्थ—उपायप्रत्यय नामक योग योगियों को होता है। यह पूर्व कह चुके हैं परन्तु कैसे योगी को होता है? चित्त की प्रसन्नता को श्रद्धा कहते हैं, उससे युक्त योगी ही उस योग का अधिकारी है। वह प्रसन्नतायुक्त क्योंकि वह श्रद्धा माता के समान हित चाहने वाले योगी की रक्षा करती है उस श्रद्धायुक्त सत्यासत्य जानने की इच्छा है जिसको ऐसे योगी को उत्साह उत्पन्न होता है जब उसको उत्साह होता है फिर उसे स्मृति अर्थात् उत्तम २ स्मरण होता है और स्मृति के स्थिर होने से चित्त आनन्दमय होकर (समाधीयते) सावधान हो जाता है। सावधान चित्त वाले को बुद्धि और सत्यासत्य का विचार उत्पन्न होता है, जिससे ठीक अर्थात् जैसी जो है वैसी ही वस्तु को जानता है। इस विवेक के अभ्यास से और इस ही का निरन्तर चिन्तन रहने से वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि होती है निश्चय वे नये योगी तीन प्रकार के अर्थात् १-मृदूपाय २ मध्योपाय ३-अधिमात्रोपाय होते हैं उनके स्पष्टार्थ लिखते हैं मृदु अर्थात् अल्प है उपाय जिसका, मध्यम है उपाय जिसका, अधिमात्र अर्थात् उत्तम उपाय वाला ॥२०॥

भाष्य का भावार्थ—पूर्व सूत्र में कहा था कि उपायप्रत्यय योग योगियों को होता है परन्तु वह मुमुक्षु योगियों को होता है अर्थात् पहिले योग में श्रद्धा होती है उससे चित्त प्रसन्न होता

है क्योंकि कल्याणकारिणी श्रद्धा योगी की माता के समान रक्षा करती है पश्चात् उस विवेक की इच्छा करने वाले श्रद्धालु योगियों को उत्साह उत्पन्न होता है। पश्चात् स्मृति उत्पन्न होती है। स्मृति के स्थिर हो जाने से प्रसन्नचित्त सावधान हो जाता है सावधान चित्त होने से बुद्धि और विवेक अर्थात् सत्यासत्य का विचार प्राप्त होता है जिससे सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है और इस बुद्धि और विवेक के अभ्यास तथा वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है, यह नूतन योगी तीन प्रकार के होते हैं—१-मृदूपाय २-मध्योपाय ३-अधिमात्रोपाय ॥२०॥

भोज वृत्ति—विदेहप्रकृतिलयव्यतिरिक्तानां योगिनां श्रद्धादिपूर्वकः श्रद्धादयः पूर्वे उपाया यस्य स श्रद्धादिपूर्वकः। ते च श्रद्धादयः क्रमादुपायोपेयभावेन प्रवर्तमानाः संप्रज्ञातसमाधेरुपायतां प्रतिपद्यन्ते। तत्र श्रद्धा योगविषये चेतसः प्रसादः। वीर्य्यमुत्साहः। स्मृतिरनुभूतासम्प्रमोषः। समाधिरेकाग्रता। प्रज्ञा प्रज्ञातव्यविवेकः तत्र श्रद्धावतो वीर्य्यं जायते योग विषय उत्साहवान् भवति। सोत्साहस्य च पाश्चात्त्यासुभूमिषु स्मृतिरुत्पद्यते। तत् स्मरणाच्च चेतः समाधीयते। समाहितचित्तश्च भाव्यं सम्यग्विवेकेन जानाति। त एते सम्प्रज्ञात समाधेरुपायाः। तस्याभ्यासात् पराच्च वैराग्यात् भवति असम्प्रज्ञातः ॥२०॥

उक्तोपायवतां योगिनां उपायभेदाद् भेदानाह।

भो० वृत्ति का भा०—विदेह और प्रकृतिलय (जिनका पिछले सूत्र में वर्णन हो चुका है) योगियों से भिन्न मुमुक्षुओं को श्रद्धा आदि के द्वारा समाधिसिद्धि होती है। श्रद्धादिक उपाय उपेय भाव से सम्प्रज्ञात योग के साधक होते हैं, योग के विषय में जो चित्त की प्रसन्नता होती है उसे श्रद्धा कहते हैं, उत्साह वीर्य्य कहाता है, सुने हुये विचार को न भूलना स्मृति, चित्त के एकाग्र रखने को समाधि, ज्ञेय पदार्थ के विवेक को प्रज्ञा कहते हैं। जब मनुष्य को योग में श्रद्धा

होती है तब उसके करने में उसे उत्साह भी बढ़ता है, उत्साहयुक्त मनुष्य को पिछले कर्मों की स्मृति होती है, पूर्व अनुभव के होने से चित्त की चंचलता जाती रहती है, जब चित्त एकाग्र होता है तब ध्यान करने योग्य विषयों में विवेक उत्पन्न होता है। इस प्रकार से श्रद्धादि सम्प्रज्ञात योग के उपाय हैं, इनके अभ्यास से और परम वैराग्य से असम्प्रज्ञात योग होता है ॥२०॥

ऊपर लिखे उपाययुक्त मुमुक्षुओं के उपाय भेद से जो भेद होते हैं उनका वर्णन अगले सूत्र में करते हैं।

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥२१॥

पदार्थ–(तीव्रसंवेगानाम्) जिनके उपाय का तीव्र संवेग है उनको (आसन्नः) समीप अर्थात् सुलभ है ॥२१॥

भावार्थ—उपायप्रत्ययसमाधि तीव्र संवेग वाले मुमुक्षु को शीघ्र सिद्ध होती है।

भाष्य—तत्र मृदूपायोपि त्रिविधो-मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेग इति। तथा मध्योपायस्तथाधिमात्रोपाय इति तत्राधिमात्रोपायानां-समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति ॥२१॥

भाष्य का पदार्थ–उनमें से मृदूपाय भी तीन प्रकार के हैं–मृदु अर्थात् लघु स्थिल है क्रिया की गति वा जन्मान्तरीय संस्कार जिसका, मध्य अर्थात् न मृदु न तीव्र है क्रिया और संस्कार जिसका, तीव्र अर्थात् बलवान् क्रिया और संस्कार वाला योग। ऐसे ही ३ भेद का मध्योपाय योग है, ऐसे ही ३ प्रकार का अधिमात्रोपाय योग है। उनमें से अधिमात्रोपाय से योग की प्राप्ति और योग का फल होता है ॥२१॥

भावार्थ–पूर्व लिखित मृदूपाय, मध्योपाय और अधिमात्रोपाय योगों में से मृदूपाय भी तीन प्रकार का है एक मृदुसंवेग दूसरा मध्यसंवेग और तीसरा तीव्रसंवेग ऐसे ही मध्योपाय और अधिमात्रोपाय के

री तीन २ भेद हैं इनमें से अधिमात्रोपाय से समाधि की प्राप्ति और समाधि का फल होता है ॥२१॥

भो० वृ०—समाधिलाभ इति शेषः। संवेगः क्रियाहेतुर्दृढतरः संस्कारः। स तीव्रो येषामधिमात्रोपायानां तेषामासन्नः समाधिलाभः, समाधिफलञ्चाऽऽसन्नं भवति शीघ्रमेव सम्पद्यते इत्यर्थः ॥२१॥ के ते तीव्रसंवेगा ? इत्याह—

भोजवृत्ति का भाष्य-तीव्र संवेग वालों को समाधि सिद्धि शीघ्र मिलती है, संवेग अर्थात् क्रिया का हेतु जो दृढ़ संस्कार है वह है तीव्र जिनका अर्थात् दृढ़ उपाय वालों को समाधि और समाधि का फल समीप होता है अर्थात् शीघ्र प्राप्त होता है ॥२१॥

अगले सूत्र में तीव्र संवेग वालों के भेद वर्णन करेंगे।

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥२२॥

पदार्थ–(मृदुमध्याधिमात्रत्वात्) मृदु, मध्य और अधिमात्र (ततोऽपि) उनसे भी (विशेषः) विशेष भेद हैं ॥२२॥

भावार्थ—मृदूपाय, मध्योपाय और अधिमात्रोपाय। इनके भी विशेष भेद हैं ॥२२॥

व्यास भाष्य-मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति। ततोऽपि विशेषस्तद्विशेषान् मृदुतीव्र संवेगस्याऽऽसन्नः, ततो मध्यतीव्रसंवेगस्याऽऽसन्नतरः, तस्मादधिमात्रतीव्रसंवेगस्याधिमात्रोपायस्याप्यासन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलं चेति ॥२२॥

किमेतस्मादेवाऽऽसन्नतमस्समाधिर्भवति अथास्य लाभे भवति अन्योऽपि कश्चिदुपायो न वेति।

पदार्थ—मृदुतीव्र, मध्यतीव्र और अधिमात्रतीव्र उससे अर्थात् एक आसन्न समीप से अधिक होता है उसके अधिक समीप होने से

मृदुतीव्र संवेग के समीप उससे मध्यतीव्रसंवेग के अति समीप
अधिमात्रतीव्र संवेगयुक्त अधिमात्रोपाय के अत्यन्त ही समीप है असंप्र
समाधि की प्राप्ति और समाधि का फल क्या इस ही से अत्यन्त सा
समाधि होती हैं अथवा इसके प्राप्त होने पर समीप होती है और
कोई उपाय हैं वा नहीं ? ॥२२॥

भावार्थ—पूर्व सूत्र में मृदूपाय, मध्योपाय और अधिमात्रो
और इन्हीं तीनों के तीन भेद अर्थात् मृदूपाय, मृदुसंवेग, मृदूपायम
संवेग, मृदूपायतीव्रसंवेग आदि कहे थे और यह भी कहा था कि
संवेग के आश्रय से समाधि सुलभ होती है परन्तु जब मृदु, मध्य
अधिमात्र के योग से तीव्र संवेग भी तीन प्रकार का हुआ तब उ
सुलभ कहना भी ठीक भान नहीं होता है इसलिये मृदूपायतीव्रसं
से सुलभ मध्योपायतीव्रसंवेग से अति सुलभ और अधिमात्रोपाय ती
संवेग से अत्यन्त सुलभ सम्प्रज्ञात समाधि होती है । अब यह प्र
होता है कि उपायप्रत्यय योगियों को समाधि लाभ करने का यही ए
उपाय है वा कोई और भी उपाय है ? ॥२२॥

भोज वृत्ति—तेभ्य उपायेभ्यो मृद्वादिभेदभिन्नेभ्य उपाय
विशेषो भवति । मृदुर्मध्योऽधिमात्र इत्युपायभेदाः । ते प्रत्येकं मृदुसंवे
मध्यसंवेगतीव्रसंवेगभेदात् त्रिधा । तद्भेदेन च नवयोगिनो भव
मृदूपायो मृदुसंवेगोमध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च । मध्योपायो मृदुसंवे
मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च । अधिमात्रोपायो मृदुसंवेगो मध्यसंवे
स्तीव्रसंवेगश्च । अधिमात्रोपाये तीव्रसंवेगे च महान् यत्नः कर्त
इति भेदोपदेशः ॥२२॥ इदानीमेतदुपायविलक्षणं सुगममुपायान्त
दर्शयितुमाह ।

भोज वृ० का भाष्य—मृदु, मध्य और अधिमात्र यह उपा
के भेद हैं, यह तीनों उपाय मृदुसंवेग, मध्यसवेग और तीव्रसंवेग के भे
से तीन प्रकार के हैं । इस रीति से योगी ९ प्रकार के होते हैं-

१-मृदूपाय मृदुसंवेग, २-मृदूपाय मध्यसंवेग, ३-मृदूपाय तीव्रसंवेग, ४-मध्योपाय मृदुसंवेग, ५-मध्योपाय मध्यसंवेग, ६-मध्योपाय तीव्रसंवेग, ७-तीव्रोपाय मृदुसंवेग, ८-तीव्रोपाय मध्यसंवेग, ६-तीव्रोपाय तीव्रसंवेग। फलितार्थ यह हुआ कि मुमुक्षुको तीव्रोपाय तीव्रसंवेग वाला होना चाहिये।

इन उपायों से भिन्न समाधि सिद्धि का एक सुगम उपाय अगले सूत्र में लिखते हैं—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

पदार्थ—(ईश्वरप्रणिधानात्) ईश्वर की उपासना से (वा) अथवा ॥२३॥

भावार्थ—अथवा ईश्वर की भक्ति से असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

व्यास भाष्य—प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्त-मनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण। तदभिध्यानादपि योगिन आसन्न-तमस्समाधिलाभः समाधिफलञ्च भवतीति ॥२३॥ अथ प्रधान-पुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरोनामेति ?

पदार्थ—चिन्तन से (इसही का अर्थ भाष्यकार करते हैं) (भक्तिविशेष से) भली प्रकार से जाना गया ईश्वर उस ध्यान करने वाले योगी पर अनुग्रह करता है केवल ध्यान से ॥ २३ ॥ अब प्रश्न होता है कि प्रधान पुरुष अर्थात् सर्वव्यापक से भिन्न ईश्वर नामक यह कौन है ?

भावार्थ—ईश्वर भक्ति-विशेष अर्थात् निरन्तर चिन्तन से प्रकाशित होकर योगी पर कृपा करता है जिससे योगी को असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ होता है ॥ २३ ॥ अब यह प्रश्न होता हैं कि प्रधान पुरुष से भिन्न यह ईश्वर कौन है ?

भो० वृ०—ईश्वरो वक्ष्यमाणलक्षणः, तत्र प्रणिधानं भक्तिवि
विशिष्टमुपासनम् सर्वक्रियाणां तत्रार्पणं विषयसुखादिकं फलमनि
सर्वाः क्रियास्तस्मिन्परमगुरावर्पयति तत् प्रणिधानं समाधेस्तत्फललाः
च प्रकृष्ट उपायः ॥ २३ ॥

ईश्वरस्य प्रणिधानात् समाधिलाभ इत्युक्तम् । तत्रेश्वरस्य स्व
प्रमाणं प्रभावं वाचकम् उपासनाक्रमं तत् फलञ्च क्रमेण वक्तुमाह ।

भो० वृ० भा०—आगे (२४ सूत्र में) जिसके लक्षण क
उसके प्रणिधान अर्थात् भक्तिविशेष से योग सिद्ध होता है, भक्तिवि
का अर्थ उपासना है अर्थात् विषयभोग की इच्छा को त्याग कर
क्रियाओं को उसही परम गुरु में अर्पण कर देनी उपासना कहात
ईश्वर की उपासना से समाधि और समाधि का फल प्राप्त होता है ॥२

ईश्वर प्रणिधान से समाधि की प्राप्ति कही परन्तु वह ईश्वर
है ? उसका प्रभाव कैसा है ? उसका वाचक कोई शब्द है वा न
उसकी उपासना की क्या रीति है ? क्रमसे इसका उत्तर आगे लिखते हैं

क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

पदार्थ—(क्लेशकर्म्मविपाकाशयैः) क्लेश कर्म्म त
कर्म्मफल और संस्कार से (अपरामृष्टः) असंबद्ध (पुरु
विशेषः) जीव से भिन्न (ईश्वरः) ईश्वर कहाता है ॥२४

भावार्थ—जिसमें क्लेश, कर्म, कर्मके फल तथा संस्कारों
सम्बन्ध नहीं है वह जीव से भिन्न ईश्वर है ॥ २४ ॥

व्यास भाष्य—अविद्यादयः क्लेशाः । कुशलाकुशला
कर्माणि । तत्फलम् विपाकः । तदनुगुणा वासना आशयाः । ते
मनसि वर्त्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति

यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः । कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः । ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्यम्प्राप्ता ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी । यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य । यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिस्सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य । स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति । योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति । तस्य शास्त्रं निमित्तम् । शास्त्रं पुनः किं निमित्तं ? प्रकृष्टसत्त्व-निमित्तम् । एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिः सम्बन्धः । एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति । तच्च तस्यैश्वर्य्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम् । न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते यदेवातिशयी स्यात्तदेव तत्स्यात् । तस्माद्यत्र काष्ठा-प्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वर इति । न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति । कस्मात्, द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्विति एकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वे प्रसक्तम् । द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत्कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति । अर्थस्य विरुद्धत्वात् तस्माद्यस्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्य्यं स एव ईश्वरः । स च पुरुषविशेष इति ॥२४॥

पदार्थ—क्लेश अविद्यादिक अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश को कहते हैं, शुभ और अशुभ कर्म्म उन शुभा-शुभ कर्म्मों के फल को विपाक कहते हैं । उन कर्म्म फलोंके अनुसार जो वासना होती है उसे आशय कहते हैं और वे मन में रहते हैं परन्तु जीवात्मा में लगाये जाते हैं क्योंकि वह जीवात्मा उन कर्म्मों के फल तथा वासना के फल का भोक्ता है । जैसे जीतना या हारना योद्धाओं में रहता है, स्वामी अर्थात् राजा में लगाया जाता है इस प्रकार से जो उन

कर्म्म फल तथा आशय से सम्बन्ध रहित है जीव से विशेष ईश्वर है। तो अनेक केवली मोक्ष को प्राप्त हुये कर्म्म बन्धन से मुक्त हैं क्योंकि वे लोग तीनों कर्मबन्धन अर्थात् शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक अथवा प्रारब्धसञ्चित और क्रियमाण आदि कर्म्मोंके बन्धन को काट कर मोक्ष को प्राप्त हुये हैं। ईश्वर का कर्म्मफलादि सम्बन्ध न था और न होगा। जैसे मुक्ति को प्राप्त हुये मनुष्य की प्रथम बन्धनयुक्त अवस्था जानी जाती है परन्तु ईश्वर में बन्धकोटि नहीं मालूम होती है जैसे प्रकृतिलीन योगी को योगावस्था के पश्चात् बन्धकोटि निश्चय की जाती है ईश्वर को ऐसी नहीं। वह तो सब कालमें बन्धन रहित है किसी काल में उसका ऐश्वर्य्य नष्ट नहीं होता। जो यह सर्वोत्तम बलादि युक्त नित्य ऐश्वर्य्य है वह क्या कारण सहित है या विना कारण के है? उस उत्कर्ष अर्थात् ऐश्वर्य्य का वेद ही निमित्त है फिर शास्त्रका निमित्त क्या है? सर्वोत्तम ऐश्वर्य्य उसका निमित्त है। इन दोनों शास्त्र और उत्कर्ष का ईश्वर की सत्ता में विद्यमान रहने वालों का नित्य सम्बन्ध है। इससे यह सिद्ध होता है पुरुष विशेष सदा ऐश्वर्य्ययुक्त सदा बन्धन रहित है और उसका ऐश्वर्य्य समानता और अधिकता से रहित है अर्थात् उसके समान वा अधिक किसी का ऐश्वर्य्य नहीं है वैसा दूसरे ऐश्वर्य्य से (अतिशय्यते) ईश्वर होसकता है। जो ही अक्षय ऐश्वर्य्यवान् हो वही ईश्वर होगा। इस लिये जिसमें ऐश्वर्य्य की सीमा न हो वह ईश्वर है क्योंकि समान गुणवाले दो का एक ही काल में विचार करने से यह नया है. यह पुराना है, एक की सिद्धि होने से दूसरे की प्रकामता अर्थात् वह ऐश्वर्य्य कि जिस से किसी प्रकार की इच्छा पूर्तिमें भंग न हो उसके नष्ट होने ही से न्यूनता सिद्ध हुई समान गुण वाले दो पदार्थों की इच्छारूप एकता सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि दोनों पदार्थों के गुण में अवश्य कुछ भेद होगा इसलिये जिसका समानता व न्यूनता से रहित ऐश्वर्य्य है वह ईश्वर है और वह जीव से भिन्न है॥ २४ ॥

भाष्य का भावार्थ—अविद्यादि को क्लेश और पाप पुण्यको कर्म्म कहते हैं एवं कर्म्म के फल विपाक और फलानुसार वासना आशय कहलाती है वे आशय यद्यपि मन में होते हैं तथापि जीव में आरोपित किये जाते हैं क्योंकि जीव ही उनके फल का भोक्ता है जैसे संग्राम में जीत और हार योद्धाओं की होती है परन्तु राजा में आरोपित की जाती है, जो इन क्लेशादिकों से सम्बन्ध रहित है वह जीव से भिन्न व्यापक परमेश्वर है, (प्रश्न)—बहुत से केवली लोग* मोक्ष को प्राप्त हुये हैं, वे लोग तीनों बन्धनों को काट कर कैवल्य पद को प्राप्त हुये हैं उनसे भिन्न एक ईश्वर क्यों मानना ? (उत्तर)—जैसे केवली लोगों को प्रथम बंधन था पश्चात् बंधन से मुक्त हुये जब ईश्वर बने परन्तु ईश्वर में बंधन न कभी था न है और न होगा, वह सदैव मुक्त और सदैव ईश्वर रहता है (प्र०) अच्छा तो प्रकृतिलीन योगी तो ईश्वर हो सकते हैं क्योंकि उनमें पूर्व बन्धकोटि भान नहीं होती (उ०) नहीं वह भी ईश्वर नहीं हो सकते क्योंकि उनको उत्तरकाल में अवश्य बंधन होगा (प्र०) ईश्वर को जो नित्य अविनाशी ऐश्वर्य्य है वह सनिमित्त है वा निर्मित है (उ०) सनिमित्त (प्र०) उसका कौन निमित्त है ? (उ०) उसका निमित्त वेद है (प्र०) वेद का निमित्त क्या है ? (उ०) ईश्वरीय ज्ञान, ऐश्वर्य्य और वेद का ईश्वर से अनादि सम्बन्ध है क्योंकि गुण और गुणी का नित्य सम्बन्ध होता हैं इस से यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर सदा मुक्त और सदैव ऐश्वर्य्य-युक्त है परन्तु ऐश्वर्य्य उसका तुलना से रहित हैं क्योंकि दूसरे ऐश्वर्य्य से उसकी समानता नहीं हो सकती क्योंकि जिस में अधिक ऐश्वर्य्य होगा वही ईश्वर होगा। इसलिये जिसमें ऐश्वर्य्य की सीमा हो वही ईश्वर है क्योंकि उसके समान ऐश्वर्य्य दूसरे में नहीं है वे जैसे दो वस्तुओं का उत्पत्तिकाल विचारने को एकही समय में प्रवृत्त हों तो अवश्य यह सिद्ध हो जायगा कि यह वस्तु नई और यह पुरानी है जब एक का नूतनत्व

---

*केवली जैन मतवालों के तीर्थंकरों को कहते हैं।

सिद्ध हुआ तब न्यूनता भी सिद्ध होगई इसलिये जिसमें ऐश्वर्य्य की परा-काष्ठा हो और जिसका ऐश्वर्य्य समानता रहित हो वही ईश्वर है ॥२४॥

भो० वृ०—क्लिश्नन्तीति क्लेशा अविद्यादयो वक्ष्यमाणाः। विहित-प्रतिषिद्धव्यामिश्ररूपाणि कर्म्माणि। विपच्यन्त इति विपाकाः कर्मफलानि जात्यायुर्भोगाः। आफलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इत्याशया वासनाख्याः संस्काराः तैरपरामृष्टः त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृष्टः। पुरुषविशेषः, अन्येभ्यः पुरुषेभ्यो विशिष्यत इति विशेषः। ईश्वर ईशनशील इच्छामात्रेण सकल-जगदुद्धरणक्षमः। यद्यपि सर्वेषामात्मनां क्लेशादिस्पर्शो नास्ति तथाऽपि चित्तगतस्तेषामुपदिश्यते। यथा योद्धृगतौ जयपराजयौ स्वामिनः। अस्य तु त्रिष्वपि कालेषु तथा विधोऽपि क्लेशादिपरामर्शो नास्ति। अतः स विलक्षण एव भगवानीश्वरः तस्य च तथाविधमैश्वर्य्यमनादेः सत्त्वोत्कर्षात्। सत्त्वोत्कर्षश्चास्य प्रकृष्ट ज्ञानादेव। न चानयोर्ज्ञानैश्वर्य्ययोरितरेतराश्रयत्वं, परस्परानपेक्षत्वात्। ते द्वे ज्ञानैश्वर्ये ईश्वरसत्त्वे। वर्तमाने अनादिभूते। तेन च तथा विधेन सत्त्वेन तस्यानादिरेव सम्बन्धः। प्रकृति पुरुषसंयोगवियोगयोरी-श्वरेच्छाव्यतिरेकेणानुपपत्तेः। यथेतरेषां प्राणिनां सुख दुःख मोहात्मकतया परिणतं चित्तं निर्म्मले सात्त्विके धर्म्मानुपप्रख्ये योगि शरीरे प्रतिसंक्रान्तं चिच्छाया संक्रान्ते संवेद्यं भवति नैवमीश्वरस्य। तस्य केवल एव सात्त्विकः परिणाम उत्कर्षवान् अनादिसम्बन्धेन भोग्यतया व्यवस्थितः। अतः पुरुषान्तरविलक्षणतया स एव ईश्वरः। मुक्तात्मनान्तु पुनः क्लेशादियोगस्तैस्तैः शास्त्रोक्तै रुपायैर्निवर्त्तितः। अस्य पुनः सर्वदैव तथाविधत्वान्न मुक्तात्म-तुल्यत्वम्। न चेश्वराणामनेकत्वं, तेषां तुल्यत्वे भिन्नाभिप्रायत्वात् कार्यस्यैवानुपपत्तेः उत्कर्षापकर्षयुक्तत्वे य एवोत्कृष्टः स एवेश्वरः तत्रैव काष्ठा प्राप्तत्वादैश्वर्यस्य ॥ २४ ॥

एवमीश्वरस्यस्वरूपमभिधाय प्रमाणमाह।

भो० वृ० का भा०—जीव जिनके द्वारा दुःख पावें वे क्लेश कहाते हैं, वे अविद्यादि वा क्लेश आगे कहे जायेंगे। कर्म्म, वेदमें लिखे

वा निषेध किये हुए अथवा दोनों मिले हुए जो पकते हैं वह विपाक अर्थात् कर्म्म फल कहे जाते हैं वे कर्म्म-फल जन्म, आयु और भोग हैं। फल भोगने तक जो चित्त में रहे उसे आशय कहते हैं सो वासना त्मक संस्कार है इन सब से जो तीन काल में स्पर्श न रखता हो वह पुरुष अर्थात् जीवों से विशेष अर्थात् विलक्षण ईश्वर अर्थात् इच्छामात्र से जो सम्पूर्ण जगत् का उद्धार करने में समर्थ है। यद्यपि सब जीवों का क्लेश से स्पर्श नहीं है तौ भी मनुष्यों के चित्त में जो क्लेश होते हैं वह जीव में आरोपित किये जाते हैं जैसे जीत और हार सिपाहियों में रहती है तो भी राजा में आरोपित की जाती है ऐसे ही चित्त के क्लेश जीवों में आरोपित होते हैं। परन्तु तीन काल में भी किसी प्रकार से क्लेश ईश्वर को स्पर्श नहीं कर सकते हैं, इस कारण से भगवान ईश्वर जीवों से विलक्षण है। ईश्वर का ऐश्वर्य्य अनादि होने के कारण से सब से उत्तम है क्योंकि ज्ञानयुक्त है। यदि कोई शंका करे कि ज्ञान और ऐश्वर्य्य क्या परस्पर आश्रित हैं, अर्थात् जहां ऐश्वर्य होगा वहाँ ज्ञान अवश्य होगा ? फलितार्थ यह हुआ कि ज्ञान के विना ऐश्वर्य नहीं होता और ज्ञान के विना ऐश्वर्य होना असम्भव है अतएव दोनों में अन्योन्याश्रयदोष आता है ? इसका उत्तर यह है कि इन दोनों में अन्योन्याश्रय दोष नहीं है क्यों कि वह दोनों परस्पर सापेक्ष नहीं हैं, ज्ञान और ऐश्वर्य ईश्वर से अनादि काल से हैं अर्थात् जैसे ईश्वर अनादि है ऐसे ही उसका ऐश्वर्य ज्ञान भी अनादि है, इससे ज्ञान और ऐश्वर्य का ईश्वर से अनादि सम्बन्ध है क्योंकि प्रकृति और पुरुष का संयोग वियोग ईश्वरेच्छा के बिना नहीं हो सकता है। जैसे और जीवों का चित्त सुख और दुःख तथा मोह से पूर्ण रहता है और सत्त्वगुणयुक्त होकर धर्म्मात्मा भावमें परिणत होता (बदलता) है ऐसे ईश्वर का

नहीं होता क्योंकि उसमें सदा सत्त्वगुण रहता है इस हेतु से जीवों विलक्षण ईश्वर है।

मुक्तजीवों को बारम्बार क्लेशों का सम्बन्ध शास्त्रोक्त उपा से दूर करना पड़ता है परन्तु ईश्वर में क्लेशों का सम्बन्ध न और न होगा इससे मुक्त जीवों से भी ईश्वर विलक्षण है, अने ईश्वर होने का सन्देह भी नहीं करना चाहिये क्योंकि अनेक ईश होने से उनके ऐश्वर्य की तुलना की जायगी उन में जो अधिक ऐश वान् होगा वही ईश्वर रहेगा क्योंकि ईश्वर में ऐश्वर्य का अन्त है ॥ २४ ॥

ईश्वर का स्वरूप कह के अब उसमें प्रमाण दिखाते हैं।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥२५॥

पदार्थ—(तत्र) उस ईश्वर में (निरतिशयम्) अत्य अर्थात् सीमाप्राप्त (सर्वज्ञबीजम्) सम्पूर्ण ज्ञान कारण ॥ २५ ॥

भावार्थ—उस ईश्वर में ज्ञान की अवधि भी बोधक है ॥२५

व्यास भाष्य—यदिदमतीतानागतम् प्रत्युत्पन्नं प्रत्येकस च्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्विवर्द्धमानं निरतिशयं स सर्वज्ञः। अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य साति यत्वात् परिमाणवदिति। यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः। स पुरुषविशेष इति। सामान्यमात्रोपसंहारे च कृतोपक्षयमनुमा विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति। तस्यसंज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिराग पर्यन्वेष्या। तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजन ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरि

मीति । तथाचोक्तम् –आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति ॥ २५ ॥ स एषः—

भाष्य का पदार्थ—जो यह भूत भविष्यत् वर्त्तमान रूप समुदाय जो इन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सकता किन्तु मन और बुद्धि से जिस ज्ञान का सम्बन्ध है थोड़ा वा अधिक सर्वज्ञता का मूल है। यही ज्ञान बढ़ा हुआ जिसमें अतिशय से रहित अर्थात् ज्ञान की सीमा हो जाय वह सर्वज्ञ है, ज्ञान की सीमा अधिक होने के कारण से तोल वा संख्या के समान जिसमें ज्ञान की सीमा हो वह सर्वज्ञ है और वह सर्वज्ञ पुरुष विशेष है यह सामान्य ज्ञान में सामान्य दृष्ट अनुमान किया है विशेष निश्चय में नहीं। उस सर्वज्ञ परमेश्वर (संज्ञादिप्रतिपत्तिः) अभिधान अर्थात् गुणानुसार व्यापक विष्णु आदि नामों का निर्णय वेद से विचारना चाहिये। उस पुरुष विशेष का अपना हित साधन नहीं करते भी प्राणियों का हित साधन ही प्रयोजन है। ज्ञान के उपदेश और धर्म्म के उपदेश से नित्य प्रलय अर्थात् जब प्राण और शरीर का वियोग होता है और महाप्रलय अर्थात् समस्त कार्य पदार्थों का जब कारण में लय होगा जीवों का उद्धार करूंगा—ऐसा ब्राह्मण ग्रन्थों में भी लिखा है। प्रथम विद्यावित् परमेश्वर ने वेद विद्या के प्रकाश करने की रुचि को स्थिर करके अनुग्रह से ईश्वर ने (परमर्षि) परम ऋषि अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानमय ने (आसुरये) जीव को (तन्त्रं) वेद उपदेश किया ॥ २५ ॥

भावार्थ—भूत भविष्यत् वर्त्तमान काल का जो ज्ञान है यद्यपि वह अतीन्द्रिय है तथापि मन से ग्रहण होता है, वह ज्ञान प्राणी मात्र को होता है चाहे स्वल्प हो वा अधिक हो परन्तु होता सबको है, वही ज्ञान बढ़ते बढ़ते जिसमें अवधि को प्राप्त हो जाय वही सर्वज्ञ है। ज्ञान की भी अवधि होती है क्योंकि जो वस्तु घटती बढ़ती है उसकी अवधि भी

अवश्य होती है जैसे परिमाण में न्यूनाधिक्य होता है तो उसमें अ
भी होती है। बस जिसमें ज्ञान की अवधि होती है वही सर्वज्ञ ईश्व
यह सामान्य से सर्वज्ञता का अनुमान है विशेष निश्चय वेदादि सत्य-
से करना योग्य है। यद्यपि परमेश्वर को ज्ञानोपदेश वा धर्म्मोपदे
स्वार्थ कुछ नहीं है क्योंकि वह पूर्णकाम है परन्तु ज्ञानोपदेश
धर्म्मोपदेश से प्राणियों पर कृपा करना ही प्रयोजन है अर्थात् उ
यही अभिलाषा होती है कि मैं नित्य प्रलयादि में जीवों का उ
करूं—ऐसा ही लिखा भी है। आदि विद्वान् परमेश्वर ने प्राणियों
कृपा करके जीव को वेदोपदेश किया॥ २५॥

भोज वृत्ति—तस्मिन् भगवति सर्वज्ञत्वस्य यद्वीजमतीतानाग
दिग्रहणस्याल्पत्वं महत्वं च मूलत्वाद्वीजमिव बीजं तत्तत्र निरति
कार्ष्ठां प्राप्तम्। दृष्टा ह्यल्पत्वमहत्वादीनां धर्म्माणां सातिशयानां का
प्राप्तिः। यथा परमाणावल्पत्वस्याऽऽकाशे परममहत्त्वस्य। एवं ज्ञानाद्यो
चित्तधर्म्मास्तारतम्येन परिदृश्यमानाः क्वचिन्निरतिशयतामासादयन्ति
यत्र चैते निरतिशयाः स ईश्वरः। यद्यपि सामान्यमात्रेऽनुमानस्य पर्य्यव
तत्वान्न विशेषावगतिः सम्भवति तथाऽपि शास्त्रादस्य सर्वज्ञत्वादयो विशे
अवगन्तव्याः। तस्य स्वप्रयोजनाभावे कथं प्रकृतिपुरुषयोः संयोगवियोग
बापादयतीति नाऽऽशंकनीयं, तस्य कारुणिकत्वाद्भूतानुग्रह एव प्रयोजन
कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु निःशेषान् संसारिण उद्धरिष्यामीति तस्याध्यवसाय
यद्यस्येष्टं तत्तस्य प्रयोजनमिति॥ २५॥

एवमीश्वरस्य प्रमाणमभिधाय प्रभावमाह।

भोज वृ० का भाष्य—उस परमेश्वर में सर्वज्ञता का जो बी
है भूत और भविष्यत् ज्ञान की अधिकता और न्यूनता जो बीज
समान है वह परमेश्वर में सीमा को प्राप्त होगई है। जैसे सूक्ष्मता
सीमा (हद) परमाणु में और स्थूलता की सीमा आकाश में है, ऐ

ही ज्ञानादि चित्त के धर्म्मों की न्यूनता और अधिकता जीवों में देखा जाती है जिस में ज्ञान की अधिकता सीमा को प्राप्त होजाय वही ईश्वर है। यद्यपि सामान्य को देख कर विशेष का अनुमान किया जाता है तो ईश्वर के ज्ञान को देख कर उससे अधिक ज्ञान का अनुमान हो सकता है परन्तु शास्त्रों में उस से अधिक ज्ञान का अभाव लिखा है इस से ईश्वरनिष्ठ ज्ञान से अधिक ज्ञान का अनुमान करना केवल बुद्धि को भ्रम में डालना है। यहाँ पर ऐसी शङ्का भी न करनी चाहिये कि ईश्वर को तो कुछ प्रयोजन है ही नहीं तब वह क्यों सृष्टि को रचता है ? क्योंकि परमेश्वर दयालु है जीवों पर दया करना ही उसका अभीष्ट रहता है जो जिसका अभीष्ट होता है वही उसका प्रयोजन होता है ॥ २५ ॥

इस रीति से ईश्वर में प्रमाण दिखाके अगले सूत्र में प्रभाव कहते हैं—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥२६॥

पदार्थ—(सः) वह पूर्वोक्त ईश्वर (पूर्वेषामपि) पहिले ऋषियों का भी (गुरुः) उपदेशक है (कालेन) काल से (अनवच्छेदात्) खण्डन न होने के कारण ॥२६॥

भावार्थ—पूर्वोक्त गुणयुक्त परमेश्वर पूर्व महर्षियों का भी उपदेष्टा है क्योंकि उस में कालकृत सीमा नहीं है ॥ २६ ॥

व्यास भाष्य—पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते । यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः । यथाऽस्य सर्गस्याऽऽदौ प्रकर्षगत्यासिद्धः तथाऽतिक्रांतसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः॥२६॥

भाष्य का पदार्थ—पहिले गुरु अर्थात् शास्त्रप्रणेता ऋषि लोग समय से खण्डित अर्थात् सीमाबद्ध हो जाते हैं जिस में सीमाबद्ध

करने के अभिप्राय से समय नहीं पहुंचता है वह परमेश्वर पूर्व ऋ
का भी उपदेष्टा है जैसे सृष्टि के आदि में ज्ञानयुक्त था तैसे ही सृ
अन्त में भी निश्चय करना चाहिये ॥ २६ ॥

भा० का भावार्थ—प्रथम के गुरु लोग भी समयकृत सी
बद्ध हो जाते हैं अर्थात् उनकी उत्पत्ति का समय नियत है परन्तु उ
प्रथम कौन गुरु था यह शंका बनी रहती है. किन्तु ईश्वर में का
सीमा नहीं है अर्थात् जैसा वह अब है वैसा ही आदि सृष्टि में औ
से भी प्रथम ज्ञानयुक्त था और सृष्टि के अन्त में भी वैसा ही
एवम् सहस्रों सृष्टि व्यतीत होगईं और होंगी परन्तु उसका अपरि
ज्ञान तथा स्थिति हैं इसलिये कालकृत सीमावद्ध परमेश्वर नहीं है औ
ही कारण से परमेश्वर पूर्वज ऋषियों का भी गुरु है ॥ २६ ॥

भो० वृ०—आद्यानां स्रष्टॄणां ब्रह्मादीनामपि स गुरुः उप
यतः स कालेन नावच्छिद्यते अनादित्वात् । तेषां ब्रह्मादीनां पुन
मत्त्वादस्ति कालेनावच्छेदः ॥ २६ ॥

एवंप्रभावमुक्त्वा उपासनोपयोगाय वाचकमाह ।

भो० वृ० का भा०—जो अनेक विद्याओं को बनाने वा
से प्रथम उत्पन्न हुए ब्रह्मादिक हैं उनका भी वह परमेश्वर गुरु
उपदेश करने वाला है क्योंकि वह अनादि होने के कारण काल से
बंधता है, ब्रह्मादि पुराने हैं ऐसा कहने से उनके उत्पन्न होने के
की सीमा पाई जाती है ॥ २६ ॥ ईश्वर का प्रभाव कहके अगले सू
उस के वाचक का वर्णन करते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

पदार्थ—(तस्य) उस परमेश्वर का (वाचकः)
कराने वाला (प्रणवः) ओंकार है ॥ २७ ॥

भावार्थ—परमेश्वर का वाचक ओ३म् है ॥ २७ ॥

व्यास भाष्य-वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य। किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति। स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः। संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति। यथावस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनावद्योत्यते, अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति। सर्गान्तरेष्वऽपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते। सम्प्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते ॥ २७ ॥

विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः।

भा० का पदार्थ—जिसके द्वारा जाना जाता है वह वाचक और जो जाना जाता है वह वाच्य कहाता है। इस स्थल पर वाचक प्रणव और वाच्य ईश्वर है प्रणव का। क्या इसका संकेत अर्थात् मनुष्यों ने अपने बोध के लिये कल्पना मात्र वाच्य वाचकत्व नियत किया है; अथवा दीपक और प्रकाश के समान समवाय सम्बन्ध है ? इस स्थल में वाच्य और वाचक का अनादि सम्बन्ध है। संकेत तो केवल ईश्वर के स्थिर किये सम्बन्ध को प्रकाश करता है। जैसे ईश्वर द्वारा नियत पिता और पुत्र में सम्बन्ध संकेत से प्रकाशित किया जाता है-यह इसका पिता है यह इसका पुत्र है। अन्य सृष्टियों में भी वाच्य और वाचक में परस्पर सम्बन्ध शब्द शक्ति ही से प्रकाशित होता है इसके अनुसार ही संकेत किया जाता है क्योंकि शब्द और अर्थ नित्य हैं। नित्य अनादि है। शब्द और अर्थों का परस्पर सम्बन्ध यह शाब्दिक मानते हैं। वाच्य और वाचक का सम्बन्ध योगी लोग जानते हैं ॥ २७ ॥

भाष्य का भावार्थ—प्रणव वाचक और ईश्वर वाच्य है। (प्रश्न) ईश्वर और प्रणव का वाच्य-वाचक भाव केवल संकेतमात्र है

या दीपक और प्रकाश के समान सम्बन्ध है ? (उ०) ईश्वर और प्रणव का वाच्यवाचक सम्बन्ध साँकेतिक है परन्तु कल्पित नहीं किन्तु अनादि है क्योंकि संकेत भी ईश्वर में जो वाच्यभाव है उस सम्बन्ध को ही प्रकाश करता है, जैसे पिता और पुत्र का सम्बन्ध नियत है परन्तु संकेत विना प्रकाशित नहीं होता सो केवल इतना ही संकेत करना पड़ता है कि यह पुत्र और यह इस का पिता है यह संकेत अवश्य ईश्वर के नित्य सम्बन्ध में लगाना पड़ेगा। एवम् शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध शाब्दिक मानते हैं इस लिये योगी लोग भी प्रणव और ईश्वर में वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध नित्य मानते हैं ॥ २७ ॥

भो० वृ०—इत्थमुक्तस्वरूपेश्वरस्य वाचकोऽभिधायकः प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति नौति स्तौतीति वा प्रणव ओंकारस्तयोश्च वाच्यवाचकलक्षणः सम्बन्धो नित्यः संकेतेन प्रकाश्यते न तु केनचित् क्रियते, यथा पितापुत्रयोः विद्यमान एव संबन्धोऽस्यायं पिताऽस्यायं पुत्र इति केनचित् प्रकाश्यते ॥ २७ ॥ उपासनमाह।

भोजवृत्ति का भाष्य—जिसका पिछले सूत्रों में वर्णन कर चुके हैं, उसका वाचक अर्थात् कहने वाला प्रणव है, प्रणव का अर्थ यह है कि उत्तम रीति के साथ स्तुति की जाय जिसके द्वारा अथवा उत्तम रीति से जो स्तुति करे उसे प्रणव कहते हैं, प्रणव नाम ओ३म् का है। ओ३म् और ईश्वर का वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध (नित्य) अनादि है किन्तु वर्ण रूप संकेत से उसे प्रकाशित किया जाता है किन्तु बनाया नहीं जाता है जैसे पिता और पुत्र सम्बन्ध को कोई बनाता नहीं है किन्तु उसे प्रकाशित कर देते हैं ॥ २७ ॥ अब उपासना कहते हैं।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

पदार्थ—(तज्जपः) उस प्रणव का जप अर्थात् उच्चारण करना (तदर्थभावनम्) उसके अर्थ का विचारना है ॥ २८ ॥

भावार्थ--प्रणव के जप करने और अर्थ विचारने से समाधि-लाभ होता है ॥ २८ ॥

व्यास भाष्य--प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम् । तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्त-मेकाग्रं सम्पद्यते । तथाचोक्तम्-"स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वा-ध्यायमामनेत् । स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते" ॥२८॥ भवति इति किंचास्य--

भाष्य का भावार्थ--ओ३म् का प्रणव वाच्य ईश्वर की भावना अर्थात् विचार वा चिन्तन करना है। प्रणव का जप करने से और प्रणव का जो अर्थ ईश्वर है उसके चिन्तन से योगी का चित्त चंचलता रहित होजाता है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है स्वाध्याय अर्थात् वेद वा प्रणव के जप से "स्वाध्यायो जपउत्युक्तो वेदाध्ययन कर्म्मणि" योगाभ्यास करे योग अर्थात् समाधि होकर जप करे (स्वाध्याययोगसम्पत्त्या) स्वाध्याय और योग के बल से (परमात्मा प्रकाशते) ईश्वर का पूर्ण ज्ञान होता है ॥२८॥

भा० का भावार्थ--प्रणव के जप और प्रणव के अर्थ विचारने तथा प्रणव वाच्य ईश्वर के चिन्तन से योगी का चित्त एकाग्र होता है, प्रमाण, उपनिषत् ग्रन्थों में लिखा है कि जप से योग और योग से जप को सिद्ध करे तथा दोनों के बल से परमात्मा का पूर्ण ज्ञान होता है ॥२८॥

भो० वृ०--तस्य सार्द्धत्रिमात्रिकस्य प्रणवस्य जपो यथावदुच्चा-रणं तद्वाच्यस्य ईश्वरस्य भावनं पुनः पुनश्चेतसि विनिवेशनमेकाग्रताया उपायः । अतः समाधिसिद्धये योगिना प्रणवो जप्यस्तदर्थ ईश्वरश्च भावनीय इत्युक्तम् भवति ॥ २८ ॥

उपासनायाः फलमाह ।

भो० वृ० का भा०--उस साढ़े तीन मात्रा वाले प्रणव का जप अर्थात् उसका ठीक रीति से उच्चारण करना और उसके वाच्य परमेश्वर

का चिन्तन अर्थात् उसका बारम्बार हृदय में ध्यान करना एकाग्र
का उपाय है, इसलिये समाधि सिद्धि के वास्ते योगी को प्रणव का
करना चाहिये और उसके अर्थ अर्थात् ईश्वर का ध्यान करना चाहि
॥ २८ ॥ उपासना का फल कहते हैं—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥

पदार्थ—(ततः) तब (प्रत्यक्चेतनाधिगमः) परमे श्वर का ज्ञान होता है (अन्तरायाभावश्च) और विघ्नों का अभाव भी हो जाता है ॥ २९ ॥

भावार्थ—तब योगी के विघ्न नष्ट हो जाते हैं और ईश्वर का पूर्ण ज्ञान हो जाता है ॥ २९ ॥

व्यास भाष्य—ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वर प्रणिधानान्न भवन्ति । स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति । यथैवेश्वर परुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथाऽयमपि बुद्धेः प्रति संवेदी यः पुरुषस्तमधिगच्छति ॥ २९ ॥

अथकेऽन्तराया ये चित्तस्य विक्षेपाः । के पुनस्ते कियन्तो वेति।

भा० का पदार्थ—जितने विघ्न हैं शरीर के रोग आदि वे ईश्वर की भक्ति से नहीं होते ईश्वर के रूप का दर्शन भी योगी को होता है जैसा कि ईश्वर सर्वव्यापक है अर्थात् कर्म्मफल से रहित, अविद्यादि क्लेशों से रहित, अद्वितीय, जन्म मृत्यु रहित ऐसे ही यह योगी भी बुद्धि से जानने योग्य जो ईश्वर है उसको जान लेता है । अब विघ्न कौन हैं जो चित्त के बिगाड़ने वाले हैं उनके नाम क्या हैं और वे कितने हैं यह अगले सूत्र में कहते हैं ॥ २९ ॥

भावार्थ—जितने योग में विघ्नकारक रोगादि हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं और योगी को ईश्वर के स्वरूप का दर्शन भी होता है अर्थात्

जैसा ईश्वर सर्वव्यापक आनन्दमय और अद्वितीय है वैसा ही यथार्थ ज्ञान योगी को होजाता है । अब यह भी विचारना चाहिये कि योग में विघ्न कौन और कितने हैं सो अगले सूत्र में इसका वर्णन करते हैं ॥२९

भो० वृ०—तस्माज्जपात्तदर्थं भावनाच्च योगिनः प्रत्यक् चेतनाधिगमो भवति विषयप्रातिकूल्येन स्वान्तः करणाभिमुखमञ्चति या चेतना दृक्शक्तिः सा प्रत्यक्चेतना तस्या अधिगमो ज्ञानं भवति । अन्तरायावद्यमाणास्तेषामभावः शक्तिप्रतिबन्धोऽपि भवति ॥ २९ ॥

अथ केऽन्तराया ? इत्याशङ्कायामाह ।

भो० वृ० का भा०—चिन्तन अर्थात् उसका बारम्बार हृदय में ध्यान करना एकाग्रता का उपाय है, इस लिये समाधि सिद्धि के वास्ते योगी को प्रणव का जप करना चाहिये और उसके अर्थ अर्थात् ईश्वर का ध्यान करना चाहिये ॥ २९ ॥ अब विघ्नों को कहते हैं—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरति-भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

सूत्र का पदार्थ-(व्याधिस्त्यान संशयप्रमादालस्य विपरीत-भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि) रोगादि शारीरिक विघ्न, स्त्यान सुस्ती संशय, प्रमाद आलस्य, (अविरति) व्यापार रहित होजाना (भ्रान्ति दर्शन) मिथ्याज्ञान, अलब्धभूमि, अर्थात् योगाभ्यास की विशेष भूमि का प्राप्त न होना (अनवस्थितत्व) ध्येय ईश्वर में चित्त का स्थिर

न होना (चित्तविक्षेपाः) चित्त के विक्षेप हैं (ते) वही (अन्तरायाः) योग के विघ्न हैं ॥ ३० ॥

सू० का भा०—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, आलब्ध भूमिकत्व और अनवस्थितत्व, चित्त के विक्षेप और योग में विघ्न हैं ॥ ३० ॥

व्यास भाष्य--नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः । सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्त्येतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः । व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम् । स्त्यानमकर्म्मण्यता चित्तस्य । संशय उभयकोटिस्पृग्विज्ञानं स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति । प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम् । आलस्यं कायस्य चित्तस्य गुरुत्वादप्रवृत्तिः । अविरतिश्चित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मा गर्धः । भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम् । अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः । अनवस्थितत्वं यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा । समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति । एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते ॥ ३० ॥

भा० का पदार्थ–नौ विघ्न चित्त के विक्षेप होते हैं इनके न होने से नहीं होते । व्याधि उसे कहते हैं जो शरीरस्थ धातु और रस के बिगड़ने से शरीर में विकलता होती है । स्त्यान उस विघ्न को कहते हैं जिसमें चित्त कर्म्म रहित होने की इच्छा करता है संशय उस ज्ञान को कहते हैं जो दोनों पक्षों को स्पर्श करे अर्थात् कभी कहे यह ठीक है कभी कहे दूसरा ठीक है । योग के साधन अर्थात् उपायों को चिन्तन न करने को प्रमाद कहते हैं, आलस्य उसे कहते हैं जो शरीर वा चित्त के भारीपन से चेष्टारहित हो जाना है । अविरति उस वृत्तिको कहते हैं जिस में चित्त विषय के संसर्ग से आत्मा को मोहित या प्रलोभित कर देता है । विपरीत अर्थात् उल्टे ज्ञान को भ्रान्तिदर्शन कहते हैं । अलब्धभूमिकत्व

उसे कहते हैं कि जिससे समाधि की भूमि की प्राप्ति नहीं होती, अनवस्थितत्व उसे कहते हैं कि जिससे प्राप्त हुई भूमि में चित्तकी स्थिति नहीं होती समाधि के प्राप्त होने पर चित्त स्थिर हो जाता है संख्या में नौ चित्त विक्षेप योग के निवारण हैं अर्थात् योग के शत्रु यही योगान्तराय अर्थात् योग के विघ्न कहलाते हैं ॥ ३० ॥

भावार्थ—चित्त के विक्षेप स्वयम् योग के विघ्न नहीं हैं किन्तु चित्तवृत्तियों के साथ मिलकर विघ्नकारक होते हैं और वृत्तियों के अभाव में बाधक नहीं हो सकते। विक्षेप ये हैं—व्याधि वह है जो शरीर के धातु और रसादि के बिगड़ने से शरीर में अस्वस्थता होती है, स्त्यान वह है जिसमें चित्त चेष्टारहित हो जाता है, संशय उसे कहते हैं जिस में दो विषयों में भ्रम होता है कि यह करना उचित है वा वह करना उचित है। समाधि के साधनों के चिन्तन न करने को प्रमाद कहते हैं। आलस्य वह कहाता है कि जिसमें चित्त और शरीर भारीपन से चेष्टारहित होने की इच्छा करता है। अविरति वह है जिसमें चित्त विषय संसर्ग से आत्मा को मोहित कर देता है। भ्रान्तिदर्शन विपर्य्यय ज्ञान को कहते हैं। समाधि-भूमि की अप्राप्ति को अलब्धभूमिकत्व कहते हैं और अनवस्थितत्व उसे कहते हैं जिससे योग भूमि प्राप्त होने पर भी चित्त उसमें स्थिरता को प्राप्त नहीं होता। इन्हीं चित्त-विक्षेपों को योगप्रतिपक्ष, योगान्तराय भी कहते हैं ॥ ३० ॥

भो० वृ०—नवैते रजस्तमोबलात् प्रवर्त्तमानाश्चित्तस्य विक्षेपा भवन्ति। तैरेकाग्रताविरोधिभिश्चित्तं विक्षिप्यत इत्यर्थः। तत्र व्याधिर्धातु-वैषम्यनिमित्तो ज्वरादिः। स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य। उभयकोट्यालम्बनं ज्ञानं संशयो योगःसाध्यो न वेति। प्रमादोऽनवधानता समाधिसाधनेष्वौदासीन्यम्। आलस्यं कायचित्तयोर्गुरुत्वं योगविषये प्रवृत्त्यभावहेतुः। अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्धः। भ्रान्तिदर्शनं शुक्तिकायां

रजतवद्विपर्य्ययज्ञानम् । अलब्धभूमिकत्वं कुतश्चिन्निमित्तात् समाधि भूमेरलाभोऽसंप्राप्तिः । अनवस्थितत्वं लब्धायामपि भूमौ चित्तस्य तत्राप्रतिष्ठा । त एते समाधेरेकाग्रताया यथायोगं प्रतिपक्षत्वादन्तराया इत्युच्यन्ते ॥ ३० ॥ चित्तविक्षेपकारकानन्यानप्यन्तरायान् प्रतिपादयितुमाह

भोजवृत्ति का भाष्य-रजोगुण और तमोगुण के संसर्ग से उत्पन्न हुए नौ चित्त विक्षेप हैं । इन एकाग्रता के विरोधियों में चित्त विक्षिप्त हो जाता है, इन में से व्याधि वह कहाती है जो धातुओं की विषमता अर्थात् न्यूनता वा अधिकता से उत्पन्न होती है जैसे ज्वर आदि का, चित्त का ऐसा हो जाना जो किसी काम के करने योग्य न रहे । योग मुझे सिद्ध होगा वा नहीं ? ऐसे दो प्रकार के ज्ञानों का धारण करना संशय कहाता है । सावधान न रहने को प्रमाद कहते हैं जैसे योग करने में उदासी दिखाना । शरीर और चित्त के भारी रहने को आलस्य कहते हैं विषयों की प्राप्ति में जो लोभ होता है उसे अविरति कहते हैं । भ्रान्ति दर्शन वह है जिस से सीप में चाँदी का ज्ञान होता है । किसी कारण से योग की भूमि को न पाना अलब्धभूमिकत्त्व कहाता है योग भूमि के प्राप्त होने पर भी चित्त के उसमें स्थिर न रहने को अनवस्थितत्त्व कहते हैं ये सब समाधि के विरोधी हैं अतएव इन्हें विघ्न कहते हैं ॥ ३० ॥ चित्त को विगाड़ने वाले और विघ्नों का भी वर्णन करते हैं ।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

सूत्र का पदार्थ—(दुःख दौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वास-प्रश्वासाः) तीनों प्रकार के दुःख, दौर्मनस्य मन का क्षोभित होना, अङ्गमेजयत्व जो अङ्गों को कम्पित करे, श्वास वायु

का इन्द्रियों के द्वारा खींचना, प्रश्वास वायु का निकालना (विक्षेपसहभुवः) विक्षेप के संग यह उत्पन्न होते हैं ॥३१॥

भावार्थ—दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास, विक्षिप्त चित्तवालों को होते हैं ॥ ३१ ॥

व्यास भाष्य—दुःखमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकञ्च । येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम् । दौर्मनस्यमिच्छाविघाताच्चेतसः क्षोभः । यदङ्गान्येजयति कम्पयतितदङ्गमेजयत्वम् । प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः । यत्कौष्ठ्यं । वायुं निःसारयति स प्रश्वासः । एते विक्षेपसहभुवो विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति । समाहित चित्तस्यैते न भवन्ति ॥ ३१ ॥ अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यांनिरोद्धव्याः । तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह ।

भाष्य का पदार्थ—इन्द्रियां जिसमें पीड़ित हों जो मन और शरीरादि में रोग होते हैं जो दूसरे प्राणी अर्थात् व्याघ्र वा चोर आदि से होते हैं जो दैवकृत दुःख है जिससे, पीड़ित हुए प्राणी-समुदाय उसके नाश करने को प्रयत्न करता है उस दुःख को ही दौर्मनस्य कहते हैं, जो इच्छाभंग होने से मन में क्षोभ अर्थात् अप्रसन्नता उत्पन्न होती है जो शरीर के अङ्गों को कँपाता है वह अङ्गमेजयत्व कहाता है। प्राणवायु जो बाहर की वायु को खींचता है वह श्वास कहा जाता है। जो उदर के वायु को बाहर निकालता है वह प्रश्वास कहाता है। (एते) ये विक्षेप विक्षेप के साथ उत्पन्न होते हैं । विक्षिप्त चित्त वाले को यह होते हैं सावधान चित्त वाले को ये नहीं होते ॥ ३१ ॥

अत्र विचारना चाहिये ये विक्षेप योग के शत्रु हैं इनको अभ्यास और वैराग्य से रोकना वा निवृत्त करना चाहिये उनमें से अभ्यास के विषय को वर्णन करते हुए अगला सूत्र कहते हैं ।

भाषार्थ—दुःख तीन प्रकार के हैं—आध्यात्मिक, आधिभौति और आधिदैविक । दुःख का सामान्य लक्षण यह है कि जिससे पीड़ि होकर प्राणी उसके नाश करने का प्रयत्न करता है उसे दुःख कहते हैं दौर्मनस्य उसे कहते हैं कि जो इच्छाभंग होने से मनमें क्षोभ उत्प होता है । तीसरा विक्षेप अङ्गमेजयत्व है इसका लक्षण यह है कि अङ्गों को कँपावे उसको अङ्गमेजयत्व कहते हैं । चौथा श्वास, जि बाहर की वायु को खींचा जाता है उसे श्वास कहते हैं । पाँचवाँ प्रश्व जिससे उदरस्थ वायु को बाहर निकाला जाता है । यह विक्षेप विक्षि अर्थात् चञ्चल चित्त वालों को होते हैं और सावधान चित्त वालों नहीं होते ये विक्षेप योग के शत्रु हैं इस लिये इन्हें अभ्यास और वैरा से निरुद्ध करना उचित है । अभ्यास का लक्षण अगले सूत्र कहते हैं ॥ ३१ ॥

भोज वृत्ति—कुतश्चिन्निमित्तादुत्पन्नेषु विक्षेपेषु एते दुःखाद प्रवर्त्तन्ते । तत्र दुःखं चित्तस्य राजसः परिणामो बाधनालक्षणः । यद्बाध प्राणिनस्तदुपघाताय प्रवर्त्तन्ते । दौर्मनस्यं बाह्याभ्यन्तरैः कारणैर्मन दौस्थ्यम् । अङ्गमेजयत्वं सर्व्वाङ्गीणो वेपथुरासनमनः स्थैर्य्यस्य बाधक प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः । यत् कौष्ठ्यं वायुं निःश्वसि स प्रश्वासः । त एते विक्षेपैः सह प्रवर्तमाना यथोदिताभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्या इत्येषामुपदेशः ॥ ३१ ॥

सोपद्रवविक्षेपप्रतिषेधार्थमुपायान्तरमाह ।

भोज वृ० का भाष्य—किसी कारण से यदि विघ्न उत्पन्न जाते हैं तो दुःखादि योगी को आ घेरते हैं, इनमें से दुःख वह कहाता जो रजोगुण से उत्पन्न होता है और प्राणियों को सताता है जिस सताये हुए प्राणी उसके नाश का उद्योग करते हैं उसे दुःख कहते हैं दौर्मनस्य उसे कहते हैं जिसमें बाह्य वा आभ्यन्तर कारणों से मन चञ्च हो जाय अङ्गमेजयत्व वह है जिसमें सब अङ्ग काँपने लगें ऐसे आ

से भी मन स्थिर नहीं होता है। वायु को जो बाहर निकाला जाता है उसे श्वास कहते हैं। प्रश्वास वायु के भीतर खींचने को कहते हैं। यह सब विघ्नों के साथ उत्पन्न होने वाली भूमिका है। प्रथम कहे हुए अभ्यास और वैराग्य से इनका निरोध करना चाहिये इस ही उपदेश के लिये सूत्रकार ने इन्हें लिखा है॥ ३१॥

उपद्रवसहित विघ्नों के निवारण का दूसरा उपाय लिखते हैं—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः॥ ३२॥

पदार्थ—(तत्प्रतिषेधार्थम्) उसके दूर करने को (एकतत्त्वाभ्यासः) एक तत्त्व का अभ्यास करे॥ ३२॥

भावार्थ—उक्त विक्षेप भूमियों की निवृत्ति के लिये एक तत्व अर्थात् एकाग्रचित्तता वा एक ईश्वरस्मरण का अभ्यास करे॥ ३२॥

व्यास भाष्य—विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनं चित्तमभ्यसेत्। यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं नास्त्येव विक्षिप्तम्। यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतम्। योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मस्तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तंक्षणिकत्वात्। अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्म्मः। स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः। तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः। स्वभावभिन्नाः। प्रत्यया जायेरन्नथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्त्ता भवेत्। अन्यप्रत्ययोपचितस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत्। कथंचित् समाधीयमानमप्येतद्गोमयपायसीयन्यायमाक्षिपति। किञ्च

स्वात्मानुभवापह्नवश्चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति । कथं, यदहमद्रा तत्स्पृशामि यच्चास्प्राक्षं तत्पश्यामीत्यहमिति प्रत्ययः सर्व प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनोपस्थितः। एकप्रत्ययविषयो मभेदात्माऽहमिति । प्रत्ययः कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्त्तमा सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत् । स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्म ऽहमिति प्रत्ययः । न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेण भिभूयते । प्रमाणान्तरम् च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम् ॥ ३२ ॥ यस्य चित्तस्य वस्थितस्येदम् । शास्त्रेण परिकर्म्म निर्दिश्यते तत्कथम् ।

भाष्य का पदार्थ—चित्तविक्षेप के निवृत्त करने को एक परमेश्वर के तत्व अर्थात् ज्ञान के आश्रय के धारण और विचार मग्नता को चित्त से अभ्यास करे और जिसका चित्त एक विषय नियुक्त रहता है केवल ज्ञान मात्र क्षणिक चित्त है उसका । सम्पूर्ण चित्त एकाग्र नहीं है । विक्षिप्त चाहे हो परन्तु जब इस चित्त को स विषयों से हटाकर एक ध्येय में स्थिर किया जाता है । तब एकाग्र ह जाता है । इस कारण से एक एक विषय के लिये चित्त नियत नहीं जो समान ज्ञान के प्रवाह द्वारा चित्त को एकाग्र मानता है उसके चित्त की एकाग्रता यदि प्रवाह चित्त का गुण है तो चित्त एक नहीं हो सकता प्रवाह रूप चित्त क्षणिक होता है । यदि प्रवाहांश ज्ञान ही का गुण है तो वह सम्पूर्ण प्रवाह समान ज्ञान के प्रवाह वाला है या असमान ज्ञान प्रवाह वाला है ? प्रत्यर्थ नियत होने के कारण यदि एकाग्र है तो विक्षिप्त चित्त सिद्ध नहीं हो सकता । इस लिये एक ही अनेक विषयों में स्थित है वह चित्त है और जो एक ही चित्त से सम्बन्धरहित अर्थात् भिन्न स्वभाव के ज्ञात होते हों तो किस प्रकार से और के देखे हुये पदार्थ का दूसरा स्मरण करने वाला हो सकता है । दूसरे के द्वारा जो संग्रह किये

गये कर्म्म उनके फलों का दूसरा भोग करने वाला हो जायगा तो किसी प्रकार से एकाग्र चित्त होने पर भी गोमयपायसाय न्याय अर्थात् खीर और गोबर की जनश्रुति के अनुसार हो जायगा। जैसे किसी ने सुना कि गाय से खीर बनती हैं और दुग्ध से बनी खीर खाई भी परन्तु पुनर्बार उसने गाय के गोबर को चावलों में मिला कर अग्नि में सिद्ध करके खाना आरम्भ कर दिया और अपने आत्मा के अनुभव में मिथ्यात्व चित्त की भिन्नता में प्राप्त होती है। यदि कहते हैं कि भिन्न हैं तो जो मैंने देखा था उसे छूता हूं और जिसे छुआ था उसे देखता हूं इन स्थलों में जो 'मैं' का ज्ञान है वह कैसे अत्यन्त भिन्न चित्तों में वर्त्तमान सामान्य रीति से एक ज्ञानी को आश्रय कर सकता है। अपने अनुभव से ग्रहण करने योग्य यह एक ही आत्मा 'अहम्' ज्ञान से जाना जाता है और न प्रत्यक्ष प्रमाण का माहात्म्य अर्थात् प्रबलता दूसरे प्रमाण से खण्डित होती है और दूसरे अनुमानादि प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण के आश्रय ही से सिद्ध होते हैं इस कारण से जो एक अनेक विषयों में अवस्थित अर्थात् प्रस्त हो (चितम्) उसे चित्त कहते हैं।

भाष्य का भावार्थ-पूर्व सूत्र में कहे जो दुःखादि विक्षेप हैं, उनके निवृत्त करने को एक अद्वितीय ईश्वर का चिन्तन करे। परन्तु चिन्तन में चित्त एकाग्र होना चाहिये। यदि कोई कहे कि अनेक विषयों में भ्रमण करना चित्त का स्वाभाविक गुण है उसका एक ज्ञात वा अज्ञात विषय में स्थिर होना असम्भव है तो उसे पूछना चाहिये कि यदि भ्रमण चित्त का स्वाभाविक गुण है तो जब सब विषयों से खींच कर चित्त को एक विषय में लगाते हैं तब एकाग्र क्यों हो जाता है? एकाग्र होजाने से सिद्ध होता है कि चित्त प्रत्यर्थ नियत नहीं है, और ऐसा मानते हैं कि विषय प्रवाह में चित्त एकाग्र होता है अर्थात् एक ही विषय के अवान्तर भेदों में चित्त की गति को एकाग्रता कहते हैं तो उनसे यह प्रश्न है कि चित्त क्या पदार्थ है? यदि कहें कि चिन्तन को चित्त कहते हैं तो विषय प्रवाह

क्षणिक होने से भी क्षणिक हुआ और जो एकाग्रता प्रवाहांश का धर्म्म मा
तो चित्त वह सम्पूर्ण सदृश प्रत्यय प्रवाह है ? वा विसदृश प्रत्यय प्रवाह
यदि इन सब प्रश्नों के उत्तर में यह कहें कि एकाग्रता ही चित्त का गु
है तो विक्षिप्त चित्त सिद्ध हो सकता इस कारण से चित्त वह पदार्थ
कि जिस एक में क्षिप्त एकाग्रतादि अनेक गुण रहते हैं। यदि कहें कि
चित्त कोई पदार्थ नहीं है; किन्तु स्वभाव से भिन्न-भिन्न अनेक ज्ञान
उत्पन्न हुवा करते हैं, तो हम कहते हैं कि अन्य पुरुष के देखे हुए
पदार्थों का अन्य पुरुष भोक्ता होजायँ परन्तु ऐसा जगत् में होना सृष्टि
क्रम के विरुद्ध है और यदि चित्त कोई पदार्थ न होता तो किसी प्रकार से
सावधान होने पर भी गोमयपायसीय न्याय की कहावत हो जायगी इसके
अतिरिक्त आत्मा के होने में भी सन्देह होने लगेगा क्योंकि जो मैंने देखा
था, उसे छूता हूं। जिसे छुआ था उसको देखता हूं, स्मरण का आधार
कोई नहीं है अर्थात् जिस ज्ञान से भिन्न एक पदार्थ अवश्य है क्योंकि
प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होता है और प्रत्यक्ष प्रमाण को अन्य प्रमाणों से
कोई खण्डन नहीं कर सकता किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण के आश्रय से अन्य
प्रमाण भी सिद्ध होते हैं। इस हेतु से चित्त वह पदार्थ है जिस से अनेक
विषयों का चिन्तन होता है। बस उसही को अनेक विषयों से हटाकर एक
ईश्वर या विषय में लगाने के लिये शास्त्र का उपदेश है। उसको
विषयों से हटाने का उपाय क्या है ? इसका उत्तर अगले सूत्र में
लिखते हैं ॥ ३२ ॥

भोज वृत्ति—तेषां विक्षेपाणां प्रतिषेधार्थमेकस्मिन् कस्मिंश्चिद-
भिमते तत्त्वेऽभ्यासश्चेतसः पुनः पुनर्निवेशनं कार्य्यः। यद्बलात्
प्रत्युदितायामेकाग्रतायां विक्षेपाः प्रणाशमुपयान्ति ॥ ३२ ॥

इदानीं चित्तसंस्कारापादकपरिकर्म्मकथनमुपायान्तरमाह।

भोज वृ० का भाष्य—उक्त विघ्नों को निवारण करने के लिये
किसी अपने प्यारे तत्व में अभ्यास करे अर्थात् चित्त बारम्बार एक ही

तत्व में ध्यान लगाये रहे । इस अभ्यास के बल से एकाग्रता के विघ्न नाश हो जाते हैं ॥ ३२ ॥ अब चित्त के संस्कारों को उत्पन्न करने वाले उपाय कहते हैं ।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्या-पुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥३३॥

सूत्र का पदार्थ—(मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम्) प्रीति, दया, प्रसन्नता और उपेक्षा की (सुखदुःखपुण्यापुण्यविषया-णाम्) सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापियों में (भावनातः) धारणा से (चित्तप्रसादनम्) चित्त प्रसन्न होता है ॥३३॥

सू० का भा०—सुखी से प्रीति, दुःखी पर दया, पुण्यात्मा पर प्रसन्नता और पापी का त्याग करने से चित्त सावधान होता है ॥ ३३ ॥

व्यास भाष्य—तत्र सर्वप्राणिषु सुखसम्भोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत् । दुःखितेषु करुणां । पुण्यात्मकेषु मुदिताम् । अपुण्य-शीलेषूपेक्षाम् । एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म्म उपजायते । ततश्च चित्तं प्रसीदति । प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥३३॥

भा० का पदार्थ--उन में से वे सब प्राणी जो सुख और सम्पत्ति से युक्त हैं उनसे मित्रता, दुःखियों में दया, पुण्य अर्थात् सुकर्म्म करने वालों में प्रसन्नता, दुष्ट कर्म्म करने वालों में त्याग अर्थात् उन से दूर रहने की भावना करे इस प्रकार से मनुष्य के भावना करने से चित्त प्रसन्न हुआ एक ईश्वर में स्थिति को प्राप्त करता है ॥ ३३ ॥

भावार्थ--सुख सम्भोगयुक्त प्राणियों में मैत्री, दुःखितों पर दया, पुण्यात्माओं में मुदिता और पापियों में उपेक्षा करने से शुद्ध धर्म्म की

प्राप्ति होती है उससे चित्त प्रसन्न होकर चित्त एकाग्र तथा स्थिर जाता है ॥ ३३ ॥

भो० वृ०—मैत्री सौहार्दम् । करुणा कृपा । मुदिता हर्ष उपेक्षौदासीन्यम् । एता यथाक्रमं सुखितेषु दुःखितेषु पुण्यवत्सु अपुण्यवत्सु च विभावयेत् । तथाहि सुखितेषु साधुषु एव सुखित्वमिति मैत्रीं कुर्य्यान्न तु ईर्ष्याम् । दुःखितेषु कथं नु नामैषां दुःखनिवृत्तिः स्यादिति कृपामेव कुर्य्यान्न ताटस्थ्यम् । पुण्यवत्सु पुण्यानुमोदनेन हर्षं कुर्य्यान्न तु किमेते पुण्यवन्त इति विद्वेषम् । अपुण्यवत्सु चौदासीन्यं भावयेन् नानुमोदनं न वा द्वेषम् । सूत्रे सुखदुःखादिशब्दैस्तद्वन्तः प्रतिपादिताः । तदेवं मैत्र्यादि परिकर्म्मणा चित्तो प्रसीदति सुखेन समाधेः आविर्भावो भवति । परिकर्म चैतत्बाह्यं कर्म्म । यथा गणिते मिश्रकादि व्यवहारो गणितनिष्पत्तये सङ्कलितादिकर्म्मोपकारकत्वेन प्रधानकर्म्म निष्पत्तये भवति एवं द्वेषरागादिप्रतिपक्षभूतमैत्र्यादिभावना समुत्पादितप्रसादं चित्तं संप्रज्ञातादिसमाधियोग्यं सम्पद्यते । रागद्वेषावेव मुख्यतया विक्षेपमुत्पादयतः । तौ चेत् समूलमुन्मूलितौ स्यातां तदा प्रसन्नत्वान्मनसो भवत्येकाग्रता ॥ ३३ ॥ उपायान्तरमाह ।

भो० वृ० का भा०—मैत्री (बन्धु-भाव), करुणा (पराया दुःख दूर करने की इच्छा), मुदिता (प्रसन्नता), उपेक्षा (उदासीनता त्याग) इन को क्रम से सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापी में व्यवहार करे अर्थात् सुखयुक्त साधुओं से प्रीति करे किन्तु ईर्ष्या न करे दुःखियों के दुःख को देख कर हँसी न करे, वरन् उनके दुःख दूर करने के उपाय सोचे, पुण्यात्माओं के पुण्य को देखकर प्रसन्न हो किन्तु दम्भ वश होके उन से विरोध न करे, पापियों से उदासीन रहे अर्थात् उनके कर्म्मों का अनुमोदन भी न करे और न उन से विरोध ही करे सूत्र में जो सुख और दुःख आदि शब्द लिखे हैं उन से तद्विशिष्ट जी

को समझना चाहिये । फलितार्थ यह हुआ कि मैत्री आदि कर्म्मों से चित्त में प्रसन्नता होती है और चित्त के प्रसन्न रहने से सुख प्राप्त होता है और सुख से समाधि लाभ होता है, यह कर्म्म यद्यपि ऊपरी कर्म्म है जैसे गणित में मिश्र और अमिश्र वा सामान्य व्यवहार (Compound) गणित के निर्णय करने के लिये हैं और वह जोड़ (Addition) आदि गणित की प्रधान क्रियाओं के उपकारक होते हैं ऐसे ही रागद्वेषादि को शान्त करने वाले मैत्री आदि कर्म्मों से चित्त शुद्ध प्रसन्नता का भागी होता है और उससे संप्रज्ञात समाधि के योग्य बन जाता है। राग और द्वेष ही विघ्नों के मुख्य उत्पन्न करने वाले हैं यदि वही जड़ सहित नष्ट होजायँ तो चित्त प्रसन्न होने से एकाग्र होजाता है ॥ ३३ ॥

अब दूसरा उपाय कहते हैं—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥३४॥

सूत्र का पदार्थ—(वा) या (प्राणस्य) प्राण वायु के (प्रच्छर्दन विधारणाभ्याम्) बलपूर्वक बाहर निकालने तथा पुनः खींचने से ॥ ३४ ॥

भावार्थ—अथवा प्राण वायु को बलपूर्वक बाहर निकालने और पुनः खींचने से अर्थात् प्राणायाम करने से चित्त एकाग्र होता है ॥३४॥

व्यास भाष्य—कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्न-विशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्, विधारणं प्राणायामः, ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत् ॥ ३४ ॥

भा० का पदार्थ—उदर में स्थित वायु क नाक के नथनों से अधिक प्रयत्न से बाहर निकालने को प्रच्छर्दन कहते हैं विशेष धारणा प्राण वायुको खींचकर निरोध करने को कहते हैं इन दोनों से मन की एकाग्रता प्राप्त करे ॥ ३४ ॥

भावार्थ—उदरस्थ प्राण वायु को नासिका के नथनों से प्रयत्न पूर्वक बाहर निकालने को प्रच्छर्दन और खींचने को विधारणा कहते हैं इन दोनों से मनकी स्थिरता करनी चाहिये ॥ ३४ ॥

भो० वृ०—प्रच्छर्दनं कौष्ठयस्य वायोः प्रयत्नविशेषान्मात्राप्रमाणेन बहिर्निःसारणम् । विधारणं मात्राप्रमाणेनैव प्राणस्य वायोर्बहिर्गति विच्छेदः । स च द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां बाह्यस्याभ्यन्तरापूरणेन पूरितस्य च तत्रैव निरोधेन । तदेवं रेचक-पूरक-कुम्भक भेदेन त्रिविधः प्राणायामश्चित्तस्य स्थितिमेकाग्रतायां निबध्नाति । सर्वासामिन्द्रियवृत्तीनां प्राणवृत्तिपूर्वकत्वात् । मनःप्राणयोश्च स्वव्यापारे परस्परमेकयोगक्षेमत्वाज्जीयमानः प्राणः समस्तेन्द्रियवृत्तिनिरोधद्वारेण चित्तस्यैकाग्रतायां प्रभवति । समस्तदोषक्षयकारित्वञ्चास्याऽऽगमे श्रूयते। दोषकृताश्च सर्वा विक्षेपवृत्तयः। अतो दोषनिर्हरणद्वारेणाप्यस्यैकाग्रतायां सामर्थ्यम् ॥ ३४ ॥ इदानीमुपायान्तरप्रदर्शनोपक्षेपेण संप्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वाङ्गम् कथयति—

भो० वृ० का भा०—प्रच्छर्दन का अर्थ है उदर स्थित वायु का विशेष यत्न से मात्रा के अनुसार बाहिर निकाल देना मात्रा के अनुसार ही अर्थात् गुरु जितनी वायु को पेट से बाहर निकालने को बतावे उससे अधिक वायु को न निकालना, मात्रा के अनुसार ही प्राण वायु के बाहर रोकने को विधारण कहते हैं। यहाँ इन दोनों अर्थात् प्रच्छर्दन और 'विधारण' में बाहर की वायु को भीतर भरने से भीतर खींची हुई वायु को भीतर ही रोकने से, इस रीति से पूरक, रेचक और कुम्भक तीन प्रकार के प्राणायाम होते हैं इन ही को करने से चित्त एकाग्र होता है। इन्द्रियोंकी जितनी वृत्तियाँ हैं वह सब प्राण की गति के आधीन रहती हैं। मन और प्राण और मन की गति और व्यवहार परस्पर ऐसे घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं कि एक दूसरे के आश्रित हैं बस प्राणायाम द्वारा या जब प्राण की गति रुक जाती है तब मन की

गति और इन्द्रियों की सब वृत्तियां रुक जाती हैं तब चित्त एकाग्र हो जाता है। वेदों में प्राणायाम को समस्त दोषों का नाशक लिखा है और विक्षेप अर्थात् योग में विघ्न करने वाली सब वृत्तियां दोष से उत्पन्न होती हैं, इस कारण दोषों को नाश करने के द्वारा भी प्राणायाम चित्त को एकाग्र करने में समर्थ है॥ ३४ ॥ अब चित्त को एकाग्र करने के और उपायों का वर्णन करना व्यर्थ समझ के संप्रज्ञात समाधि के पूर्व अङ्ग का वर्णन करते हैं—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ॥ ३५ ॥

पदार्थ—(विषयवती) दिव्य विषय वाली (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति (उत्पन्ना) उत्पन्न होकर (मनसः) मन की (स्थितिनिबन्धिनी) स्थिरता को स्थिर करती है ॥ ३५ ॥

भावार्थ—अथवा जब दिव्य विषय में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है तब मन स्थिर होता है॥ ३५ ॥

व्यास भाष्य–नासिकाग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित्सा गन्धप्रवृत्तिः। जिह्वाग्रे रससंवित्। तालुनि रूपसंवित्। जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्। जिह्वामूले शब्दसंविदित्येता वृत्तय उत्पन्नाश्चित्तं-स्थितौ निबध्नन्ति। संशयं विधमन्ति, समाधिप्रज्ञायाञ्च द्वारीभव-न्तीति। एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरश्म्यादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या। यद्यपि हि तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योप-देशैरवगतमर्थतत्त्वं सद्भूतमेव भवति, एतेषां यथाभूतार्थप्रतिपादन-सामर्थ्यात्, तथाऽपि यावदेकदेशोऽपि कश्चिन्न स्वकरणसंवेद्यो भवति तावत् सर्वं परोक्षमिवापवर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां

बुद्धिमुत्पादयति । तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशोपोद्बलनार्थ मेवावश्यं कश्चिदर्थविशेषः प्रत्यक्षीकर्त्तव्यः । तत्र तदुपदिष्टार्थैक देशप्रत्यक्षत्वे सति सर्वं सूक्ष्मविषयमपि आऽपवर्गाच्छ्रद्धीयते एतदर्थमेवेदं चित्तपरिकर्म्म निर्दिश्यते । अनियतासु वृत्ति तद्विषयायां वशीकारसंज्ञायामुपजातायां समर्थं स्यात्तस्य तस्यार्थस्य प्रत्यक्षीकरणायेति । तथा च सति श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधयोऽस्या प्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति ॥ ३५ ॥

भाष्य का पदार्थ—नासिका के अग्रभाग में धारणा करने वाले मनुष्य को जो दिव्यगन्ध का ज्ञान होता है, वह गन्ध की प्रवृत्ति है। जिह्वा के अग्रभाग में रस का ज्ञान, तालु में रूप का ज्ञान अर्थात् दिव्य दृष्टि। जिह्वा के मध्य भाग में स्पर्श-ज्ञान अर्थात् दिव्यत्वक्, जिह्वा के मूल भाग अर्थात् जड़ में शब्द ज्ञान अर्थात् दिव्य श्रवण शक्ति ये सब प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्त को स्थिति में युक्त करती हैं। संशय को दूर करती हैं और योगोपयोगिनी बुद्धि के द्वार होती हैं। इससे चन्द्रमा, सूर्य्य, तारागण, दीपक और रत्न आदिकों में प्रवृत्ति उत्पन्न होकर अपने अपने विषय को स्थिर करती हैं। इस प्रकार से प्रवृत्ति जाननी चाहिये। यद्यपि प्रत्येक शास्त्र, अनुमान और आचार्य के उपदेश से निश्चयपूर्वक जाना गया अर्थों का तत्व सत्य ही होता है। इन सब का यथार्थ रूप से प्रतिपादन योगशक्ति से होता है, तो भी जब तक किसी विषय का एक अंश भी अपने नेत्रादि इन्द्रियों में प्रत्यक्ष नहीं होता तब तक सम्पूर्ण परोक्ष के समान है। मोक्षादिकों में दिव्य पदार्थों में निश्चयात्मक बुद्धि को उत्पन्न करता है। इस लिये शास्त्र, अनुमान, आचार्य्यों के उपदेश के निश्चय करने को अवश्य कोई विशेष उपाय प्रत्यक्ष करना चाहिये। सूक्ष्म विषयों में से शास्त्र, अनुमान और आचार्य के उपदेश किये विषय के एक देश के प्रत्यक्ष होने से सम्पूर्ण दिव्य विषयों (मोक्ष पर्यन्त) पर विश्वास हो जाता है। इसही प्रयोजन से चित्त का एकाग्र करना उपदेश

किया जाता है यदि चित्त वृत्ति नियत न रहेगी अर्थात् विक्षिप्त वृत्ति रहेगी तो कुछ प्रत्यक्ष न होगा। जब उन विषयाकार वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब सूक्ष्म विषयों के प्रत्यक्ष करने की शक्ति हो जाती है और जब दिव्य विषय प्रत्यक्ष होते हैं श्रद्धा, उत्साह, स्मृति और समाधि होती है। चित्त के निग्रह न होने से श्रद्धादि नहीं होती हैं ॥ ३५ ॥

भाष्य का भावार्थ—नासिका के अग्र भाग में जो ध्यान करने से मनुष्य को दिव्य गन्ध का ज्ञान होता है वह गन्ध की प्रवृत्ति है। जिह्वा के अग्रभाग में रसका ज्ञान, तालु में रूप का ज्ञान अर्थात् दिव्य दृष्टि, जिह्वाके मध्य में स्पर्श अर्थात् दिव्य त्वक् जिह्वा की जड़ में शब्द ज्ञान अर्थात् दिव्य श्रवण शक्ति, यह सब प्रवृत्ति उत्पन्न होकर चित्तको स्थिति में युक्त करती हैं, संशयों को दूर करती हैं, योगोपयोगिनी बुद्धि का द्वार होती हैं, इससे चन्द्रमा सूर्य्य ग्रह मणि आदि में प्रवृत्ति उत्पन्न होकर अपने-अपने विषयों को स्थिर करती हैं। यद्यपि शास्त्र, अनुमान और गुरूपदेश से इन सब का यथार्थ ज्ञान होता है क्योंकि श्रवणादिकों में यथार्थ बोध की शक्ति है तथापि जिसका जब तक एक देश भी प्रत्यक्ष नहीं होता तब तक अत्यन्त सूक्ष्म मोक्षादि विषयों में दृढ़ बुद्धि नहीं उत्पन्न होती। इस लिये शास्त्र, अनुमान और गुरु के उपदेश को सत्य करने तथा उस में दृढ़ निश्चय उत्पन्न करने के लिये कोई विशेष प्रयत्न करना चाहिये। जब आचार्य्य के उपदेशादि में निश्चय हो जाता है तब अन्य मोक्षादि विषयों में भी श्रद्धा होती है। इस ही लिये यह चित्त निरोध के उपाय कहे जाते हैं, जब किसी विपर्य्यय ज्ञानका होना दुःसाध्य है ॥ ३५

भो० वृ०—मनस इति वाक्यशेषः। विषया गन्धरसरूपस्पर्शशब्दास्ते विद्यन्ते फलत्वेन यस्याः सा विषयवती प्रवृत्तिर्मनसः स्थैर्यं करोति। तथा हि—नासाग्रे चित्तं धारयतो दिव्यगन्धसंविदुपजायते। तादृश्येव जिह्वाग्रे रससंवित्। ताल्वग्रे रूपसंवित्। जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्। जिह्वामूले शब्दसंवित्। तदेवं तत्तदिन्द्रियद्वारेण तस्मिंस्तस्मिन् दिव्ये विषये

जायमाना संविच्चित्तस्यैकाग्रताया हेतुर्भवति । अस्ति योगस्य फलमि योगिनः समाश्वासोत्पादनात् ॥ ३५ ॥

एवंविधमेवोपायान्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—सूत्र में 'मनस' (मन की) शब्द लगा दे से वाक्य पूरा हो जाता है । पंचभूतों के विषय अर्थात् गन्ध, रस, रू स्पर्श और शब्द यह पाँचों जिस में फल रूप से रहते हों (अर्थात् चि वृत्तियों के यही फल हों) उसे विषयवती कहते हैं । यह विषयवती प्रवृ भी मन को स्थिर करती है । उसे नाक के अगले भाग में चित्त को स्थि करने से दिव्य गन्ध का ज्ञान होता है । वैसा ही जिह्वा के अग्रभाग मन को लगाने से दिव्य रस का ज्ञान होता है, तालु के अग्रभाग में रू का ज्ञान । जिह्वा के मध्य भाग में स्पर्श-ज्ञान और जिह्वा के मूल अर्था जड़ में चित्त को स्थिर करने से शब्द का ज्ञान होता है । इस ही प्रकार जिस तत्व को ग्रहण करने वाली जो इन्द्रिय है उसमें चित्तको स्थिर क से उस ही विषय का दिव्य ज्ञान उत्पन्न होता हैं और वही ज्ञान चित्त एकाग्रता का कारण हो जाता है उक्त दिव्य ज्ञानों के होने से योगी यह निश्चय हो जाता है कि योग से अवश्य फल प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

ऐसा ही और उपाय कहा है—

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

सूत्र का पदार्थ—(वा) या (विशोका) शोक रहित (ज्योतिष्मती) प्रकाश युक्त अथवा ज्ञानयुक्त ॥३६॥

भावार्थ—अथवा जब शोकरहित युक्त प्रवृत्ति उत्पन्न होती है तब मन स्थिर होता है ॥ ३६ ॥

व्यास भाष्य—प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनीत्य नुवर्त्तते । हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंवित्, बुद्धिसत्वं हि

भास्वरमाकाशकल्पं, तत्रस्थितिवैशारद्यात् प्रवृत्तिः सूर्य्येन्दुग्रह-मणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते। तथाऽस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति। यत्रेदमुक्तं-'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्याऽस्मीति एवं तावत् संप्रजानीते' इति। एषा द्वयी विशोका विषयवती, अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते। यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभते इति ॥ ३६ ॥

भा० का पदार्थ—उत्पन्न हुई प्रवृत्ति मनको स्थिर करने वाली होती है यह वाक्य पूर्व सूत्र से इस सूत्र में आता है। हृदय कमल में धारण अर्थात् ध्यान करने वाले का जो निश्चयात्मक-ज्ञान अथवा सुखदुःखादि का ज्ञान होता है उस में बुद्धि की सत्ता प्रकाशयुक्त आकाश के समान विस्तृत होती है उस हृदय कमल में उत्साहयुक्त सूक्ष्म प्रवृत्ति सूर्य्य चन्द्रमा ग्रह और मणिके, प्रकाश, रूप आकार में बदल जाती है। जब अस्मिता में चित्त स्थिर हो जाता है तरङ्ग रहित समुद्र के समान उपाधि रहित अनन्त ज्ञानयुक्त स्वच्छ अपने रूप में विचारशील होता* है। जिस अवस्था में यह कहा जाता है कि उस परमाणु के समान आत्मा को मैं जानता हूं अर्थात् परमेश्वर के यथार्थ ज्ञान को प्राप्त हुआ हूं। इस प्रकार से तब ऐसा ईश्वर को जानता है। यह दो प्रकार की विशोका (शोक रहित) और विषयवती लक्ष्यमें परिनिष्ठ अस्मितामात्र अर्थात् जिसमें जीव अपने वास्तविक रूपको जाने और ईश्वर के यथार्थ ज्ञान को प्राप्त हो जाय वह प्रवृत्ति ज्योतिष्मती कही जाती है जिस से योगी का चित्त स्थिर भाव को प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

भाष्य का भावार्थ—हृदयकमल अर्थात् हृदयाकाश में जब प्राणधारणा की जाती है तब योगी को निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति होती है। बुद्धि अर्थात् निश्चयात्मक-ज्ञान प्रकाशयुक्त और आकाश के समान

---

* इस योग को अस्मितानुग कहते हैं।

विस्तृत होता है, उसमें स्थिर होने से सूर्य्य, चन्द्रमा, ग्रह और मणि के प्रकाश के समान जाज्वल्यमान ज्ञान प्राप्त होता है। तब चित्त अस्मिता में अर्थात् अपने रूप ज्ञान में स्थिर होता है और उसकी दशा इस दशा में तरंग-रहित महासागर के समान शान्त और निश्चल होता है। तब जीव यह समझता है कि मैंने उस सूक्ष्मतर परमात्मा को भी जाना है और अपने स्वरूप को भी समझा है। इस प्रवृत्ति को ज्योतिष्मती कहते हैं। ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के उत्पन्न होने से योगी का चित्त स्थिर होता है ॥ ३६ ॥

भोज वृत्ति—प्रवृत्तिरुत्पन्ना चित्तस्य स्थितिनिबन्धिनीति वाक्यशेषः। ज्योतिःशब्देन सात्त्विकः प्रकाश उच्यते। स प्रशस्तो भूयानतिशयवांश्च विद्यते यस्यां सा ज्योतिष्मती प्रवृत्तिः। विशोका विगतः सुखमयसत्त्वाभ्यासवशाच्छोको रजःपरिणामो यस्याः सा विशोका चेतसः स्थितिनिबन्धिनी। अयमर्थः—हृत्पद्मसम्पुटमध्ये प्रशान्तकल्लोलक्षीरोदधिप्रख्यं चित्तसत्त्वं भावयतः प्रज्ञालोकात् सर्ववृत्तिपरिक्षये चेतसः स्थैर्यमुत्पद्यते ॥३६॥ उपायान्तरप्रदर्शनद्वारेण सम्प्रज्ञातसमाधेर्विषयं दर्शयति

भो० वृ० का भा०—सूत्र में 'प्रवृत्ति उत्पन्न हुई चित्त को स्थिर करती है' इतने शब्द और लगाने से वाक्य पूरा होता है। ज्योति शब्द से सात्विक प्रकाश कहा है वह सात्विक प्रकाश जिस में अत्यन्त अधिक हो उसे ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहते हैं। विशोक का अर्थ यह है कि सुखमय योगाभ्यास से दूर हो गया है शोक जिस से ऐसी प्रवृत्ति जब उत्पन्न होती है तब चित्त को स्थिर कर देती है। अभिप्राय यह है कि हृदय कमल के बीच में प्रशान्त महासागर के समान चित्त विचारयुक्त एवं प्रकाशमय जब होता है तब सब वृत्तियाँ क्षय हो जाती हैं और उस चित्त स्थिर हो जाता है ॥ ३६ ॥ चित्त की स्थिरता का दूसरा उपाय दिखाने के बहाने से संप्रज्ञात समाधि का विषय दिखाते हैं—

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥३७॥

पदार्थ—(वीतरागविषयम्) रागादि विषय से शून्य (वा) या (चित्तम्) चित्त।

भावार्थ—अथवा जब चित्त राग से मुक्त हो जाता है, तब वह मनकी स्थिरता का हेतु होता है।

व्यास भाष्य—वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तं वा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३७ ॥

भा० का पदार्थ—वीतराग योगी का आलम्बन से उपरक्त चित्त स्थिरता को प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

भा० का भावार्थ—वीतराग योगी का आलम्बन से उपरक्त चित्त स्थिरता को प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

भोज वृ०—मनसः स्थितिनिबन्धनं भवतीति शेषः । वीतरागः परित्यक्तविषयाभिलाषस्तस्य यच्चित्तं परिहृतक्लेशं तदालम्बनीकृतं चेतसः स्थितिहेतुर्भवति ॥ ३७ ॥ एवं विधमुपायान्तरमाह—

भोज वृ० का भा०—विषयों का अभिलाष जिसने त्याग दिया है ऐसे वीतराग का क्लेशरहित जो चित्त उसका आलम्बन करने से भी चित्त स्थिर होता है ॥ ३७ ॥ इसी प्रकार का अन्य उपाय कहते हैं—

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥३८॥

पदार्थ—(वा) या (स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनम्) स्वप्न के समान अथवा निद्रा के समान ज्ञान के आश्रय से ॥ ३८ ॥

भावार्थ—अथवा जैसे स्वप्नावस्था और सुषुप्ति (गाढ़ नि॰ में जागृत् अवस्था विषयका ज्ञान और इन्द्रिय चाञ्चल्य नष्ट होजा॰ ऐसे ही ज्ञान के आश्रय से जब योगी की बाह्यवृत्ति नष्ट होजा॰ तब चित्त स्थिर होता है ॥ ३८ ॥

व्यास भाष्य—स्वप्नज्ञानालम्बनं वा निद्राज्ञानालम्बनम्॰ तदाकारं योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३८ ॥

भा० का पदार्थ—स्वप्न के समान ज्ञान के आश्रय से अ॰ अवस्था के ज्ञान के समान होने से योगी का चित्त स्थिरता को॰ करता है ॥ ३८ ॥

भावार्थ—स्वप्नावस्था के ज्ञान के समान ज्ञान में मग्न॰ और सुषुप्ति अवस्था के ज्ञान के समान ज्ञान में मग्न होने से योगि॰ चित्त स्थिर होता है ॥ ३८ ॥

भो० वृ०—प्रत्यस्तमितबाह्येन्द्रियवृत्तेर्मनोमात्रेणैव यत्र भो॰ त्वमात्मनः स स्वप्नः। निद्रा पूर्वोक्तलक्षणा। तदालम्बनम् स्वप्नाल॰ निद्रालम्बनं वा ज्ञानमालम्ब्यमानं चेतसः स्थितिं करोति ॥ ॰ नानारुचित्वात् प्राणिनां यस्मिन् कस्मिंश्चिद्वस्तुनि योगिनः श्रद्धा भ॰ तस्य ध्यानेनापीष्टसिद्धिरिति प्रतिपादयितुमाह ॥ ३८ ॥

भो० वृ० का भा०—जिस में इन्द्रियों की प्रवृत्तियां अस्त॰ जांय और केवल मन से ही आत्मा जिस में विषयों का भोग करे॰ स्वप्न कहते हैं। निद्रा का लक्षण पहिले कह चुके हैं। इन दो॰ आलम्बन में जो ज्ञान होता है उस ज्ञानसे भी मनकी स्थिरता॰ है ॥ ३८ ॥ प्राणियों की रुचि अनेक प्रकार की होती है। इससे जिस॰ वस्तु में योगी की श्रद्धा हो सकती है उसके ध्यान से भी इष्टसिद्धि॰ है इसका वर्णन अगले सूत्र में किया है ॥ ३८ ॥

---

* द्वन्द्वान्तेश्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते।

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

सूत्र का पदार्थ—(वा) अथवा (यथाभिमतध्यानात्) इच्छा के अनुकूल किसी सुखप्रद विषय के ध्यान से ॥३९॥

भावार्थ--अथवा किसी ऐसी वस्तु के ध्यान से जो योगी की इच्छा के अनुकूल हो चित्त स्थिर होता है ॥ ३९ ॥

व्यास भाष्य--यदेवाभिमतं* तदेव ध्यायेत् । तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति ॥ ३९ ॥

भा० का पदार्थ-- जो इच्छा के अनुकूल हो उस ही का ध्यान करे उसमें स्थिर होने से दूसरे स्थल में भी स्थिरभाव को प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

भा० का भा०—अपनी इच्छानुसार चुने हुवे किसी एक विषय के ध्यान से मन स्थिर होता है ॥ ३९ ॥

भोज वृ०—यथाभिमतवस्तुनि बाह्ये चन्द्रादावाभ्यन्तरे नाडीचक्रादौ वा भाव्यमाने चेतः स्थिरी भवति ॥ ३९ ॥

एवमुपायान्प्रदर्श्य फलदर्शनायाऽऽह—

भो० वृ० भा०--किसी इच्छित वस्तु के जैसे बाह्य चन्द्रादिक और आभ्यन्तरिक नाडीचक्र आदि के ध्यान करने से भी चित्त स्थिर होता है ॥ ३९ ॥

चित्त के स्थिर करने के उपायों का वर्णन करते हैं--

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥४०॥

---

*वक्ष्यमाणकोटिद्वये ।

सू० का पदार्थ---(परमाणुपरममहत्त्वान्तः) परमा
से लेकर महास्थूल पदार्थों तक (अस्य) मन के (
शीकारः) वश करने का स्थान है ॥ ४० ॥

सूत्र का भा०---मन के वश करने के लिये परमाणु से महास्
पदार्थ तक जो प्रिय हों उसी के द्वारा मनको स्थिर करे ॥ ४० ॥

व्यास भाष्य---सूक्ष्मे निविशमानस्य परमाण्वन्तं स्थिति
लभत इति । स्थूले निविशमानस्य परममहत्त्वान्तं स्थिति
चित्तस्य । एवंतामुभयीं कोटिमनुधावतो योऽस्याप्रतीघातः स प
वशीकारः तद्वशीकारात्परिपूर्णं योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यास
परिक्रमापेक्षत इति ॥ ४० ॥ अथ लब्धस्थितिकस्य चेत
किंस्वरूपा किंविषया वा समापत्तिरिति, तदुच्यते---

भा० का पदार्थ---सूक्ष्म पदार्थ में चिन्तन करने से प्रविष्ट
का अदृश्य परमाणु तक स्थिरीभाव होता है । स्थूल विषय के चिन्त
प्रविष्ट हुए चित्त का परम स्थूल महत्तत्व पर्य्यन्त स्थिरता का पद
चित्त का इस प्रकार से उक्त दोनों कोटि अर्थात् सूक्ष्म और स
कोटिको अनुसरण करने वाले दोनों पथ पर चलने से जो रोकना है
परम वशीकरण है । उस वशीकरण योगीका चित्त फिर बारम्बार अनु
कृत कर्म्म की अपेक्षा नहीं रखता है । अब यह प्रश्न होता है कि
हुए चित्त की किस प्रकार की एवं किस विषय की स्थिति वा धार
होती है । यह अगले सूत्र में कहते हैं ॥ ४० ॥

भाष्य का भावार्थ---जगत् में दो प्रकार के पदार्थ हैं
सूक्ष्म दूसरे स्थूल । योगी को उचित है कि दोनों में से किसी कोटि
धारण करे अर्थात् जब सूक्ष्म कोटि में चित्त को लगावेगा तब सब
सूक्ष्म परमाणु का चिन्तन करने से उस से भी सूक्ष्मतर ईश्वर में वि

स्थिरता को प्राप्त होगा और ऐसे ही स्थूल पदार्थ के चिन्तन से आकाश आदि महास्थूल पदार्थों के चिन्तन के अनन्तर उनसे भी स्थूल परमेश्वर में स्थिति को प्राप्त हो जायगा। उपनिषद में भी लिखा है 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' चित्त जो दोनों कोटियों की ओर दौड़ता है उसको एक कोटिमें लगाने को वश में करना कहते हैं, जब योगीका चित्त एक कोटि में स्थिर होजाता है तब उसे दूसरे उपायों की अपेक्षा नहीं रहती ॥ ४० ॥

भो० वृ०—एभिरुपायैश्चित्तस्य स्थैर्यं भावयतो योगिनः सूक्ष्मविषयभावनाद्वारेण परमाण्वन्तो वशीकारोऽप्रतिघातरूपो जायते । न क्वचित्परमाणु पर्यन्ते सूक्ष्मे विषयेऽस्य मनः प्रतिहन्यत इत्यर्थः। एवं स्थूलमाकाशादिपरममहत्वपर्यन्तं भावयतो न क्वचिच्चेतसः प्रतिघात उत्पद्यते । सर्वत्र स्वातन्त्र्यं भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

एवमेभिरुपायैः संस्कृतस्य चेतसः कीदृग्रूपं भवतीत्याह—

भो० वृ० का भा०—उक्त उपायों से चित्त की स्थिरता का यत्न करते हुए योगी को सूक्ष्म विषय की भावना से परमाणु पर्यन्त वश में होजाते हैं। कहीं भी योगी के मनकी गति नहीं रुकती। ऐसे ही आकाश आदि स्थूल विषयों में भी इसके मनकी गति अव्याहत होजाती है। अर्थात् सर्वत्र इसको स्वातन्त्र्य प्राप्त होजाता है ॥ ४० ॥

इन उपायों से चित्त के स्थिर होजाने पर उसका कैसा रूप होता है ? इसका वर्णन अगले सूत्र में किया है—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहण-ग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥४१॥

सूत्र का पदार्थ—(क्षीणवृत्तेः) क्षीण होगई हैं वृत्तियां जिसकी (अभिजातस्य) स्फटिक (मणेरिव) मणि के

समान (ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु) ग्रहण करने वाले ग्रह० करने के साधन और ग्रहण करने योग्य पदार्थ में (तत्स्थ तदञ्जनता समापत्तिः) स्थिर होने से उसकी समानता प्रतीत होने लगती है ॥ ४१ ॥

सूत्र का भावार्थ—जिसकी वृत्ति क्षीण होजाती है उसके चि० की प्रतीति ऐसी रहती है जैसी स्फटिकमणि की अर्थात् स्फटिकमणि जैसे स्वयं स्वच्छ है परन्तु वह समीपस्थ पदार्थ के रङ्ग का प्रतीत होने लगता है ऐसे ही योगी का चित्त स्वयं स्वच्छ होता है परन्तु वृत्तिसंयोग से वह तदाकार प्रतीत होने लगता है ॥ ४१ ॥

व्यास भाष्य—क्षीणवृत्तेरिति प्रत्यस्तमितप्रत्ययस्येत्यर्थः अभिजातस्येव मणेरिति दृष्टान्तोपादानम् । यथा स्फटिक उपा० श्रयभेदात् तत्तद्रूपोपरक्त उपाश्रयरूपाकारेण निर्भासते तथा ग्राह्या० लम्बनोपरक्तं चित्तं ग्राह्यसमापन्नं ग्राह्यस्वरूपाकारेण निर्भासते। भूतसूक्ष्मोपरक्तं भूतसूक्ष्मसमापन्नं भूतसूक्ष्मस्वरूपाभासं भवति। तथा स्थूलालम्बनोपरक्तं स्थूलरूपसमापन्नं स्थूलरूपाभासं भवति। तथा विश्वभेदोपरक्तं विश्वभेदसमापन्नं विश्वरूपाभासं भवति। तथा ग्रहणेष्वपीन्द्रियेष्वपि द्रष्टव्यम् । ग्रहणालम्बनोपरक्तं ग्रहण० समापन्नं ग्रहणस्वरूपाकारेण निर्भासते। तथा ग्रहीतृपुरुषालम्ब० नोपरक्तं ग्रहीतृपुरुषसमापन्नं ग्रहीतृपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते। तथा मुक्तपुरुषालम्बनोपरक्तं मुक्तपुरुषसमापन्नं मुक्तपुरुषस्वरूपा० कारेण निर्भासते इति । तदेवमभिजातमणिकल्पस्य चेतसो ग्रहीतृ ग्रहणग्राह्येषु पुरुषेन्द्रियभूतेषु या तत्स्थतदञ्जनता तेषु स्थितस्य तदाकारापत्तिः सा समापत्तिरित्युच्यते ॥ ४१ ॥

भा० का पदार्थ—क्षीणवृत्ति वाले की अर्थात् जिसके विकल्पादि

मिथ्याज्ञान अस्त हो गये हैं। सूत्र में जो "अभिजातस्येव मणेः" यह लिखा है सो दृष्टान्त का ग्रहण किया है। जैसे स्फटिक पत्थर समीप में रक्खी हुई वस्तु के रङ्ग वाला समीपस्थ आश्रय के रूप के समान ही भान होता है ऐसे ही चित्त जिस विषय को ग्रहण करता है ग्राह्य विषय के रूप वाला भान होता है। जिसका चित्त सूक्ष्म भूतों में लग्न होता है सूक्ष्म भूतों में लय हो जाने से सूक्ष्म भूतों के स्वरूप के समान ही हो जाता है ऐसे ही जिस योगी का चित्त स्थूल वस्तुओं में लग्न होता है वह स्थूल में मग्न होने के कारण स्थूल स्वरूप का ही ध्याता होता है ऐसे ही विश्वरूप के चिन्तन में लगा हुआ मन विश्वरूपाकार हो जाता है। ग्रहण करने में जो सहायक इन्द्रियां हैं उन में भी संलग्न होने से उनके स्वरूप में भान होता है ऐसे ही ग्रहण करने वाले पुरुष में उपरक्त होने से ग्रहीता पुरुष के आकार का भान होता है तैसे ही मुक्त पुरुष में चित्त के लगाने से मुक्त पुरुषाकार ही चित्त हो जाता है। इस रीति से स्फटिक मणि के समान चित्त की ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य स्थिति और समीपता है, वही तदाकारापत्ति का कारण है, विषयों में उसे समापत्ति कहते हैं ॥ ४१ ॥

भाष्य का भावार्थ—जिसके चित्त की वृत्ति अस्त होगई है उसका चित्त स्फटिक मणि के समान ग्राह्य ग्रहण ग्रहीतृभाव को धारण करता है उसे समापत्ति कहते हैं तात्पर्य्य यह है कि जैसे स्फटिक मणि जिस वस्तु के समीप रक्खा जाता है उस ही के रूप को धारण कर लेता है ऐसे ही चित्त भी जिस विषय में संलग्न होता है वैसा ही प्रतीत होने लगता है एवम् तदाकारापत्ति को समापत्ति कहते हैं ॥ ४१ ॥

भो० वृ०—क्षीणा वृत्तयो यस्यतत्क्षीणवृत्ति तस्य ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु आत्मेन्द्रियविषयेषु तत्स्थतदञ्जनता, समापत्तिर्भवति। तत्स्थत्वं तत्रैकाग्रता। तदञ्जनता तन्मयत्वं, न्यग्भूते चित्ते विषयस्य भाव्यमानस्यैवोत्कर्षः। तथाविधा समापत्तिः, तद्रूपः परिणामो भवतीत्यर्थः।

दृष्टान्तमाह-अभिजातस्येव मणेर्यथाऽभिजातस्य निर्मलस्यस्फटिकमणेः हुपाधिवशात्तत्तद्रूपापत्तिरेवं निर्मलस्य चित्तस्य तत्तद्भावनीयवस्तूप शात्तद्रूपापत्तिः। यद्यपिग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु इत्युक्तं तथाऽपि भूमिका वशात् ग्राह्यग्रहणग्रहीतृषु इति बोध्यम्। यतः प्रथमं ग्राह्यनिष्ठ एव समा ततो ग्रहणनिष्ठः ततोऽस्मितामात्ररूपोग्रहीतृनिष्ठः, केवलस्य पुरुषस्य ग्रं भाव्यत्वासम्भवात्। ततश्च स्थूलसूक्ष्मग्राह्योपरक्तं चित्तं तत्र समा भवति। एवं ग्रहणे ग्रहीतरि च समापन्नं बोद्धव्यम्॥ ४१॥

इदानीमुक्ताया एव समापत्तेश्चातुर्विध्यमाह—

भो० वृ० का भा०—जिसकी वृत्ति क्षीण होगई है उसे क्षी वृत्ति कहते हैं। उस क्षीणवृत्ति का ग्रहीता (ग्रहण करने वाला) ग्र (ग्रहण करने का साधन) और ग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) आ इन्द्रिय और विषयों में तत्स्थ तदञ्जनता समापत्ति अर्थात् सम होती है। तत्स्थ का अर्थ है उसही में चित्त का एकाग्र होजाना, तदञ्ज का अर्थ तन्मय होता है। क्षीणवृत्ति वाले चित्त में विचारणीय विषय ही उत्कृष्टता रहती है और वैसे ही समापत्ति अर्थात् उस ही प्रकार परिणाम वा परिवर्तन होता है, दृष्टान्त भी कहते हैं जैसे शुद्ध नि स्फटिक मणि का समीपवर्त्ती वस्तु के समान ही रूप हो जाता है ऐसे निर्मल चित्त का विचारणीय वस्तु के अनुसार रूप बदल जाता है य ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य इस क्रम से सूत्र में लिखा है तो भी ग्राह्य, ग्र और ग्रहीता ऐसा लिखना उचित है क्योंकि प्रथम ग्राह्य विषय में सम होती है, फिर ग्रहण में और पश्चात् अस्मिता रूप ग्रहीता में समाधि है, क्योंकि केवल ग्रहीता आत्मा में विचार वा समाधि नहीं होती है स्थूल सूक्ष्म ग्राह्य के संसर्ग से चित्त तद्रूप होता है ऐसे ग्रहण ग्रहीता के संसर्ग में भी समझना चाहिये॥ ४१॥ आगे उक्त समाधि ४ भेदों का वर्णन करते हैं—

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

सूत्र का पदार्थ—(तत्र) उसमें (शब्दार्थज्ञानविकल्पैः) शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प से (संकीर्णा) अर्थात् सीमाबद्ध (सवितर्का समापत्तिः) वितर्क सहित समापत्ति होती है ॥ ४२ ॥

सूत्र का भावार्थ—शब्द अर्थ और ज्ञान के विकल्प द्वारा समापत्ति सङ्कीर्ण और सवितर्क होती है ॥ ४२ ॥

व्यास भाष्य—तद्यथा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यविभागेन विभक्तानामपि ग्रहणं दृष्टम् विभज्यमानाश्चान्ये शब्दधर्मा अन्येऽर्थधर्मा अन्ये विज्ञानधर्मा इत्येतेषां विभक्तः पन्थाः । तत्र समापन्नस्य योगिनो यो गवाद्यर्थः समाधिप्रज्ञायां समारूढः स चेच्छब्दार्थज्ञानविकल्पानुविद्ध उपावर्तते सा सङ्कीर्णा समापत्तिः सवितर्केत्युच्यते ॥४२॥ यदा पुनः शब्दसंकेतस्मृतिपरिशुद्धौ श्रुतानुमानज्ञानविकल्पशून्यायां समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणावस्थितोऽर्थस्तत्स्वरूपाकारमात्रतयैवावच्छिद्यते । सा च निर्वितर्का समापत्तिः । तत्परम् प्रत्यक्षम् । तच्च श्रुतानुमानयोर्बीजम् । ततः श्रुतानुमाने प्रभवतः । न च श्रुतानुमानज्ञानसहभूतं तद्दर्शनम् । तस्मादसंकीर्णं प्रमाणान्तरेण योगिनो निर्वितर्कसमाधिजम् दर्शनमिति । निर्वितर्कायाः समापत्तेरस्याः सूत्रेण लक्षणं द्योत्यते—

भा० का पदार्थ—वह समापत्ति जैसे गौ यह शब्द, गौ यह अर्थ और गौ यह ज्ञान इन तीनों की एकता रहती है। पृथक् २ भी ग्रहण देखा गया है विभाग किये शब्द के गुण भिन्न होते हैं, अर्थ के गुण

भिन्न होते हैं विज्ञान के धर्म्म पृथक् होते हैं यह इनका पृथक् कि
गया मार्ग है। उसमें प्रविष्ट हुये योगी जो गौ आदि शब्दों का
स्थिर बुद्धि अर्थात् समाधिस्थ बुद्धि में बैठा हुआ है यदि वह शब्द
विकल्पयुक्त रहता है वह सीमाबद्ध समापत्ति सवितर्क कहलाती
जब फिर शब्दके संकेत अर्थात् कल्पित अर्थों की स्मृति शुद्ध हो
सुने हुए अनुमान किये हुए ज्ञान और विकल्प से रहित अथवा
और अनुमित पदार्थ ज्ञान के विकल्प से शून्य समाधिस्थ बुद्धि में के
अपने स्वरूप से अर्थात् अन्य से सङ्ग रहित होकर अर्थ रहता है अ
स्वरूपके ही आकार से अविच्छिन्न वा जुदा रहता है। वह निर्वितर्क स
पत्ति वा समाधि कहलाता है। वह परम प्रत्यक्ष और वह श्रवण
अनुमान किये हुए का कारण है उससे श्रवण और अनुमान उत्
होते हैं नकि श्रवण और अनुमान ज्ञान के साथ उसका दर्शन होता
इस कारण से सीमारहित दूसरे प्रमाण से योगी को निर्वितर्क समाधि
प्राप्त हुआ दर्शन होता है ॥ ४२ ॥

भा० का भावार्थ—जैसे गौ शब्द, गौ शब्द का अर्थ और
शब्द का ज्ञान यह तीनों कहीं एक रूप से रहते हैं और कहीं पृथक् पृ
रहते हैं, जब योगी इनकी भिन्नता के मार्ग को अनुसरण करता
अर्थात् योगी की समाधिस्थ बुद्धि में जब तक यह तीनों भिन्न भि
होते हैं तब तक उस की समाधि का नाम सवितर्क समापत्ति रह
है। इससे यह सिद्ध हुआकि जिस समापत्ति में वितर्क बनी रहती है व
सवितर्क समापत्ति कहलाती है और जब समाधिस्थ बुद्धि में अर्थ मात्र
भान रह जाता है तब निर्वितर्क समापत्ति होती है। यह निर्वितर्क समापत्ति
परम प्रत्यक्ष है अर्थात् श्रुत और अनुमित सर्व अर्थ इस ही में प्रत्यक्ष हो
हैं। यही श्रवण और अनुमान का हेतु है। इसलिये सीमारहित निर्वितर्क
समापत्ति में दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती है सवितर्क समापत्ति
लक्षण कहकर अगले सूत्रमें निर्वितर्क समापत्ति का लक्षण कहते हैं ॥४२

भोज वृत्ति—श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यः स्फोटरूपो वा शब्दः । अर्थो जात्यादिः । ज्ञानं सत्त्वप्रधाना बुद्धिवृत्तिः । विकल्प उक्तलक्षणः । तैः संकीर्णा यस्यामेते शब्दादयस्त्रयः परस्पराध्यासेन विकल्परूपेण प्रतिभासन्ते गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यनेनाऽऽकारेण सा सवितर्का समापत्तिरुच्यते ॥ ४२ ॥ उक्त लक्षणविपरीतां निर्वितर्कामाह—

भो० वृ० का भा०—कान इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य स्फोट (अक्षरों की विशेष योजना) रूप शब्द है जैसे गौ, अर्थ जाति को कहते हैं जैसे गौ शब्द का (अर्थ गोत्वा धर्म्मावच्छिन्न जातिः) है, ज्ञान सत्वप्रधान बुद्धि की वृत्ति जैसे गौ शब्द का ज्ञान सास्नालांगूल वाली व्यक्ति । विकल्प का लक्षण पहिले कह चुके हैं यह सब संकीर्ण अर्थात् परस्पर मिले रहें जिस समाधि से उसे सवितर्क समाधि कहते हैं ॥ ४२ ॥ सवितर्क समाधि के लक्षण से विरुद्ध निर्वितर्क समाधि का लक्षण अगले सूत्र में कहा है—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥४३॥

सूत्र का पदार्थ—(स्मृतिपरिशुद्धौ) स्वच्छ स्मृति होने पर (स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा) स्वरूप शून्य के समान भान होने वाली समापत्ति (निर्वितर्का) निर्वितर्क कहलाती है ॥ ४३ ॥

सूत्र का भावार्थ—स्मृति के शुद्ध हो जाने पर जिसमें अर्थ स्वरूपरहित के समान भास होता है वह निर्वितर्क समापत्ति है ॥४३॥

व्यास भाष्य—या शब्दसंकेतश्रुतानुमानज्ञानविकल्पस्मृतिपरिशुद्धौ ग्राह्यस्वरूपोपरक्ता प्रज्ञा स्वमिव प्रज्ञारूपं ग्रहणात्मकं

त्यक्त्वा पदार्थमात्रस्वरूपा ग्राह्यस्वरूपापन्नेव भवति सा निर्वितर्का समापत्तिः। तथा च व्याख्यातम्-तस्या एक बुद्ध्युपक्रमो ह्यर्थात्माऽणुप्रचयविशेषात्मा गवादिर्घटादिर्वा लोकः। स च संस्थानविशेषो भूतसूक्ष्माणां साधारणो धर्म्म आत्मभूतः फलेन व्यक्तेनानुमितः स्वव्यञ्जकाञ्जनः प्रादुर्भवति। धर्मान्तरस्य कपालादेरुदये च तिरो भवति। स एष धर्मोऽवयवीत्युच्यते। योऽसावेको महांश्चाणीयांश्च स्पर्शवांश्च क्रियाधर्मकश्चानित्यश्च तेनावयविना व्यवहाराः क्रियन्ते। यस्य पुनरवस्तुकः स प्रचयविशेषः। सूक्ष्मं च कारणमनुपलभ्यं तस्यावयव्यभावादतद्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानमिति प्रायेण सर्वमेव प्राप्तम् मिथ्याज्ञानमिति। तदा च सम्यग्ज्ञानमपि किं स्यात् विषयाभावात्। यद्यदुपलभ्यते तत्तदवयवित्वेनाऽऽम्नातम् तस्मादस्त्यवयवी यो महत्त्वादिव्यवहारापन्नः समापत्तेर्निर्वितर्काया विषयी भवति ॥ ४३ ॥

भा० का पदार्थ—जो शब्द संकेत = नियत किया अर्थ, सुना हुआ अनुमान, विकल्प और स्मृतिकी शुद्धता होने पर ग्राह्य पदार्थ के रूपमें प्रतीत होने वाली बुद्धि अपने आप विज्ञानस्वरूप ग्रहण के साथ रूप को त्याग कर पदार्थ के रूप को प्राप्त हुई ग्राह्य "ग्रहण करने योग्य पदार्थ के स्वरूप में परिणत हुई के समान होती है वह निर्वितर्क समापत्ति है ऐसे ही कही है उसके निमित्त स्थिर बुद्धि का उपक्रम अर्थात् ज्ञान से पूर्वक आरम्भ अथवा उपाय अर्थ परमाणु समूह गौ आदि वा घट आदि संसार है और वह लोक आकार विशेष है सूक्ष्म तत्त्वों का सामान्य गुण उनसे अभिन्न है फल के प्रत्यक्ष होने से अपना अनुमित अर्थ प्रत्यक्ष होता है। तद्भिन्न धर्म्म छिप जाता है। यह गुण अवयवी कहलाता है धर्म्म एकला ही बहुत बड़ा अणु से भी सूक्ष्म और स्पर्शवाला क्रियायुक्त और अनित्य कहलाता है। उस अवयवी से व्यवहार किया जाता है

जिसका कारण सूक्ष्म है वह समूह विशेष सूक्ष्म है और उसका कारण प्राप्त होना भी दुस्साध्य है क्योंकि वह निरवयव होता है इसलिये उसकी स्वरूपस्थिति नहीं। स्वरूप स्थिति के अभाव से मिथ्याज्ञान हुवा। इस प्रकार से संसारांतर्गत प्रायः सब पदार्थ मिथ्या हुवे तब यथार्थज्ञान का कौन विषय होगा अथवा विषय के अभाव से यथार्थज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञेय पदार्थ के अभाव से जो जो मिलता है वह सब रूपवत्ता से वर्णित अवयवी है अर्थात् पदार्थ मात्र अवयवी है। इस हेतु से रूपवान् महत्तत्वादि व्यवहार करने योग्य निर्विकल्प समापत्ति का विषय होता है॥ ४३॥

भाष्य का भावार्थ—जो समापत्ति, शब्दसंकेत श्रुतज्ञान और अनुमान, ज्ञान, विकल्प ग्राह्य के स्वरूप में भान होने वाली अर्थात् अपने ग्रहणात्मक रूप को त्याग करके निर्वितर्का समापत्ति में ग्राह्याकार भान होने लगती है यह सब बुद्धि का विकार है परन्तु आत्मा शब्दादि को त्याग कर केवल अर्थ में आरूढ़ हो जाता है जैसे गवादि अथवा घट आदि केवल रूपान्तर हैं। सूक्ष्म-तत्वों के धर्म्म सब में एक समान हैं। कभी किसी भूत का और कभी किसी भूत के धर्म्म का प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। यदि कहें कि यह धर्म्म अवयवी है उसमें स्थिर होने से निर्वितर्क समापत्ति नहीं हो सकती क्योंकि यह एक ही धर्म्म अणु से सूक्ष्म और महास्थूल स्पर्शवान् क्रियावान् और अनित्य है उस अवयवी से व्यवहार किया जाता है, तो हम कह सकते हैं कि जो अवस्तु अर्थात् अभाव है वह अतद्रूप प्रतिष्ठ है और मिथ्या है। अब उसका विचार भी मिथ्या हुआ क्योंकि उस ज्ञान का कोई विषय नहीं है और जो ध्येय पदार्थ दृश्य हैं वे सब अवयवी हैं इसलिये स्थूल पदार्थ भी निर्वितर्क समापत्ति के विषय हैं* ॥ ४३ ॥

---

*यह सब तर्क पदार्थों पर दृश्य हैं।

भो० वृ०—शब्दार्थस्मृतिप्रविलये सति प्रत्युदितस्पष्टग्राह्याकारप्रतिभासितया न्यग्भूतज्ञानांशत्वेन स्वरूपशून्येव निर्वितर्का समापत्तिः ॥ भेदान्तरं प्रतिपादयितुमाह—

भो० वृ० का भा०—शब्द अर्थ और स्मृति के लय हो जाने ग्राह्याकार जब वृत्ति हो जाती है, त्रिपुटि का पृथक् ज्ञान नष्ट होने से स्वरूप शून्य के समान जो समाधि होती है उसे निर्वितर्क समाधि कहते हैं ॥ ४३ ॥ अगले सूत्र में दूसरा उपाय कहा गया है—

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

सूत्र का पदार्थ—(एतया) इससे (एव) ही (सविचारा) विचारसहित (निर्विचारा) विचाररहित (सूक्ष्मविषया) सूक्ष्म विषय वाली समापत्ति (व्याख्याता) वर्णित की गई ॥ ४४ ॥

सूत्र का भा०—सवितर्क और निर्वितर्क समापत्ति के वर्णन करने से ही सविचार, निर्विचार स्थूलविषय और सूक्ष्मविषय समापत्ति का विषय भी समझना उचित है ॥ ४४ ॥

व्यास भाष्य—तत्र भूतसूक्ष्मकेष्वभिव्यक्तधर्म्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते तत्राप्येक बुद्धिनिर्ग्राह्यमेवोदितधर्मविशिष्टं भूतसूक्ष्ममालम्बनीभूतं समाधिप्रज्ञायामुपतिष्ठते। या पुनः सर्वथा सर्वतः शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्म्मानवच्छिन्नेषु सर्वधर्म्मानुपातिषु सर्वधर्म्मात्मकेषु समापत्तिः सा निर्विचारेत्युच्यते। एवं स्वरूपं हि तद्भूतसूक्ष्ममेतेनैव स्वरूपेणाऽऽलंबनीभूतमेव समाधिप्रज्ञास्वरूपमुपरंजयति

प्रज्ञा च स्वरूपशून्येवार्थमात्रा यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते । तत्र महद्वस्तुविषया सवितर्का निर्वितर्का च, सूक्ष्मवस्तुविषया सविचारा निर्विचारा च । एवमुभयोरेतयैव निर्वितर्कया विकल्पहानिर्व्याख्यातेति ॥ ४४ ॥

भा० का पदार्थ--प्रकट हैं धर्म्म जिनके उन सूक्ष्मभूतों में जो देशकाल, निमित्त और अनुभव से संयुक्त हैं उन में अथवा जिनका देशकाल निमित्त से अनुभव किया जाता है उनमें जो समाधि होती है वह सविचार कहाती है उस सविचार समाधि में भी निश्चल बुद्धि के द्वारा ग्रहण करने योग्य प्रत्यक्ष धर्मयुक्त सूक्ष्म भूत बुद्धि का आश्रय सविचार समाधिस्थ बुद्धि में प्राप्त होता है और जो (सर्वथा) सब प्रकार के सब ओर से प्रत्यक्ष व्यपदेश्य अर्थात् मुख्य धर्म्म वाले पदार्थों में सब धर्म्म अर्थात् गुणों से रहित और सब गुण युक्त जो पदार्थ हैं उनमें जो समाधि है वह निर्विचार कहाती है। (एवम्) इस प्रकार के ही उक्त लक्षण वाले भूत सूक्ष्म हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो स्वरूप के आश्रय से समाधि होती है वह सवितर्क समाधि प्रज्ञा के स्वरूप पर अपना प्रभाव डालती है। जो समाधि बुद्धिस्वरूपशून्य अर्थमात्र जब होती है तब निर्विचार कहाती है अथवा दूसरा लक्षण इनका यह है स्थूलाश्रयवाली समाधि सवितर्क एवं निर्वितर्क भी तथा सूक्ष्माधार वाली सविचार एवं निर्विचार भी कहलाती है। इन दोनों में इस ही निर्वितर्क समाधि से विकल्प की हानि कही गई है ॥ ४४ ॥

भा० का भा०—सूक्ष्म भूतों के आश्रय देशकाल और निमित्त से संयुक्त जो समाधि होती है उसे सविचार और जो सर्व प्रकार से शान्तगुण वाले ईश्वर के आश्रय से समाधि की जाती है वह निर्विचार कहलाती है अथवा जो किसी आलम्ब से समाधि होती है वह सविचार और जो आलम्बन को त्याग कर अर्थमात्र के चिन्तन से समाधि होती है वह निर्विचार कहलाती है अथवा स्थूलविषय वाली सविचार और

सूक्ष्म विषय वाली निर्विचार कही जाती है, इस प्रकार से जिसमें संकल्प का नाश होजाय वह निर्विकल्प समाधि कहजाती है ॥ ४४ ॥

भो० वृ०—एतयैव सवितर्कया निर्वितर्कया च समापत्त्या सविचारा निर्विचारा च व्याख्याता। कीदृशी, सूक्ष्मविषया सूक्ष्मस्तन्मात्रेन्द्रियादिर्विषयो यस्याः सा तथोक्ता। एतेन पूर्वस्याः स्थूलविषयत्वं प्रतिपादितं भवति। सा हि महाभूतालम्बना। शब्दार्थविषयत्वेन शब्दार्थविकल्पसहितत्वेन देशकालधर्माद्यवच्छिन्नः सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभाति यस्यां सा सविचारा। देशकालधर्मादिरहितो धर्मिमात्रतया सूक्ष्मोऽर्थस्तन्मात्रेन्द्रियरूपः प्रतिभाति यस्यां सा निर्विचारा ॥ ४४ ॥ अस्या एव सूक्ष्मविषयायाः किं पर्य्यन्तः सूक्ष्मविषय इत्याह—

भो० वृ० भा०—इस ही सवितर्क और निर्वितर्क समाधि के वर्णन से सविचार और निर्विचार समाधि का वर्णन भी हो गया अर्थात् सूक्ष्मतन्मात्रा (पंचतत्त्वों के सूक्ष्म गुण) विचारणीय विषय हों जिसके वह निर्विचार और स्थूल पञ्चभूत विचारणीय विषय हों जिसके वह सविचार समाधि है। सविचार समाधि महाभूत और बाह्येन्द्रियों के आश्रय से शब्द, अर्थ और ज्ञान की पृथक्ता में अर्थ और विकल्प के सहित देशकाल और काल के धर्म्म सहित सूक्ष्म अर्थों का ज्ञान हो जिसमें वह सविचार समाधि है और देश काल के गुणों से रहित तत्वों के सूक्ष्म गुण और सूक्ष्मतन्मात्रा ही जिस में भान हों उसको निर्विचार समापत्ति कहते हैं ॥ ४४ ॥ इस निर्विचार समापत्ति के विषय की अवधि कहां तक सूक्ष्म है इस का वर्णन अगले सूत्र में किया गया है—

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्य्यवसानम् ॥४५॥

सूत्र का पदार्थ—(सूक्ष्मविषयत्वम्) सूक्ष्म विषयता (च) और (अलिंगपर्य्यवसानम्) चिह्न रहित पर्य्यन्त है ॥ ४५ ॥

सूत्र का प०—सूक्ष्म विषय की अवधि अलिङ्ग पर्यन्त है ॥४५॥

व्यास भाष्य —पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः। आप्यस्य रसतन्मात्रम्। तैजसस्य रूपतन्मात्रम्। वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रम्। आकाशस्य शब्दतन्मात्रमिति। तेषामहंकारः। अस्यापि लिंगमात्रं सूक्ष्मो विषयः। लिंगमात्रस्याप्यलिङ्गं सूक्ष्मो-विषयः। न चालिंगात्परं सूक्ष्ममस्ति। नन्वस्ति पुरुषः सूक्ष्म इति। सत्यम्। यथा लिंगात्परमलिंगस्य सौक्ष्म्यं न चैवं पुरुषस्य। किन्तु लिंगस्यान्वयिकारणं पुरुषो न भवति हेतुस्तु भवतीति। अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम् ॥ ४५ ॥

भाष्य का प०—पृथिवी के अणु का गन्ध सूक्ष्म विषय है। जल के परमाणु का रस, अग्नि के परमाणु का रूप, वायु के परमाणु का स्पर्श, आकाश के अणुका शब्द है। इन्हींको भूतोंकी तन्मात्रा कहते हैं। इन तन्मात्राओं का लिङ्ग अहंकार है। इस का भी चिह्न मात्र सूक्ष्म विषय है। चिह्न मात्रका सूक्ष्म विषय अलिंग कहाता है। अलिंग से अधिक कोई सूक्ष्म नहीं है। यदि कहो कि पुरुष उससे सूक्ष्म है सो सत्य है जैसे लिंग से परे अलिंग का सूक्ष्म भाव है ऐसे पुरुष का नहीं है किन्तु लिंग का समवीर्य कारण पुरुष नहीं है, हेतु है। प्रधान में (सौक्ष्म्यम्) सूक्ष्मता अतिशय से रहित कही है अर्थात् उस से सूक्ष्म कोई नहीं है ॥ ४५ ॥

भा० का भा०—पृथिवी आदि पञ्च भूत से उनके अणु सूक्ष्म हैं और अणु से भी गन्धादि तन्मात्रा एवम् उन से भी उनका अहङ्कार और अहङ्कार से भी चिह्न और चिह्न मात्र से भी अलिंग सूक्ष्म है और अलिंग से सूक्ष्म कोई पदार्थ नहीं यदि कहो कि पुरुष है तो पुरुष है जैसे, चिह्न मात्र से अलिंग सूक्ष्म है वैसा नहीं है पुरुष लिंग का अन्वीय कारण नहीं है किन्तु हेतु है, अतएव पुरुष से अतिशय सूक्ष्म कोई और है ऐसा नहीं कहा जाता है ॥ ४५ ॥

भोज वृ०—सविचारनिर्विचारयोः समापत्त्योर्यत्सूक्ष्मविषयत्व-मुक्तम् तदलिंगपर्य्यवसानं न क्वचिल्लीयते न वा किञ्चित् लिंगति-गमयतीत्यलिंगं प्रधानं तत्पर्यन्तंसूक्ष्मविषयत्वम् । तथाहि गुणानां परिणा-चत्वारि पर्वाणि विशिष्टलिंगमविशिष्टलिंगं लिंगमात्रमलिंगं चेति विशिष्ट लिंगं भूतानि, अविशिष्टलिंगं तन्मात्रेन्द्रियाणि लिंगमात्रं बुद्धि, अलिंगं प्रधानमिति । नातः परं सूक्ष्ममस्तीत्युक्तं भवति ॥ ४५ ॥

एतासां समापत्तीनां प्रकृते प्रयोजनमाह—

भोज वृ० का भा०—सविचार और निर्विचार समापत्तियों में जो विषय वर्णन किये उन विषयों की जो सूक्ष्मता कही है वह अलिंग तक सूक्ष्मता है अर्थात् सूक्ष्मता की अवधि वहां तक है कि जिसे अलिंग या प्रधान कहते हैं । लिंग न किसी में लय होता है और न किसी में जाके मिलता है । गुणों के हेर फेर में चार भेद हैं; एक विशिष्टलिंग, दूसरा अविशिष्टलिंग, तीसरा लिंगमात्र और चौथा अलिंग । विशिष्ट स्थूलभूत और इन्द्रियां हैं । अविशिष्ट लिंग तन्मात्रा और अन्तःकरण है, लिंग मात्र बुद्धि है । अलिंग प्रधान है, इस अलिंग से सूक्ष्मतम कोई वस्तु नहीं है ॥ ४५ ॥ इन सब समापत्तियों का योग साधन में जो प्रयोजन है उसे अगले सूत्र में कहा है—

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

सूत्र का पदार्थ—(ता एव) वोही (सबीजस्समाधि) बीज सहित समाधि ॥ ४६ ॥

सूत्र का भावार्थ—वो ही चार प्रकार की समाधि सबीज समाधि कहाती है ॥ ४६ ॥

व्यास भाष्य—ताश्चतस्रः समापत्तयो बहिर्वस्तुबीजा इति समाधिरपि सबीजः । तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार इति चतुर्धोपसंख्यातः समाधिरिति ॥४६॥

भा० का पदार्थ—वे चारों समाधियां बहिः वस्तु बीज समाधि कहलाती हैं उनमें स्थूल अर्थ में सवितर्क और निर्वितर्क सूक्ष्म अर्थ में सविचार और निर्विचार ये चार प्रकार की समाधि कही गई हैं ॥४६॥

भा० का भा०—आगे कही चार प्रकार की समाधि बीजसहित कहाती हैं उनमें स्थूल अर्थ में सवितर्क और सूक्ष्म अर्थ में सविचार निर्विचार ये ही चार समाधियां सबीज कहाती हैं ॥ ४६ ॥

भो० वृ०—ता एवोक्तलक्षणाः समापत्तयः सह बीजेनाऽऽलम्बनेन वर्त्तते इति सबीजः सम्प्रज्ञातः समाधिरित्युच्यते, सर्वासां सालम्बनत्वात् ॥४६ अथेतरासां समापत्तीनां निर्विचारफलत्वात् निर्विचारायाः फलमाह—

भो० वृ० का भा०—यही सवितर्क निर्वितर्क सविचार और निर्विचार समापत्ति ही सबीज समाधि कहाती हैं क्योंकि यह सब समापत्ति विना आलम्ब के नहीं होती हैं ॥ ४६ ॥ अब दूसरी समापत्तियों का फल निर्विचार समापत्ति के अधीन होने से निर्विचार समापत्ति का फल अगले सूत्र में कहते हैं—

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

सूत्र का पदार्थ—(निर्विचारवैशारद्ये) निर्विचार समाधि के विशारद भाव में (अध्यात्मप्रसादः) आध्यात्मिक प्रसाद होता है ॥ ४६ ॥

सूत्र का भा०—योगी जब निर्विचार समाधिस्थ होता है तब उसे आगे कहा हुआ अध्यात्मप्रसाद होता है ॥ ४७ ॥

व्यास भाष्य—अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम् । यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा

योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थ विषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः । तथा चोक्तम्—"प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् । भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥" ४७॥

भाष्य का प०—अशुद्धतारूप आवरण के मल से छूटे हुए प्रकाशरूप बुद्धि सत्व को रज और तमोगुण से जो जीता न गया हो स्वच्छ स्थित का प्रवाह वैशारद्य कहाता है। जब निर्विचार समाधि को ये पूर्वोक्त वैशारद्य वा निपुणता होती है तब योगी को भूतार्थ विषय का अनवरोधी साक्षात् बुद्धि के प्रकाश से युक्त अध्यात्म प्रसाद होता है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है—"बुद्धि की अटार पर बैठ कर शोकरहित शोकयुक्त जीवों को पहाड़ पर चढ़े जैसे भूमि में स्थित पुरुषों को सब को बुद्धिमान् देखता है ॥" ४७ ॥

भाष्य का भावार्थ—अशुद्धिरूप ढकने के मल से रहित प्रकाशरूप, रजोगुण और तमोगुण के ज्ञान से शून्य, स्वच्छ स्थितिप्रवाह को वैशारद्य कहते हैं जब निर्विचार समाधि से उक्त वैशारद्य होता है तब योगी को आत्मिक आनन्द प्राप्त होता है अर्थात् तब सब भूतों को क्रम के अनुकूल जानने की बुद्धि का प्रकाश होता है जैसा अन्यत्र भी लिखा है—"प्रज्ञाप्रसाद को प्राप्त शोकरहित होकर जैसे पहाड़ पर चढ़ा हुआ मनुष्य सब भूमि में स्थितपुरुषों को देखता है वैसे सोचते हुये जीवों को योगी देखता है ॥" ४७ ॥

भो० वृ०—निर्विचारत्वं व्याख्यातम् । वैशारद्यम् नैर्मल्यम् । सवितर्का स्थूलविषयामपेक्ष्य निर्वितर्कायाः प्राधान्यम् । ततोऽपि सूक्ष्मविषयायाःसविचारायाः । ततोऽपि निर्विकल्परूपाया निर्विचारायाः । तस्यास्तु निर्विचारायाः प्रकृष्टाभ्यासवशाद्वैशारद्ये नैर्मल्ये सत्यध्यात्मप्रसादः समुपजायते । चित्तं क्लेशवासनारहितं स्थितिप्रवाहयोग्यं भवति । एतदेव चित्तस्य वैशारद्यम् यत् स्थितौ दार्ढ्यम् ॥ ४७ ॥

तस्मिन् सति किं भवतीत्याह ।

भो० वृ० का भा०—निर्विचार का वर्णन हो चुका विशारदता वा वैशारद्य का अर्थ निर्मलता है। स्थूल विषय वाली सवितर्क समापत्ति की अपेक्षा निर्वितर्क समापत्ति की प्रधानता है, उससे भी सूक्ष्म विषय वाली सविचार समापत्ति प्रधान है और उससे निर्विचार समापत्ति प्रधान वा उत्तम है उस निर्विकल्प समापत्ति के अभ्यास से निर्मलता प्राप्त होने पर अध्यात्मप्रसाद उत्पन्न होता है अर्थात् तब चित्त क्लेशों की वासना से रहित स्थिर होने के योग्य होता है और चित्त की यही निर्मलता है कि जो स्थिति में दृढ़ भाव को प्राप्त हो जाय ॥ ४७ ॥ अध्यात्मप्रसाद से क्या लाभ है, उसका अगले सूत्र में वर्णन किया है—

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

सू० का पदार्थ—(ऋतम्भरा) ऋतम्भरा (तत्र) उसमें (प्रज्ञा) बुद्धि ॥ ४८ ॥

सू० का भा०—उस समाधि में जो बुद्धि होती है उसे ऋतम्भरा कहते हैं ॥ ४८ ॥

व्यास भा०—तस्मिन् समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति । अन्वर्था च सा, सत्यमेव बिभर्ति न च तत्र विपर्य्यासज्ञानगन्धोऽप्यस्तीति । तथा चोक्तम्—'आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च । त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते ज्ञानमुत्तमम् ॥ ४८ ॥

भा० का प०—उस में स्थिरचित्त की जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसकी ऋतम्भरा संज्ञा है। यथार्थनाम्नी वह सत्य ही को संग्रह करती है, उसमें विपरीत ज्ञान की गन्ध भी नहीं होती ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है। वेद वचन से अनुमान से और ध्यान के रस से तीन प्रकार बुद्धि की रचना करके उत्तम ज्ञान को प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

भा० का भा०—उस निर्विचार समाधि से स्थिरचित्त की जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसे ऋतम्भरा कहते हैं। अर्थात् वह (ऋत) सत्य ही को संग्रह करती है। उसके होने से विपरीत ज्ञान की गन्ध मात्र भी नहीं रहती जैसे अन्यत्र भी लिखा है—"शिष्ट वचन से, अनुमान से और ध्यान के अभ्यास के रस से तीन प्रकार की बुद्धि रचना करता हुआ योगी उत्तम ज्ञान को प्राप्त होता है" ॥ ४८ ॥

भो० वृ०—ऋतं सत्यं बिभर्त्ति कदाचिदपि न विपर्ययेणाऽऽच्छाद्यते सर्तम्भरा प्रज्ञा तस्मिन्सति भवतीत्यर्थः। तस्माच्च प्रज्ञालोकात् सर्वं यथावत् पश्यन् योगी प्रकृष्टं योगं प्राप्नोति ॥ ४८ ॥

अस्याः प्रज्ञान्तराद्वैलक्षण्यमाह।

भो० वृ० का भा०—उस अध्यात्मप्रसाद के प्राप्त होने पर बुद्धि सत्य से पूर्ण होजाती है फिर बुद्धि किसी विपर्य्यय ज्ञान से आच्छादित नहीं होती, उस बुद्धि के प्रकाश में योगी सब को यथावत् रूप से देखता हुआ योग को प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥ उस ऋतम्भरा प्रज्ञा की विलक्षणता अगले सूत्र में कही है।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

सूत्र का पदार्थ—(श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्याम्) जो बुद्धि श्रवण और अनुमान से है उसे (अन्यविषया) भिन्न विषय वाली बुद्धि (विशेषार्थत्वात्) विशेषार्थ अर्थात् समाधि विषयिणी होती है ॥ ४९ ॥

सूत्र का भा०—समाधिज बुद्धि श्रुत और अनुमित बुद्धि से विलक्षण होती है ॥ ४९ ॥

श्रुतमागमविज्ञानम् तत् सामान्यविषयम् न ह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुं कस्मात्, न हि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इति। तथाऽनुमानं सामान्यविषयमेव। यत्र प्राप्तिस्तत्र गतिः यत्राप्राप्तिः तत्र न भवति। गतिरित्युक्तम्। अनुमानेन च सामान्येनोपसंहारः। तस्मात् श्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्तीति। न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणमस्ति। न चास्य विशेषस्याप्रामाणिकस्याभावोऽस्तीति समाधिसंप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा। तस्मात् श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति॥ ४६॥ समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारो नवो नवो जायते।

सूत्र का पदार्थ—जो श्रवण किया हुआ शब्द ज्ञान है वह सामान्यविषय है। शब्द प्रमाण से विशेष ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि विशेष से शब्द का संकेत नहीं किया गया है। तैसे ही अनुमान भी सामान्य विषय का ही बोधक है। जिस में प्राप्ति होती है उसमें प्रवृत्ति होती है। जिस में कुछ प्राप्ति नहीं होती उस में प्रवृत्ति नहीं होता यह पूर्व ही कहा है। और अनुमान से देशका सामान्य ज्ञान होता है अर्थात् अनुमान से पूर्ण और यथार्थ ज्ञान नहीं होता इस हेतु से श्रुत विषय और अनुमित विषय कुछ विशेष नहीं है और न जो वस्तु अत्यन्त सूक्ष्म है वा किसी दूसरी वस्तु की आड़ में है और जो अत्यन्त दूर स्थित वस्तु है। इन का यथार्थ ज्ञान लौकिक प्रत्यक्ष से प्रतीत हो सकता है न इस विशेष वस्तु का जिसमें कि प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है अभाव ही है किन्तु वह समाधिनिष्ठ बुद्धि से ग्रहण करने योग्य है चाहे वह विशेष सूक्ष्म तत्वों के मध्य में हो वा पुरुष में हो इसलिये शब्द प्रमाणजन्य बुद्धि और अनुमान बुद्धि से भिन्न ही वह बुद्धि है क्योंकि वह विशेष को सिद्ध करने वाली है॥ ४६॥ समाधि बुद्धि के प्राप्त होने से योगी के बुद्धिद्वारा उत्पन्न हुए नये नये संस्कार होते हैं।

भा० का भा०--जो सुनकर शब्द प्रमाण से ज्ञान होता वह सामान्य विषय है क्योंकि शब्द से संकेतों का ज्ञान होता है संकेतित पदार्थ के प्रत्येक गुण और कर्म्मादि का ज्ञान नहीं हो सक ऐसे ही अनुमान भी सामान्य विषय है अर्थात् अनुमान प्रमाण से कि वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं होता क्योंकि अनुमान वस्तु के एक देश देख कर किया जाता है जैसे धूम्र को देखकर अग्नि का अनुमान कि जाता है परन्तु अनुमान से यह नहीं जान सकते कि वह अग्नि लक की है वा कण्डे की है अथवा पत्थर के कोयले की है। जहां शब्द अ अनुमान की गति है वहीं तक प्राप्ति भी होती है अर्थात् जहां शब्द अ अनुमान प्रमाण नहीं जा सकते उस वस्तु का ज्ञान भी उन के द्वारा न हो सकता है। शब्द प्रमाण से और अनुमान प्रमाण से उन ही वस्तु का ज्ञान हो सकता है जिनका लौकिक प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् जि वस्तुओं का इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता उन सूक्ष्म व्यवहृत अ दूरस्थित वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान शब्द प्रमाण से नहीं होता है कि उन सूक्ष्म व्यवहृत और दूरस्थित वस्तुओं का अभाव भी नहीं कह सक क्योंकि समाधिगत बुद्धि के द्वारा उन सब का ज्ञान होता है इस कार समाधिगत बुद्धि और अनुमान जन्य बुद्धि से भिन्न और विलक्षण और उसका विषय भी जुदा है ॥ ४६ ॥ योगी को जब ऋतम्भरा प्र (बुद्धि) प्राप्त होती है तब उसे नये नये संस्कार उत्पन्न होते हैं।

भो० वृ०—श्रुतमागमज्ञानम् अनुमानमुक्तलक्षणम्, ताभ्यां जायते प्रज्ञा सा सामान्यविषया। न हि शब्दलिंगयोरिन्द्रियवद्विशे प्रतिपत्तौ सामर्थ्यम्। इयं पुनर्निर्विचारवैशारद्य समुद्भवा प्रज्ञा ताभ्यां विलक्षणा विशेष विषयत्वात्। अस्यां हि प्रज्ञायां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृ ष्टानामपि विशेषः स्फुटेनैव रूपेण भासते। अतस्तस्यामेव योगिना प प्रयत्नः कर्त्तव्य इत्युपदिष्टम् भवति ॥ ४६ ॥ अस्याः प्रज्ञायाः फलमाह—

भोज वृ० का भा०—शब्द इन्द्रियों के समान किसी वस्तु

विशेष ज्ञान कराने में समर्थ नहीं होता किन्तु यह निर्विचार वैशारद्य से उत्पन्न हुई ऋतम्भरा बुद्धि शब्द प्रमाणजन्य बुद्धि और अनुमान प्रमाणजन्य बुद्धि से विलक्षण, क्योंकि इससे विशेष ज्ञान होता है। इस बुद्धिसे सूक्ष्म व्यवहृत आवृत्त और दूरस्थित पदार्थ भी स्पष्टरूप से भान होते हैं। इस कारण योगी को चाहिये कि इस ऋतम्भरा बुद्धि को प्राप्त करने में परम उद्योग करे॥ ४९॥ अगले सूत्र में ऋतम्भरा प्रज्ञा का फल कहा है—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥५०॥

सूत्र का पदार्थ—(तज्जः) उक्त समाधि से उत्पन्न हुआ जो संस्कार (अन्यसंस्कारप्रतिबन्धी) और संस्कारों का दूर करने वाला होता है॥ ५०॥

सूत्र का भावार्थ—समाधि से उत्पन्न हुवे संस्कार से और संस्कार नष्ट हो जाते हैं॥ ५०॥

व्यास भाष्य—समाधिप्रज्ञाप्रभवः संस्कारो व्युत्थानसंस्काराशयं बाधते। व्युत्थानसंस्काराभिभवात्तत्प्रभवाः प्रत्यया न भवन्ति। प्रत्ययनिरोधे समाधिरुपतिष्ठते। ततः समाधिजा प्रज्ञा, ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति। नवो नवः संस्काराशयो जायते। ततश्च प्रज्ञा, ततश्च संस्कारा इति। कथमसौ संस्कारातिशयश्चित्तं साधिकारं न करिष्यतीति। न ते प्रज्ञाकृताः संस्काराः क्लेशक्षयहेतुत्वात् चित्तमधिकारविशिष्टं कुर्वन्ति। चित्तं हि ते स्वकार्यादवसादयन्ति। ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितमिति॥५० किञ्चास्य भवति—

भा० का प०—समाधिस्थ बुद्धि के द्वारा उत्पन्न हुआ संस्कार लौकिक संस्कारों के नाश होने से उनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञान भी

नहीं होते। सांसारिक ज्ञान के नष्ट होने से समाधि अवस्था प्राप्त होती उससे समाधि बुद्धि उत्पन्न होती है उसके पश्चात् समाधि विषयणी बु के संस्कार होते हैं। इस रीति से नूतन संस्कार उत्पन्न होते हैं। उन संस्का से पुनः बुद्धि और उस बुद्धि से पुनः संस्कार उत्पन्न होते हैं। क्या संस्क चक्र चित्त को ग्राह्यादि विषययुक्त नहीं करेगा? वे बुद्धिकृत संस्का विषययुक्त नहीं करेंगे क्योंकि वे संस्कार अविद्यादि क्लेशों को क्षय क के हेतु हैं क्योंकि चित्त को वे संस्कार उसके कार्य से हटाते हैं। विचा पर्यन्त ही चित्त की क्रिया है ॥ ५० ॥

भा० का भा०—समाधिज संस्कार विषय संस्कारों को ना कर देता है जब विषय के संस्कार नष्ट होजाते हैं तब विषय का ज्ञान विनष्ट होजाता है। जब विषयज्ञान नाश को प्राप्त होजाता है तब समा विषय की बुद्धि उत्पन्न होती है पश्चात् समाधिज बुद्धि से संस्कार होते हैं अब यहां यह शंका होती है कि बुद्धि से संस्कार और संस्कार से फि बुद्धि होती रहेगी। इस चक्र परिवर्तन से चित्त कभी स्थिर न होगा इसका यह समाधान है कि समाधिज बुद्धि और संस्कार से चित्त चञ्च नहीं होता क्योंकि यह बुद्धि और संस्कार अविद्यादि क्लेशों के नाशक वे योगी के चित्त को समाधि का अधिकारी बनाते हैं और जो चित्त चञ्चलता है उसे भी नष्ट कर देते हैं ॥ ५० ॥

भोज वृ०—तया प्रज्ञया जनितो यः संस्कारः सोऽन्यान् व्युत्था जान्समाधिजांश्च संस्कारान् प्रतिबध्नाति स्वकार्य्यकरणाक्षमान् करोतीत्यर्थः यतस्तत्त्वरूपतयाऽनया जनिताः संस्कारा बलवत्त्वादतत्त्वरूपप्रज्ञाजनित संस्कारान् वाधितुं शक्नुवन्ति। अतस्तामेव प्रज्ञामभ्यसेदित्युक्तं भवति॥५०

एवं सम्प्रज्ञातं समाधिमभिधाया सम्प्रज्ञातं वक्तुमाह।

भो० वृ० का भा०—ऋतम्भरा बुद्धि से उत्पन्न हुआ संस्का व्युत्थान चित्त के संस्कारों की समाधि से उत्पन्न हुये संस्कारों

रोकता है अर्थात् उनको कार्य्यं करने के अयोग्य बना देता है क्योंकि यथार्थ रूप से उत्पन्न हुये संस्कार अयथार्थ बुद्धि से उत्पन्न हुए संस्कारों को नष्ट करने में समर्थ होते हैं। इस कारण योगी को चाहिए कि ऋतम्भरा प्रज्ञा का ही अभ्यास करें ।। ५० ॥

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

सूत्र का पदार्थ—(तस्यापि) उस अन्य संस्कार के भी (निरोधे) निरोध होने पर (सर्वनिरोधात्) सब के निरोध होने से (निर्बीजः समाधिः) निर्विकल्प समाधि होती है ।। ५१ ।।

सूत्र का भावार्थ—जब समाधि के द्वारा चित्त का निरोध हो जाता है तब निर्विकल्प समाधि होती है ॥ ५१ ॥

व्यास भाष्य—स न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी प्रज्ञाकृतानामपि संस्काराणां प्रतिबन्धी भवति। कस्मान्निरोधजः संस्कारः समाधिजान् संस्कारान्बाधत इति। निरोधस्थितिकालक्रमानुभवेन निरोधचित्तकृतसंस्कारास्तित्वमनुमेयम् व्युत्थाननिरोधसमाधिप्रभवैः सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं स्वस्यां प्रकृतावबस्थितायां प्रविलीयते। तस्मात्ते संस्काराश्चित्तस्याधिकारविरोधिनो न स्थितिहेतवो भवन्तीति। यस्मादवसिताधिकारम् सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं निवर्त्तते, तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्र प्रतिष्ठोऽतः शुद्धः केवलो मुक्त इत्युच्यत इति ॥ ५१ ॥

भा० का पदार्थ—वह संस्कार केवल समाधिज बुद्धि का विरोधी नहीं है। समाधि बुद्धि से उत्पन्न हुए संस्कारों का भी प्रतिबन्ध करने

वाला होता है। क्योंकि निरोध से उत्पन्न हुए संस्कारों को नाश करता है, निरोध की जो स्थिति उसके काल के क्रम से निरुद्ध किये हुए चित्त के संस्कारों की विद्यमानता अनुमान की जाती है। व्युत्थान निरोध और समाधि से उत्पन्न हुए कैवल्य अर्थात् मोक्षभागी संस्कारों से चित्त अपनी प्रकृति में लीन हो जाता है इस कारण से वे संस्कार चित्त के अधिकार के विरोध द्वारा स्थिति के हेतु होते हैं। जिससे समाप्त हुए अधिकारों से चित्त निवृत्त होजाता है जीवात्मा आत्मस्वरूप में स्थिर होता है शुद्ध, केवल और मुक्त कहाता है ॥ ५१ ॥

भा० का भा०--उक्त निरोधज संस्कार केवल समाधिज बुद्धि ही का प्रतिबन्धक नहीं है; किन्तु समाधिज संस्कारों का भी प्रतिबन्धी है, क्योंकि निरोध से उत्पन्न हुए संस्कार समाधिज संस्कारों के बाधक होते हैं, जिस समय चित्त और वैषयिक संस्कारों का निरोध होता है उस समय चित्तकी विद्यमानता केवल अनुमान से जानी जाती है और चित्त मोक्षभागी समाधि के संस्कार चित्त अधिकार का नाश करके चित्तस्थिति के हेतु होते हैं क्योंकि कैवल्यभागीय संस्कारों से चित्त निवृत्त होजाता है तब पुरुष आत्मस्थित अर्थात् इष्टचिन्तन में मग्न होकर मुक्त कहाता है ॥ ५१ ॥

योगस्योद्देशनिर्देशौ तदर्थं वृत्तिलक्षणम्। योगोपायाः प्रभेदाश्च पादेऽस्मिन्नुपवर्णिताः ॥

योग का उद्देश और निर्देश उसके लिये वृत्ति का लक्षण, योग के उपाय भेद और इस समाधिपाद में वर्णित हुए हैं।

भोज वृ०—तस्यापि सम्प्रज्ञातस्य निरोधे प्रविलये सति सर्वासां चित्तवृत्तीनां स्वकारणे प्रविलयाद्या या संस्कारमात्राद्वृत्तिरुदेति तस्यास्तस्या नेति नेतीति केवलं पर्युदसनान्निर्बीजः समाधिराविर्भवति। यस्मिन् सति पुरुषः स्वरूपनिष्ठः शुद्धो भवति ॥ ५१ ॥ तदत्राधिकृतस्य योगस्य लक्षणं

चित्तवृत्तिनिरोधपदानां च व्याख्यानमभ्यासवैराग्यलक्षणं तस्योपायद्वयस्य स्वरूपं भेदञ्चाभिधाय सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातभेदेन योगस्य मुख्यामुख्यभेद-मुक्त्वा योगाभ्यासप्रदर्शनपूर्वकं विस्तरेणोपायान् प्रदर्श्य सुगमोपायप्रदर्शन-परतयेश्वरस्य स्वरूपप्रमाणप्रभाववाचकोपासनानि तत्फलानि (च) निर्णीय चित्तविक्षेपांस्तत् सहभुवश्च दुःखादीन् विस्तरेण च तत्प्रतिषेधोपायानेक-तत्त्वाभ्यासमैत्र्यादीन्प्राणायामादीन् सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातपूर्वाङ्गभूतविषयवती प्रवृत्तिरित्यादीनाख्यायोपसंहारद्वारेण च समापत्तीः सलक्षणाः सफलाः स्वस्वविषयसहिताश्चोक्त्वा सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातयोरुपसंहारमभिधाय सबीज-पूर्वको निर्बीजः समाधिरभिहित इति व्याकृतो योगपादः। ॐ तत्सत् ॥

भो० वृ० का भा०—सम्प्रज्ञात के निरोध अर्थात् लय होने पर चित्त की सब वृत्तियां अपने अपने कारणों में लय होजायँगी तब संस्कार मात्र में योगी की दृष्टि विषयों की ओर नहीं जायगी तब निर्बीज समाधि की प्राप्ति होगी और उसके प्राप्त होने से योगी का आत्मा शुद्ध और निर्म्मल होता है ॥ ५१ ॥

इस समाधिपाद में योगशास्त्र प्रतिपाद्य योग के लक्षण चित्तवृत्ति का निरोध का व्याख्यान अभ्यास और वैराग्य के भेद तथा लक्षणों का वर्णन करके सम्प्रज्ञात और असंप्रज्ञात भेद से प्रधान योग और अप्रधान योगोंका प्रतिपादन भी कर चुके। इसके अतिरिक्त योगाभ्यास की रीति कहके उसके उपायों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया फिर योगप्राप्ति का सुगम उपाय ईश्वर के प्रभाव तथा लक्षणादि, उसकी उपासना का फल चित्त-विक्षेप (योग के विघ्न और विक्षेप के साथ उत्पन्न होने वाले दुःखादि) का वर्णन भी विस्तारपूर्वक किया। उन विघ्नों को दूर करने के उपाय एक तत्त्वाभ्यास, मैत्री और मुदिता आदि का वर्णन करके प्राणायामा-दिक, सम्प्रज्ञात और असंप्रज्ञात योगी की अङ्गस्वरूप ज्योतिष्मति और दिव्य विषयवती आदि प्रवृत्तियोंका वर्णन किया। इस पाद समाप्ति के समय

समापत्ति उनके लक्षण और फल एवम् सबीज और निर्बीज समाधि का वर्णन और फल भी इस समाधिपाद में ही लिखा है ।

इति श्री पातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे
प्रथमः समाधिपादः ॥ १ ॥

तत्र द्वितीयः साधनपादः ।

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रिया-योगः ॥ १ ॥

सूत्र का पदार्थ—(तपःस्वाध्याय ईश्वरप्रणिधानानि) स्वधर्म्मानुष्ठान वेदादि सत्यशास्त्रों का अभ्यास ईश्वर की भक्तिविशेष (क्रियायोगः) क्रिया योग कहलाता है ।

सूत्र का भा०—तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति को क्रियायोग कहते हैं ॥ १ ॥

व्यास भाष्य—उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः । कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते—नातपस्विनो योगः सिध्यति अनादिकर्म्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः संभेदमापद्यत इति तपस उपादानं । तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनाऽऽसेव्यमिति मन्यते । स्वाध्यायः

प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा । ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा ॥ १ ॥

भा० का पदार्थ—सावधान चित्तवाले को योग उपदेश किया गया । अब किस प्रकार से चञ्चल चित्त वाला योगयुक्त होता है यह आरम्भ किया जाता है । तपश्चर्यारहित मनुष्य को योग सिद्ध नहीं होता है । अनादि कर्म्म और अविद्यादि क्लेशों की वासना में चित्रित विषयों को उठाने वाला विषय जाल और मलिनता बिना तप के खण्डन नहीं होती । यह तप का कारण है और वह तप चित्त का प्रसन्न करने वाला अखण्डनीय है । इस कारण से भली प्रकार से धारण करने योग्य है यह योगी समझता है । स्वाध्याय का अर्थ है कि ॐ आदि पवित्र मन्त्रों को जपना वा जिन शास्त्रों में मोक्ष का उपदेश है उन शास्त्रों के पढ़ने को स्वाध्याय कहते हैं । ईश्वरभक्ति का अर्थ है कि सब क्रियाओं को परम गुरु परमेश्वर में अर्पण करना अथवा कर्म्मफलों का त्याग ॥ १ ॥

भा० का भा०—प्रथमपाद में सावधान अर्थात् स्थिर चित्त वाले के वास्ते संप्रज्ञात आदि योग का वर्णन कर चुके किन्तु अस्थिर चित्तवाले को योग कैसे सिद्ध होता है—अब इस विषय का आरम्भ किया जाता है, तपश्चर्य्यारहित पुरुषको योगसिद्ध नहीं होता क्योंकि अनादि कर्म्म और अविद्यादि क्लेशों की वासना से उत्पन्न हुआ विषयजाल तथा चित्त की मलिनता बिना तप के कभी नष्ट नहीं होती । बस तप करने का यही उपादान कारण है अर्थात् इस ही अभिप्राय से तप किया जाता है तप से चित्त प्रसन्न होता है । इस लिये तप रुचिपूर्वक ग्रहण करने योग्य है । प्रणव आदि पवित्र वेदोक्त मन्त्रों के जपको अथवा मोक्षोपदेशक शास्त्रों के अध्ययन को स्वाध्याय और सुकर्मों को ईश्वरार्पण करने अथवा उनके फल त्याग को ईश्वरप्रणिधान कहते हैं । इन तप आदि के करने से अस्थिर-चित्त वाले को भी क्रम से योग सिद्ध हो जाता है ॥ १ ॥

प्रथम सूत्र---प्रथम पाद में समाधि का स्वरूप निरूपण क
अब उसकी प्राप्ति के उपाय अर्थात् साधनों का वर्णन करना आरम्भ
करते हैं यद्यपि सूत्रकार और भाष्यकार ने ज्ञान-योग पृथक् रूप
नहीं लिखा है तथापि इस सूत्र से अर्थापत्तिप्रमाण द्वारा सिद्ध होता
कि ईश्वर प्रणिधानादि क्रियायोग और ईश्वर ज्ञान में लय रहना ज्ञानयो
कहाता है। ऐसा ही गीता में भी लिखा है---"ज्ञानयोगेनसांख्याना
कर्म्मयोगेनयोगिनाम्" अब यहां पर यह सन्देह होता है कि साधनपा
में केवल योग के साधनों का ही वर्णन होना चाहिए योग के भेदों
नहीं और क्रियायोग का भेद विशेष जान पड़ता है इसका उत्तर यह
कि अगले सूत्रार्थ से स्पष्ट जान पड़ता है, कि क्रियायोग से समाधि
प्राप्ति होती है और क्लेश दूर होते हैं।

भो० वृ०--तदेवं प्रथमे पादे समाहितचित्तस्य सोपायं योगमभिधा
व्युत्थितचित्तस्यापि कथमुपायाभ्यासपूर्वको योगः सात्म्यमुपयातीति तत्स
धनानुष्ठानप्रतिपादनाय क्रियायोगमाह।

तपः शास्त्रान्तरोपदिष्टं कृच्छ्रचान्द्रायणादि। स्वाध्यायः प्रणव
पूर्वाणां मन्त्राणां जपः। ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां तस्मिन् परम
गुरौ फलनिरपेक्षतया समर्पणम्। एतानि क्रियायोग इत्युच्यते ॥ १ ॥
स किमर्थमित्याह।

भो० वृ० का भा०---इस प्रकार से पहिले पाद में सावधान
चित्तवाले योगी के निमित्त उपाय सहित योग का वर्णन करके अब इस
दूसरे पाद में चञ्चल चित्त वाले के 'चित्त को' स्थिर करने वाले
क्रियायोग का वर्णन किया जाता है।

तप---चान्द्रायणादि (प्रायश्चित्त) स्वाध्याय वेद मन्त्रों के आरम्भ
में ओ३म् का योग करके जप करने को कहते हैं, ईश्वरप्रणिधान का
अर्थ यह है कि परमगुरु परमेश्वर में सब क्रियाओं के फल को अर्पण
कर देना, इनको ही क्रियायोग कहते हैं ॥ १ ॥

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥

सूत्र का पदार्थ—वह क्रियायोग (समाधि भावनार्थः) समाधि के सिद्ध और (क्लेशतनूकरणार्थश्च) वक्ष्यमाण क्लेशों के न्यून करने के लिये है ॥ २ ॥

सूत्र का भावार्थ—उक्त क्रियायोग समाधि के सिद्ध और क्लेशों के न्यून करने के लिये होता है ॥ २ ॥

व्यास भाष्य—स हि क्रियायोगः । स ह्यासेव्यमानः समाधि भावयति क्लेशांश्च प्रतनू करोति । प्रतनूकृतान् क्लेशान् प्रसंख्यानाग्निना दग्धबीजकल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति । तेषां तनूकरणात्पुनः क्लेशैरपरामृष्टा सत्वपुरुषान्यतामात्रख्यातिः सूक्ष्मा प्रज्ञा समाप्ताधिकारा प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यत इति । अथ के क्लेशाः कियन्तो वेति ॥ २ ॥

भा० का प०—क्योंकि वह कर्म्मयोग उत्तम रीति से धारण किया जाने से समाधि को प्रकाशित वा सिद्ध करता है और क्लेशों को न्यून करता है । न्यून किये हुए अविद्यादि क्लेशों को योगाग्नि से जलेहुए बीज के समान उत्पन्न होने के अयोग्य करदेगा । उनके (तनूकरणात्) सूक्ष्म करने से फिर क्लेशों से स्पर्श रहित बुद्धि वा पुरुष इन दोनों में से एक की ख्याति अर्थात् विचार करता है सूक्ष्म विषयोंको विचारने वाली बुद्धि समाप्त होगये हैं विषय में अधिकार जिसके पुनः क्लेशों को उत्पन्न करेगी नहीं ।

भा० का भा०—सूत्रोक्त क्रियायोग जब अच्छे प्रकार से धारण किया जाता है तब वह समाधि को सिद्ध करता है और क्लेशों को दूर करता है अर्थात् योगाग्नि से क्लेशों के बीज को जला कर फिर उन्हें उत्पन्न होने के योग्य नहीं रखता । जब योगी के क्लेश नष्ट

हो जाते हैं तब उसकी बुद्धि सूक्ष्म विचार करने योग्य होती है और फि क्लेश उत्पन्न नहीं होते यही क्रियायोग कहलाता है ॥ २ ॥

अब अगले सूत्र में यह वर्णन करेंगे कि क्लेश कौन-कौन और कितने हैं ॥ २ ॥

भोज वृत्ति—क्लेशा वक्ष्यमाणास्तेषां तनूकरणं स्वकार्य्यकरण प्रतिबन्धः। समाधिरुक्तलक्षणस्तस्य भावना चेतसि पुनः पुनर्निवेशः सोऽर्थः प्रयोजनं यस्य स तथोक्तः। एतदुक्तम् भवति—एते तपःप्रभृतयो ऽभ्यस्यमानाश्चित्तगतानविद्यादीन्क्लेशान्शिथिलीकुर्वन्तः समाधेरुप कारकतां भजन्ते। तस्मात् प्रथमं क्रियायोगविधानपरेण योगिना भवितव्य मित्युपदिष्टम् ॥ २ ॥ क्लेशतनूकरणार्थ इत्युक्तम्, तत्र के क्लेशा इत्याह।

भो॰ वृ॰ का भा॰—जिन क्लेशों का आगे वर्णन किया जायगा उनको घटाने के निमित्त अर्थात् क्लेशों के कार्य्य दुःखादि और कारण कुसंस्कार तथा दुर्वासना को दूर करने के वास्ते उक्त लक्षण की समाधि की भावना अर्थात् बारम्बार चित्त में धारण करने के निमित्त ही क्रिया- योग किया जाता है। तात्पर्य यह है, कि तप आदि के करने से चित्त के अविद्यादि क्लेश शिथिल होजाते हैं और समाधिमें उपकार करते हैं। इस कारण योगी को चाहिये कि प्रथम क्रियायोग में तत्पर हो ॥ २ ॥

इस सूत्र में क्लेशों का शिथिल होना कहा है इस कारण अगले सूत्र में यह लिखा गया है, कि क्लेश किनको कहते हैं—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च-क्लेशाः ॥ ३ ॥

सू॰ का पदार्थ—(अविद्या) वेत्ति पदार्थानां तत्त्वस्वरूपं यया स विद्या—जिससे सब पदार्थों का यथार्थ रूप जाना

जाय उसे विद्या कहते हैं और उससे विपरीत अविद्या कहलाती है (अस्मिता) अहंकार (राग) प्रीति (द्वेष) शत्रुता (अभिनिवेश) "अनित्यैरपि देहादिभिर्मे वियोगो माभूदिति मरणभीतिजनकमज्ञानमभिनिवेशः," मरने के भय को अभिनिवेश कहते हैं (पञ्चक्लेशाः) यही पाँच क्लेश हैं ॥ ३ ॥

सू० का भा०—अविद्या १, अस्मिता २, राग ३, द्वेष ४ और अभिनिवेश ५, यह पाँच प्रकार के क्लेश हैं ॥ ३ ॥

व्यास भाष्य—क्लेशा इति पञ्च विपर्यया इत्यर्थः। ते स्पन्दमाना गुणाधिकारं द्रढयन्ति, परिणाममवस्थापयन्ति कार्य्यकारणस्रोत उन्नमयन्ति, परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा कर्म्मविपाकञ्चाभिनिर्हरन्तीति ॥ ३ ॥

भा० का प०—क्लेश का अर्थ करते हैं। पाँच प्रकार के मिथ्याज्ञान बढ़कर वा प्रबल होकर तमोगुणादि के अधिकार को दृढ़ करते हैं। दूसरी दशा अर्थात् स्वभाव के विकार को (अवस्थापयान्त) सिद्ध वा स्थिर करते हैं अविद्या के कार्य जो सुख दुःखादि और अविद्या का कारण जो अविवेक इन दोनों कार्य्य कारण के प्रवाह को बढ़ाते हैं एक दूसरे के सहायक होके कर्म्म के फल को प्रकाशित करते हैं ॥ ३ ॥

भाष्य का भावार्थ—अविद्यादि पाँच क्लेश अर्थात् पाँच प्रकार के मिथ्याज्ञान जब अधिक होते हैं तब अपने-अपने गुणों को दृढ़ कर लेते हैं अर्थात् जब मनुष्य को अस्मिता अधिक होती है, तब अहंकार दृढ़ होजाता है और चित्त की प्रकृति को बदल देते हैं। सांसारिक सुख और दुःख की नदी को बहाने लगते हैं। एक दूसरे सहायकारी हो के कर्म्म फलों को प्रकाशित करते हैं ॥ ३ ॥

सूत्र—इस सूत्र में अन्य क्लेशों का कारण अविद्या को कहा। परन्तु अविद्या का कारण क्या है ? इसका उत्तर वैशेषिक शास्त्र में लिखा है-"इन्द्रियदोषात्" संस्कार के दोष से अविद्या उत्पन्न होती है, इससे सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण क्लेश इन्द्रियों के दोष से ही उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

भो० वृ०—अविद्यादयो वक्ष्यमाणलक्षणाः पञ्च। ते च बाधनालक्षणं परितापमुपजनयन्तः क्लेशशब्दवाच्या भवन्ति। ते हि चेतसि प्रवर्त्तमानाः संस्कारलक्षणं गुणपरिणामं द्रढयन्ति ॥ ३ ॥

सत्यपि सर्वेषां तुल्ये क्लेशत्वे मूलभूतत्त्वादविद्यायाः प्राधान्यं प्रतिपादयितुमाह।

भो० वृ० का भा०—जिनके लक्षण आगे कहे जायेंगे वह अविद्यादि क्लेश पाँच हैं। वह पाँचों दुःख वा सन्ताप उत्पन्न करते हैं इससे उनको क्लेश कहते हैं। वह चित्त में रह कर अपने गुणों के चक्र वा हेर वा फेर को दृढ़ करते हैं ॥ ३ ॥ यद्यपि वे सब क्लेश ही हैं परन्तु अविद्या उनका मूल है इस कारण अगले सूत्र में अविद्या की प्रधानता का वर्णन किया है।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

सूत्र का पदार्थ-(प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणां) प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार (उत्तरेषाम्) आगे के अस्मिता आदि क्लेशों का (अविद्याक्षेत्रं) अविद्या क्षेत्र स्थान है ॥४॥

सूत्र का भा०—अस्मिता आदि अन्य और सब क्लेशों का अविद्या कारण है ॥ ४ ॥

व्यास भाष्य—अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां चतुर्विधविकल्पितानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणां। तत्र का प्रसुप्तिः। चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः। तस्य प्रबोध आलम्बने संमुखीभावः। प्रसंख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य सम्मुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति, दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति। अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते। तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति। सतां क्लेशानां तदा बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य सम्मुखीभावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोध इत्युक्ता प्रसुप्तिर्दग्धबीजानामप्ररोहश्च। तनुत्वमुच्यते—प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति। तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनाऽऽत्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः। कथं रागकाले क्रोधस्यादर्शनात्। न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति। रागश्च क्वचिद्दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति। नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इति अन्यासु स्त्रीषु विरक्तः किन्तु तत्र रागो लब्धवृत्तिरन्यत्र तु भविष्यद्वृत्तिरिति। स हि तदा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति।

विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः। सर्व एवैते क्लेशविषयत्वं-प्रत्ययन्नातिक्रामन्ति। कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्तस्तनुरुदारो वा क्लेश इत्युच्यते—सत्यमेवैतत्, किन्तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वम्। यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जकाञ्जनेनाभिव्यक्त इति। सर्व एवामी क्लेशा अविद्याभेदाः। कस्मात् सर्वेष्वविद्यैवाभिप्लवते। यदविद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशाविपर्यास-प्रत्ययकाल उपलभ्यन्ते क्षीयमाणां चाविद्यामनु क्षीयन्त इति ॥ ४ ॥ तत्राविद्यास्वरूपमुच्यते—

भा० का पदार्थ—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, और उदार इन चार प्रकार के अस्मिता आदि क्लेशों का अविद्या खेत अर्थात् उत्पत्ति स्थान

है उनमें प्रसुप्ति क्या है अर्थात् प्रसुप्ति किसे कहते हैं । चित्तमें रहने वाले क्लेशों का बीजभाव को प्राप्त हो जाना उस क्लेश का जाग्रत अर्थात् चैतन्य होने पर (सम्मुखीभाव) क्लेश प्रदान करने को उद्यत होना और विषय में फँसा देना हो जाता है । दग्ध हो गये हैं क्लेशों के बीज जिसके हृदय में योगी के ऐसे क्लेश फिर सन्मुख वा चैतन्य हों भी जिसका बीज ही नष्ट गया है उसकी उत्पत्ति कहाँ इसलिये जिसके क्लेश क्षीण होगये हैं वह मुमुक्षु चतुर चरम देह अर्थात् वर्त्तमान शरीर ही जिसकी अन्तावस्था है कहाता है । उसही में वह भस्म हो गया है बीज जिसका ऐसी पाँचवीं क्लेश की अवस्था होती है अन्यत्र नहीं । क्लेशों के होने पर भी उस काल में उत्पन्न होने की शक्ति भस्म होजाती है विषय के सन्मुख होने पर भी क्लेशों का प्रबोध नहीं होता इस प्रकार से कही जाती है क्लेशों की प्रसुप्त अवस्था । जले हुए बीज वालों का फिर उत्पन्न न होना और तनु अर्थात् हलका होना कहा जाता है । प्रतिपक्ष अर्थात् क्लेश के शत्रु योग की भावना अर्थात् विचार के साधन से नाश हुए पाँचों क्लेश तनु अर्थात् सूक्ष्माकार प्रायः अदृश्य के समान हो जाते हैं । ऐसे ही खण्ड - खण्ड होकर अपने अपने रूप से फिर आचरित होने लगते हैं । खण्डित कैसे होते हैं ? मोह के समय में क्रोध के गुप्त होजाने से । क्योंकि राग के समय में क्रोध नहीं रहता है और राग भी कहीं नहीं देखा गया । दूसरे क्रोधादि विषयों में नहीं होता । एक स्त्री में चैत्र नामी पुरुष प्रीतिमान् है और अन्य स्त्रियों में विरक्त है लेकिन पहिली स्त्री में प्रीति लगी हुई है और अन्य स्त्रियों में प्रति भविष्यत्रूप से है उस काल में प्रसुप्त, तनु, अथवा विच्छिन्न होता है । पैदा विषय में जिसकी वृत्ति लगी है वह उदार कहाता है ॥ ४ ॥ ये सब क्लेश की सीमा को अतिक्रमण नहीं करते । जब ऐसा है तो फिर प्रसुप्त आदि संज्ञा भेद क्यों किया गया ? इसका उत्तर यह है कि विशेषता जतलाने के लिये ही यह संज्ञा भेद किया गया है ये सब क्लेश वस्तु अविद्या के ही भेद हैं ? क्योंकि इन सब में अविद्या

व्याप्त हो रही है। अविद्या से जो अवस्तु में वस्तु का आरोपण किया जाता है, यही क्लेशों की अनुवृत्ति का कारण है। अविद्या के उदय होने पर क्लेश भी उदय होते हैं। क्षीण होने पर वे नष्ट हो जाते हैं ॥ ४ ॥

अब अविद्या का स्वरूप कहते हैं—

भा० का भा०—इन सब क्लेशों का मूल कारण अर्थात् उत्पत्ति स्थान अविद्या है, क्योंकि विना अविद्या के अन्य चारों क्लेश प्रसुप्त के समान पड़े रहते अर्थात् उनका बीजमात्र हृदय में रहता है परन्तु जब अविद्या का मनुष्य के हृदय में सञ्चार होता है तब अन्य क्लेश भी जाग्रत होजाते हैं किन्तु योगाग्नि से जिसके क्लेश भस्म हो जाते हैं उसको पुनः किसी क्लेश का आविर्भाव नहीं होता क्योंकि जले बीज से वृक्षकी उत्पत्ति होना ही असम्भव है ॥ ४ ॥

भो० वृ०—अविद्या मोहः, अनात्मन्यात्माभिमान इति यावत्। सा क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां प्रत्येकं प्रसुप्ततन्वादिभेदेन चतुर्विधानाम्। अतो यत्राविद्या विपर्य्ययज्ञानरूपा शिथिलीभवति तत्र क्लेशानामस्मितादीनां नोद्भवो दृश्यते। विपर्य्ययज्ञानसद्भावे च तेषामुद्भवदर्शनात् स्थितमेव मूलत्वमविद्यायाः। प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणामिति। तत्र ये क्लेशाश्चित्तभूमौ स्थिताः प्रबोधकाभावे स्वकार्य्यं नाऽऽरभन्ते ते प्रसुप्ता इत्युच्यन्ते। यथा बाल्यावस्थायां, बालस्य हि वासनारूपेणस्थिता अपि क्लेशाः प्रबोधकसहकार्य्यभावे नाभिव्यज्यन्ते। ते तनवो ये स्वस्वप्रतिपक्षभावनया शिथिलीकृतकार्य्यसम्पादनशक्तयो वासनावशेषतया चेतस्यवस्थिताः प्रभूतां सामग्रीमन्तरेण स्वकार्य्यमारब्धुमक्षमाः। यथाऽभ्यासवतो योगिनः। ते विच्छिन्ना ये केनचिद्बलवता क्लेशेनाभिभूतशक्तयस्तिष्ठन्ति। यथा द्वेषावस्थायां रागः, रागावस्थायां वा द्वेषः, न ह्यनयोः परस्परविरुद्धयोर्युगपत्सम्भवोऽस्ति। ते उदारा ये प्राप्तसहकारिसन्निधयः स्वं स्वं कार्य्यमभिनिर्वर्तयन्ति। यथा सदैव योगपरिपन्थिनो व्युत्थानदशायाम्। एषां प्रत्येकं चतुर्विधानामपि मूलभूतत्वेन

स्थिताऽप्यविद्याऽन्वयित्वेन प्रतीयते। न हि क्वचिदपि क्लेशानां विपर्यान्वयनिरपेक्षाणां स्वरूपमुपलभ्यते। तस्यां च मिथ्यारूपायां सम्यग्ज्ञानेन निवर्तितायां दग्धबीजकल्पानामेषां न क्वचित् प्ररोहोऽस्ति। अतोऽविद्यानिमित्तत्वमविद्यान्वयश्चैतेषां निश्चीयते। अतः सर्वेऽपि अविद्याव्यपदेशभाजः सर्वेषां च क्लेशानां चित्तविक्षेपकारित्वात् योगिना प्रथममेव तदुच्छेदे यत्नः कार्य्य इति ॥ ४ ॥ अविद्याया लक्षणमाह।

भो० वृ० का भा०—अविद्या का अर्थ मोह है, अर्थात् अनात्म बुद्धि रखने को अविद्या कहते हैं, वह अविद्या दूसरे क्लेशों के उत्पन्न करने वाली भूमि है। प्रत्येक क्लेश के चार भेद हैं—तनु, प्रसुप्त, विच्छिन्न और उदार। जहाँ अविद्या का अभाव होता है वहाँ अन्य क्लेश भी नहीं रहते हैं, क्योंकि अस्मितादि क्लेश विपर्य्ययज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं। इस से सिद्ध होता है कि अन्य चारों क्लेश अविद्या से ही उत्पन्न होते हैं। प्रसुप्त तनु विच्छिन्नोदाराणाम् का अभिप्राय यह है, कि जो क्लेश चित्त भूमि में रहते हैं वह प्रबोधक अर्थात् उस करने वाले के बिना अपने कार्य्य को नहीं कर सकते हैं, इससे ही प्रसुप्त कहलाते हैं। जैसे बाल्यावस्था में बालकों के चित्त में क्लेश रहते भी हैं तो भी बिना सहायकारी के वह प्रकाशित नहीं होते हैं। वे तनु जो अपने शत्रुओं के दबाव से ऐसे दुर्बल हो जाते हैं कि वह केवल वासनावश होकर चित्त में रहते हैं इस कारण वे अपने कार्य्य को करने में असमर्थ हैं, क्योंकि वे अपने काम करने की पूरी सामग्री नहीं पाते हैं। विच्छिन्न वे हैं, जो किसी बलवान् क्लेश से दबकर रहते हैं। दोष की अवस्था में राग और राग की अवस्था में द्वेष, इन दोनों का एक समय में होना असम्भव है। उदार वे हैं जो अपने सहायक की समीपता को पाके अपने अपने कार्य्य को करते हैं। जैसे योग के विघ्नकारक सदैव रहते हैं। चित्त की चञ्चल दशा में इन में भी प्रत्येक के चार-चार भेद होते हैं परन्तु उन भेदों में से भी प्रत्येक भेद का कारण अविद्या ही है क्योंकि बिना

विपर्य्ययज्ञान के कोई भी क्लेश उत्पन्न नहीं होता है। इस कारण मिथ्याज्ञान रूप जो अविद्या है उसके नाश होने से और सब क्लेशों के बीज ही जले हुए के तुल्य हो जाते हैं। तब वह क्लेश उत्पन्न नहीं होते हैं। इस कारण अविद्या का सम्यक् ज्ञानमें परिणत होना ही क्लेश-नाशका हेतु है। सम्पूर्ण क्लेश अविद्या से ही उत्पन्न वा प्रकाशित होते हैं और सब ही क्लेश योग में विघ्नकारक और चित्त में विक्षेप करने वाले हैं इस कारण योगी को प्रथम अविद्या का ही नाश करना चाहिये ॥ ४ ॥ अगले सूत्र में अविद्या के लक्षण कहे हैं—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचि-सुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

सूत्र का पदार्थ-(अनित्याशुचिदुःखानात्मसु) अनित्य में, अपवित्र में, दुःख में, अनात्म अर्थात् जड़ पदार्थों में (नित्यशुचिसुखात्मख्यातिः) क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख और आत्मा अर्थात् चैतन्य बुद्धि को (अविद्या) अविद्या कहते हैं ॥ ५ ॥

सूत्र का भा०—अनित्य में नित्य बुद्धि, अपवित्र में पवित्र बुद्धि दुःख में सुख बुद्धि, अनात्म में आत्म-बुद्धि को अविद्या कहते हैं ॥ ५ ॥

व्यास दे० कृ० भाष्य—अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिः । तद्यथा-ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः, अमृता दिवौकस इति । तथाऽशुचौ परमबीभत्से कायेशुचिख्यातिः । उक्तञ्च "स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निः स्यन्दान्निधनादपि । कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः" । इत्यशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यते । नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्त्वा

निःसृतेव ज्ञायते, नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति कस्य केनाभिसम्बन्धः। भवति चैवमशुचौ शुचिविपर्य्यासप्रत्ययः इति। एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः। तथा दुःखे सुखख्यातिं वक्ष्यति "परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" इति। तत्र सुखख्यातिरविद्या। तथा अनात्मन्यात्मख्यातिर्बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे पुरुषोपकरणे वा मनस्यनात्मन्यात्मख्यातिरिति। तथैतदत्रोक्तम् "व्यक्तमव्यक्तम् वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दत्यात्मसम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनु शोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः" इति। एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसन्तानस्य कर्म्माशयस्य च सविपाकस्येति। तस्याश्चामित्रागोष्पदवद्वस्तुसतत्त्वं विज्ञेयम्। यथा नामित्रो मित्राभावो न मित्रमात्रं किन्तु तद्विरुद्धः सपत्नः। यथाचागोष्पदं न गोष्पदाभावो न गोष्पदमात्रं किन्तु देश एव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम्, एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति॥ ५॥

भा० का पदार्थ--अनित्य अर्थात् स्थिर अथवा प्रकृति के कार्य रूप जगत् में नित्य अर्थात् चिरस्थायी अथवा कारण बुद्धि करना जैसे अनित्य पृथिवी में ध्रुव अर्थात् अचल और स्थिर बुद्धि करना अविद्या है तारागण और चन्द्रमा के सहित उर्ध्व लोकों को अविनाशी मानना अविद्या है। देवता लोग अमर अर्थात् मृत्युरहित हैं इसको अविद्या कहते हैं। इसी प्रकार से अपवित्र में पवित्रता विषयक बुद्धि दीखती है। यह चन्द्रकला नवीन है, यह कन्या कमनीय अर्थात् कामना योग्य वा मनोहर है, कोमल अमृत के समान अङ्गों वाली, हाव-भाव भरे नेत्रों से प्राणियों को आश्वासन करती है; इस प्रकार अपवित्र में पवित्र

बुद्धि ज्ञान का निश्चय होता है इस ही के समान पाप में पुण्य ज्ञान तथा अनर्थ में अर्थ-ज्ञान कहा गया है। अब दुःख में सुख ख्याति को कहते हैं—भोगादि में जिन का परिणाम दुःख है, सुखदायक समझकर लिप्त होना यह तीसरी प्रकार की अविद्या है। अनात्म में आत्म-बुद्धि उसको कहते हैं कि भोगाधिष्ठान शरीर में वा बाह्य उपकरण इन्द्रियादि में अथवा अन्तःकरण मन आदि में आत्म-बुद्धि करना, जैसा कि पञ्चशिख आचार्य ने कहा है—व्यक्त = पुत्रदार पश्वादि में और अव्यक्त शय्यासनाशनादि में आत्म बुद्धि करके उनकी वृद्धि से हर्षित और उनके नाश से दुःखित होना चौथी प्रकार की अविद्या है। इस प्रकार से ४ भाग वाली अविद्या होती है। उक्त क्लेश समुदाय की तथा कर्माशय और उनके फलों की मूल अविद्या ही है और उस अविद्या का अभिप्राय अमित्र अगोष्पद के समान तत्वार्थ के सहित समझना योग्य है जैसे (नामित्रः) हित-साधक को मित्र कहते हैं और जो उसके विपरीत अर्थात् अहित चिन्तक हो उसे अमित्र कहते हैं। एवम् जो अमित्र के विपरीत हो वह नामित्र कहाता है। अभिप्राय यह है, कि नामित्र शब्द से मित्राभाव अर्थात् शत्रुता सिद्ध नहीं होती ऐसे ही अगोष्पद शब्द से न तो गोष्पदाभाव और न गोष्पद मात्र की तितीक्षा है किन्तु देश अभिप्रेत है, जैसे ही अविद्या न तो प्रमाण है और न अप्रमाण किन्तु विद्या के विपरीत ज्ञान का नाम अविद्या है ॥ ५ ॥

भा० का भा०—अनित्य कार्य अर्थात् पृथिवी और अन्तरिक्षस्थ सब लोक अचल हैं, अथवा देवता अमर हैं। इत्यादि विपरीत बुद्धि को अविद्या कहते हैं, अथवा मल मूत्रादि परम अशुचि पदार्थों के स्थान देहादि में पवित्र बुद्धि करना अविद्या है, क्योंकि जगत् में देखते हैं, कि कोटिशः मनुष्यों को स्त्री के अपवित्र शरीर में और स्त्री को वैसे ही पुरुष के शरीर में पवित्रता की बुद्धि होती है, ऐसे ही दुःख में सुख बुद्धि और अनात्म पदार्थों में आत्म बुद्धि को अविद्या कहते हैं ॥ ५ ॥

पँचम सूत्र--अविद्या का लक्षण सूक्ष्मता से यह अच्छा प्र
पड़ता है कि "अतस्मिंस्तत्प्रतिभासोऽविद्या" ॥ ५ ॥

भो० वृ०--अतस्मिंस्तदिति प्रतिभासोऽविद्येत्यविद्यायाः सामान्य
लक्षणम्। तस्या एव भेदप्रतिपादनम्--अनित्येषु घटादिषु नित्यत्वाभि
मानोऽविद्येति उच्यते। एवमशुचिषु कायादिषु शुचित्वाभिमानः दुः
ख विषयेषु सुखत्वाभिमानः, अनात्मनि शरीरे आत्मत्वाभिमानः। एते
पुण्ये पुण्यभ्रमोऽनर्थे चार्थभ्रमो व्याख्यातः ॥५॥ अस्मितां लक्षयितुमाह

भो० वृ० का भा०--अविद्या का अर्थ यह है कि किसी वस्तु
तद्विरुद्ध वस्तु का ज्ञान होना यह अविद्या का सामान्य लक्षण है, इस ही
भेद कहते हैं, अनित्य घट आदि पदार्थों में नित्य अर्थात् सदैव स्थि
रहने के मिथ्या ज्ञान को अविद्या कहते हैं। ऐसे ही अपवित्र में पवि
बुद्धि को अविद्या कहते हैं अर्थात् अपवित्र शरीर में पवित्र बुद्धि कर
को अविद्या कहते हैं, दुःख रूप विषयों में सुख समझने को अवि
कहते हैं जड़ शरीर में आत्म बुद्धि करना अविद्या कहाता है इससे यह
सिद्ध हुआ कि पाप मे पुण्य बुद्धि और अधर्म में धर्म बुद्धि करने को भी
अविद्या कहते हैं ॥ ५ ॥ अस्मिता का लक्षण कहते हैं--

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

सूत्र का पदार्थ--(दृग्दर्शनशक्त्योः) द्रष्टा और दर्श
अर्थात् देखने में सहायक इन दोनों शक्तियों को (एका
त्मतेव) अभिन्न जानना (अस्मिता) अस्मिता कहाती है ॥६

सूत्र का भा०--द्रष्टा और दर्शनशक्ति में अभेदज्ञान
अस्मिता कहते हैं ॥ ६ ॥

व्यास भाष्य--पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेक
स्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते। भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्त

विभक्तयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते। स्वरूपप्रतिलम्भे तु तयोः कैवल्यमेव भवति कुतो भोग इति। तथा चोक्तम्—'बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिः विभक्तम-पश्यन् कुर्यात्तत्राऽऽत्मबुद्धिं मोहेन' इति॥ ६॥

भा० का पदार्थ—पुरुष अर्थात् जीव में देखने की शक्ति होती है। बुद्धि में दर्शन अर्थात् देखने में सहायकारिणी शक्ति होती है। इन दोनों शक्तियों को एक स्वरूप अर्थात् अभिन्न मानना अस्मिता क्लेश कहाता है ऐसेही भोग्य शक्ति और भोक्तृ शक्तियों को जो अत्यन्त ही भिन्न हैं और जो अत्यन्त असंकीर्ण अर्थात् जिनका परस्पर कुछ भी मेल नहीं है विभागरहित अर्थात् एक मान कर भोग की कल्पना करना है उसे अस्मिता कहते हैं। जब जीव को परमेश्वर वा अपने रूपकी प्राप्ति अर्थात् ज्ञान होता है तब तो दृक्शक्ति और दर्शन शक्ति कैवल्य को प्राप्त हो जाती हैं फिर भोग ही क्या होगा? ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है। बुद्धि से ईश्वर और जीव को आकार शील और विद्यादि को अभिन्न देखता हुवा उनमें आत्मबुद्धि मोह से करे॥ ६॥

भा० का भा०—पुरुष अर्थात् ईश्वर और जीव इनमें देखने की शक्ति है और बुद्धि में दिखलाने की शक्ति है इन शक्तियों को एक मानना इसे ही अस्मिता क्लेश कहते हैं, जिस प्रकार से भोग्य अर्थात् भोग करने के योग्य और भोक्तृशक्ति अर्थात् भोग करने वाले की शक्ति जो परस्पर अति ही भिन्न और अत्यन्त ही संकीर्ण हैं उनको एक मानना। ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है कि बुद्धि से परम पुरुष अर्थात् ईश्वर वा जीवको लक्षण विद्यादि से विभक्त अर्थात् भिन्न विना विचारे तिनमें एक बुद्धि करना केवल मूर्खता ही है॥ ६॥

छठा सूत्र-इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि आत्मा और बुद्धि को एक मानने को अस्मिता कहते हैं॥ ६॥

भो० वृ०—दृक्शक्तिः पुरुषः, दर्शनशक्ती रजस्तमोभ्यामनभिभूतः सात्त्विकः परिणामोऽन्तःकरणरूपः, अनयोर्भोग्यभोक्तृत्वेन जडाजडत्वेनात्यन्तभिन्नरूपयोरेकताभिमानोऽस्मितेति उच्यते। यथा प्रकृतिर्वस्तुतः कर्तृत्वभोक्तृत्वरहिताऽपि कर्त्र्यहं भोग्यहमित्यभिमन्यते। सोऽयमस्मिताख्यो विपर्य्यासः क्लेशः॥ ६॥ रागस्य लक्षणमाह—

भो० वृ० का भा०—दृक्शक्ति पुरुष है और दर्शनशक्ति रजोगुण और तमोगुण के संसर्ग से रहित केवल सत्वगुण से युक्त अन्तःकरण कहाता है यह दोनों भोग्य और भोक्ता, एवम् जड़ और चैतन्य आदि गुणों में अत्यन्त ही भिन्न भान होते हैं। इन दोनों में जो एकता का अभिमान है उसे अस्मिता कहते हैं। जैसे आत्मा कर्त्ता और भोक्ता नहीं है तो भी पुरुष मैं कार्य्यों का कर्ता हूं, भोक्ता हूं, ऐसा मानता है—यही क्लेश अस्मिता कहाता है॥ ६॥ राग का लक्षण कहते हैं—

सुखानुशयी रागः॥ ७॥

सूत्र का पदार्थ—(सुखानुशयी) सुख का अनुस्मरणपूर्वक जो सुख की प्रवृत्ति होती है (रागः) राग कहाता है॥ ७॥

सूत्र का भा०—सुख के साधन को राग कहते हैं॥ ७॥

व्यास भाष्य—सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धस्तृष्णा लोभः स राग इति॥ ७॥

भा० का प०—जिसको सुख का ज्ञान है उसको सुख के अनुस्मरणपूर्वक सुख में अथवा उसके साधन में जो लोभ है वह राग कहलाता है॥ ७॥

भा० का भा०—जिसने कभी सुख भोगा है उसे सुख की स्मृति होती है। उस स्मृति से जो सुख के साधनों में लोभ होता है उसही लोभ को राग कहते हैं॥ ७॥

भो० वृ०—सुखमनुशेत इति सुखानुशयी सुखज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वकः सुखसाधनेषु तृष्णारूपो गर्धो रागसंज्ञकः क्लेशः ॥ ७ ॥

द्वेषस्यलक्षणमाह ।

भो० वृ० का भा०—सुखके पश्चात् जो होता है उसे सुखानुशयी कहते हैं जिस पुरुष को सुख का ज्ञान है उसको सुख का स्मरण होता है फिर सुख में जो लोभ होता है उसही लोभ को राग कहते हैं ॥ ७ ॥ द्वेष का लक्षण कहते हैं—

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

सूत्र का पदार्थ—(दुःखानुशयी) दुःख का अनुस्मरण (द्वेषः) द्वेष कहाता है ॥ ८ ॥

सू० का भा०—दुःख के साधन को द्वेष कहते हैं ॥ ८ ॥

व्यास भाष्य—दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेषः ॥ ८ ॥

भाष्य का प०—दुःख के जानने वाले को दुःखानुस्मरणपूर्वक दुःखमें अथवा उसके साधन में जो क्रोध या अप्रीति वह द्वेष है ॥ ८ ॥

भा० का भा०—दुःख को जानने वालेका दुःख स्मरणपूर्वक उसके प्रति जो क्रोध उसे द्वेष कहते हैं ॥ ८ ॥

भो० वृ०—दुःखमुक्तलक्षणं, तदभिज्ञस्य तदनुस्मृतिपूर्वकं तत्साधनेषु अनभिज्ञषतो योऽयं निन्दात्मकः क्रोधः स द्वेषलक्षणः क्लेशः ॥८॥ अभिनिवेशस्य लक्षणमाह—

भो० वृत्ति का भा०—दुःख का लक्षण पहिले कह चुके हैं उस दुःख का जिस को ज्ञान है उसको दुःख का स्मरण होता है फिर वह दुःख के साधनों को इकट्ठा करने की इच्छा नहीं करता वरन उसकी निन्दा करता है निन्दारूप जो क्रोध होता है उसही को द्वेष कहते हैं ॥८॥

अगले सूत्र में अभिनिवेश का लक्षण कहा जायगा--

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

सूत्र का पदार्थ—(विदुषोऽपि) पण्डितों को भी (स्वरसवाही) अपने स्वभाव को प्राप्त कराने वाला (तथा) तैसे (अरूढः) प्राप्त (अभिनिवेशः) अभिनिवेश क्लेश है ॥ ९ ॥

सूत्र का भा०—जो मूर्ख तथा पण्डितों को एक समान प्राप्त हो उसे अभिनिवेश कहते हैं ॥ ९ ॥

व्यास भाष्य—सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति मा न भूवं भूयासमिति । नचाननुभूतमरणधर्म्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः । एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते स चायमभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसम्भावितो मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति । यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः । कस्मात् । समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासनेति ॥ ९ ॥

भा० का पदार्थ—सब प्राणियों को यह आत्मा अर्थात् अपने जीव को आशीर्वाद अर्थात् हितचिन्तन सदैव होता है । मैं न हूं, यह नहीं किन्तु मैं हूं नहीं । जिसने मरने के दुःख का अनुभव नहीं किया उसको यह हितचिन्ता नहीं हो सकती और इस आशीर्वाद से पूर्वजन्म का अनुभव प्रतीत होता है यह अभिनिवेश क्लेश कहाता है । तत्क्षण उत्पन्न हुए अपने रस में मग्न कीड़े को भी यह हितचिन्ता होती है । प्रत्यक्ष अनुमान

और शब्द प्रमाण से कीड़े ने मरने के दुःखको नहीं समझा मरने से शरीरसत्ता भङ्ग हो जाती है यह पूर्वजन्म में भोगे हुए मरने के दुःख को अनुमान कराता है यह भय जैसा अत्यन्त मूर्खों में दीखता है वैसाही पूर्वापर को जानने वाले विद्वानों में भी देखा जाता है। क्योंकि मूर्ख और विद्वान् को मरण दुःख के अनुभव से यह संस्कार तुल्य ही होता है ॥ ६ ॥

भा० का भावार्थ—प्राणिमात्र को आत्महित चिन्तन ज़रूर रहता है अर्थात् सब को यही रुचि रहती है, कि मैं कभी न मरूं, परन्तु विना मृत्यु का दुःख भोगे यह अपना हित चिन्तन होना ही असम्भव है, इस से पुनर्जन्म सिद्ध होता है। मृत्यु का भय प्राणिमात्र में देखते हैं जो भय प्राणियों में समान पाया जाता हो उसे अभिनिवेश कहते हैं। यदि कोई कहे कि मरण समय में दूसरे का दुःख देखकर प्राणियों का भयभीत होना कहा जाय तो अभी उत्पन्न हुआ कीड़ा मृत्यु से क्यों डरता है ? उस कीड़े को प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द प्रमाण से मृत्यु के दुःख की सिद्धि नहीं हुई परन्तु उसको भय होता है इस से सिद्ध हुआ कि पुनर्जन्म अवश्य है, इत्यादि सर्वसमानव्यापी दुःख को अभिनिवेश कहते हैं ॥ ६ ॥

भोज वृ०—पूर्वजन्मानुभूतमरणदुःखानुभववासनाबलाद्भयरूपः समुपजायमानः शरीरविषयादेर्मम वियोगो माभूदिति अन्वहमनुबन्धरूपः सर्वस्यैवाऽऽकृमेर्ब्रह्मपर्यन्तं निमित्तमन्तरेण प्रवर्त्तमानोऽभिनिवेशाख्यः क्लेशः ॥ ६ ॥

तदेवं व्युत्थानस्य क्लेशात्मकत्वादेकाग्रताभ्यासकामेन प्रथमं क्लेशाः परिहर्त्तव्याः। न चाज्ञातानां तेषां परिहारः कर्तुं शक्य इति तज्ज्ञानाय तेषामुद्देशं क्षेत्रं विभागम् लक्षणम् चाभिधाय स्थूलसूक्ष्म भेद भिन्नानां तेषां प्रहाणोपायविभागमाह ।

भोज वृ० का भा०—पूर्वजन्म में जो मरने का दुःख भोगा उसके अनुभव और वासना के बल से जो भय होता है अर्थात् प्रत्येक प्राणी जो यह चाहता है कि शरीर से और विषयों से मेरा वियोग न हो यह कीड़े से ब्रह्मा पर्य्यन्त को जो भय होता है उस ही को अभिनिवेश क्लेश कहते हैं ॥ ६ ॥

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

सूत्र का पदार्थ—(ते) वे दुःख (प्रतिप्रसवहेयाः) उत्पन्न होते ही त्याज्य और (सूक्ष्माः) सूक्ष्म हैं ॥ १० ॥

सूत्र का भावार्थ—पूर्वोक्त पञ्च क्लेश प्रतिप्रसवहेय अर्थात् उत्पत्ति के साथ ही त्याज्य और सूक्ष्म हैं ॥ १० ॥

व्यास भाष्य—ते पञ्च क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति ॥१०॥ स्थितानां तु बीजभावोपगतानाम्—

भा० का प०—वे पांचों क्लेश दग्ध बीज के समान योगी के चरित्राधिकार योग में चित्त लीन होने पर उसके ही सङ्ग अस्त हो जाते हैं। बीज भाव से स्थित होने पर उनके नाश का उपाय कहते हैं ॥ १० ॥

भाष्य का भा०—पूर्वोक्त पञ्च क्लेश दग्ध बीज के समान योग में चित्त लीन होने से उस ही के सङ्ग अस्त हो जाते हैं। बीज भाव से स्थिर रहने पर उनके नाश का उपाय अगले सूत्र में कहा है ॥ १० ॥

सूत्र—समाधि पाद में जो व्याधि आदिक चित्त के विक्षेप और योग के विघ्न वर्णन किये थे उन सब के मूल यही ५ क्लेश हैं। अतएव योगाभिलाषी को प्रथम क्लेशों को त्यागना चाहिये परन्तु बिना यथार्थ रूप से जाने किसी वस्तु का त्याग वा संग्रह नहीं होता, इस लिये उनके लक्षण, उद्देश और उत्पत्ति स्थान को वर्णन करके अब उनके त्याग का उपाय कहते हैं ॥ १० ॥

क्रिया योग से उक्त क्लेश जब सूक्ष्म अर्थात् निर्बल हो जांय तब उन्हें प्रतिलोम परिणाम के द्वारा दूर करदे। सारार्थ यह है कि योगी के क्लेश निर्बीज वा दग्ध बीज के समान हो जाते हैं फिर उनका प्रतिप्रसव अर्थात् जन्म नहीं होता है॥ १०॥

भो० वृ०—ते सूक्ष्माः क्लेशा ये वासनारूपेणैव स्थिता वृत्तिरूपं परिणाममारभन्ते, ते प्रतिप्रसवेन प्रतिलोमपरिणामेन हेयास्त्यक्तव्याः। स्वकारणास्मितायां कृतार्थं सवासनं चित्तं यदा प्रविष्टं भवति तदा कुतस्तेषां निर्मूलानां सम्भवः ॥१०॥ स्थूलानां हानोपायमाह—

भो० वृ० का भा०—इस रीति से चित्त की चञ्चलता ही क्लेश रूप है अर्थात् क्लेशों के बिना चित्त में चञ्चलता नहीं होती है। इस कारण जिसे चित्त एकाग्र करना हो उसको चाहिये कि पहले क्लेशों को दूर करे परन्तु बिना क्लेशों के जाने उनका छोड़ना असम्भव है इस कारण क्लेशों के लक्षण उत्पत्तिस्थान और भेदों को वर्णन करके अब उनके प्रत्येक स्थूल भेद के नाश का उपाय कहते हैं।

वह सूक्ष्म रूप के क्लेश जो वासनारूप से चित्त में रहते हैं अपनी वृत्ति के अनुसार ही चित्त को बदल देते हैं इस कारण उन क्लेशों को त्यागना चाहिये, जब वह अस्मिता आदि क्लेश अपने कारणरूप चित्त में लय होजाते हैं तब फिर उनका प्रादुर्भाव नहीं होता है॥ १०॥ अब स्थूल क्लेशों के नाश का उपाय कहते हैं।

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः॥ ११॥

सू० का पदार्थ—(ध्यानहेयाः) क्रियायोग से त्याज्य है (तद्वृत्तयः) क्लेश की वृत्तियां॥ ११॥

सूत्र का भा०—पञ्च क्लेश की जो वृत्तियां हैं वे पूर्व ही क्रिया योग से हेय अर्थात् त्यागने योग्य हैं॥ ११॥

व्यास भाष्य—क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगे-तनूकृताः सत्यः प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्या यावत्सूक्ष्मीकृता यावद्दग्धबीजकल्पा इति । यथा वस्त्राणां स्थूलो मलः पूर्वनिर्धूतः पश्चात् सूक्ष्मो यत्नेनोपायेन चापनीयते तथा स्वल्पप्रतिपक्षाः स्थूला वृत्तयःक्लेशानाम् सूक्ष्मास्तु महाप्रतिपक्षा इति ॥ ११ ॥

भा० का प०—क्लेशों की जो वृत्तियां स्थूल हैं वे क्रियायोग से सूक्ष्म की हुई, विचार से ध्यान से त्यागने योग्य हैं, जब तक सूक्ष्म हों तबतक दग्धबीज के समान हों। जैसे वस्त्रों का ऊपर का मैल प्रथम धोया जाता है तिस के पीछे सूक्ष्म मल यत्न और उपाय से दूर करते हैं तैसे ही क्लेशों की अल्प विघ्न करने वाली स्थूलवृत्ति हैं सूक्ष्म वृत्ति वे हैं जो महा विघ्न करने वाली हैं ॥ ११ ॥

भा० का भा०—क्लेशों की वृत्तियां स्थूल हैं और क्रियायोग से सूक्ष्म हो रही हैं। वे विचार तथा ध्यान से त्याग करने योग्य हैं। जबतक सूक्ष्म वा दग्ध बीज के समान हों जैसे वस्त्रों का स्थूल मल प्रथम धोया जाता है, पश्चात् सूक्ष्म मल यत्न और उपाय से दूर किया जाता है, वैसे ही जिनका अल्प प्रभाव है वे स्थूलवृत्ति और जिनका वृहत् प्रभाव है वे सूक्ष्म वृत्ति हैं। इन दोनों का क्रम से विचार और ध्यान के द्वारा त्याग करे ॥ ११ ॥

सूत्र—तात्पर्य्य यह है कि प्रतिदिन ध्यान का अभ्यास करने से क्लेशों की स्थूलवृत्ति अर्थात् शोक, मोहादि दग्धबीज के समान हो जाती हैं।

भो० वृ०—तेषां क्लेशानामारब्धकार्य्याणां याः सुखदुःखमोहात्मिका वृत्तयस्ता ध्यानेनैव चित्तैकाग्रतालक्षणेन हेया हातव्या इत्यर्थः। चित्तपरिकर्माभ्यासमात्रेणैव स्थूलत्वात्तासां निवृत्तिर्भवति। यथा वस्त्रादौ स्थूलो मलः प्रक्षालनमात्रेणैव निवर्तते, यस्तु तत्र सूक्ष्मः स तैस्तैरुपायैरुत्तापनप्रभृतिभिरेव निवर्तयितुं शक्यते ॥ ११ ॥

एवं क्लेशानां तत्त्वमभिधाय कर्माशयस्याभिधातुमाह ।

भो० वृ० का भा०—जिन क्लेशों का कार्य्य आरम्भ हो गया है, उनकी जो सुख, दुःख और मोहरूपी वृत्ति हैं उनको ध्यान से नष्ट करना चाहिये, अर्थात् चित्त की एकाग्रता रूप जो ध्यान है उससे उन वृत्तियों को रोकना उचित है। चित्त को योगाभ्यास में लगाने मात्र से ही क्लेशों की स्थूलवृत्तियां निवृत्त हो जाती हैं। जैसे वस्त्र का स्थूल मैल धोने मात्र से ही छूट जाता है और मैल का सूक्ष्म भाग आँच पर चढ़ाने वा अन्य उपायों से छूट सकता है ॥ ११ ॥ उक्त रीति से क्लेशों के तत्त्वको वर्णन करके कर्माशय का वर्णन करते हैं—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्म-वेदनीयः ॥ १२ ॥

सूत्र का पदार्थ—(क्लेशमूलः) उक्त पाँचों क्लेशों का मूल (कर्माशयः) कर्मों का समूह (दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जन्म में जानने योग्य अर्थात् भोगने योग्य है ॥ १२ ॥

सूत्र का भावार्थ—पञ्च क्लेश का मूल कर्म्म-समूह ही है और दृष्ट तथा अदृष्ट जन्मों में भोगा जाता है ॥ १२ ॥

व्यास भाष्य—तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः कामलोभमोहक्रोधभवः। स दृष्टजन्मवेदनीयश्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च। तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिर्निर्वर्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति। तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनः पुनरपकारः

स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते। यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः। तथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्यक्त्वेन परिणत इति। तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः। क्षीणक्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति॥ १२॥

भाष्य का प०—धर्म्म और अधर्म्म सम्बन्धी कर्माशय है। काम, लोभ, मोह, क्रोध का उत्पत्ति स्थान और यह वर्त्तमान जन्म मे भोगने योग्य है। तीव्र वेग योग से मन्त्र, तप, और समाधियों से आचरित ईश्वर देवता और महर्षियों की आराधना से जो पूर्ण हो वह शीघ्र ही परिपाक को प्राप्त होता है, फल देता है वह पुण्य कर्माशय है। तैसे तीव्र क्लेश से भयप्राप्त रोगी और कृपणों में वा विश्वास को प्राप्त हुवे उत्तम पुरुषों में अथवा तपस्वियों में बार बार किया हुआ अपकार पाप कर्माशय है वह भी शीघ्र परिपाक होता है, फल देता है जैसे नन्दीश्वरकुमार मनुष्य भाव को त्याग कर देवभाव को प्राप्त हुआ तैसे ही नहुष भी देवराज होकर निज भावको त्यागकर तिर्यक् भाव में प्राप्त भया। इन में नारकीय जीवों का दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं है। तथा जिन के क्लेश क्षीण होगये हों उनका अदृष्टजन्मवेदनीय परजन्म में भोगने योग्य कर्म नहीं है॥ १२॥

भा० का भा०—पुण्य और पापरूप कर्म्मसमूह काम, क्रोध, लोभ और मोह से उत्पन्न होता है। वह दो प्रकार का है—एक दृष्टजन्मवेदनीय और दूसरा अदृष्टजन्मवेदनीय, इन में से जो कर्म्म तीव्र संवेग नामक योग से वा वेद से अथवा धर्म्मानुष्ठान से किंवा परमेश्वर वा महर्षि आदि की सेवा से जो कर्म्म सिद्ध होते हैं, वह शीघ्र ही फल देते हैं और जो कर्म्म तीव्र क्लेश से किसी दीन को सताना आदि अथवा किसी महज्जन महात्मा का बारम्बार अपकार किया जाता है, वह भी शीघ्र ही फल देता है। जैसे नन्दीश्वर कुमार मनुष्यता को त्याग कर

देवता हुए। ऐसे ही मनुष्य भी देवयोनि से तिर्य्यङ् योनिमें प्राप्त हुए जिन कर्म्मों से नरक को प्राप्त होता है उनका फल इस जन्म में नहीं मिलता और जिन योगियों के क्लेश नष्ट होगये हैं उनके कर्म्मोंका फल जन्मान्तर में नहीं मिलता है ॥ १२ ॥

बारहवाँ सूत्र—क्लेशों का मूल कर्म्मफल है, जो इस जन्म तथा पर जन्म में भोगा जाता है। इस के उदाहरण भाष्यकार ने नन्दीश्वर तथा नहुष को लिख दिया है परन्तु महाराज भोज ने केवल जाति के परिणाम का उदाहरण विश्वामित्र को भी लिखा है इस से जान पड़ता है, कि अत्युत्कट शुभाशुभ कर्म्मों का फल इस जन्म में मिलता है।

भो० वृ०—कर्म्माशय इत्यनेन तस्य स्वरूपमभिहितम्। यतो वासनारूपाण्येव कर्म्माणि। क्लेशमूल इत्यनेन कारणमभिहितम्। यतः कर्म्मणां शुभाशुभानां क्लेशा एव निमित्तम्। दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय इत्यनेन फलमुक्तम्। अस्मिन्नेव जन्मनि अनुभवनीयो दृष्टजन्मवेदनीयः। जन्मान्तरानुभवनीयोऽदृष्टजन्मवेदनीयः। तथाहि—कानिचित् पुण्यानि कर्म्माणि देवताराधनादीनि तीव्रसंवेगेन कृतानीहैव जन्मनि जात्यायुर्भोगलक्षणं फलं प्रयच्छन्ति। यथा नन्दीश्वरस्य भगवन्महेश्वराराधनबलादिहैव, जन्मनि जात्यादयो विशिष्टाः प्रादुर्भूताः। एवमन्येषां विश्वामित्रादीनां तपःप्रभावात् जात्यायुषी। केषाञ्चिज्जातिरेव। यथा तीव्रसंवेगेन दुष्टकर्म्मकृतां नहुषादीनां जात्यन्तरादिपरिणामः। उर्वश्याश्च कार्त्तिकेयवने लतारूपतया। एवं व्यस्तसमस्तरूपत्वेन यथायोगं योज्यमिति ॥ १२ ॥

इदानीं कर्म्माशयस्य स्वभेदभिन्नं फलमाह।

भो० वृ० का भा०—कर्म्माशय शब्द से कर्म्म समुदाय का स्वरूप कहा, इस से सिद्ध हुआ कि कर्म्म की वासना रूप ही है, क्लेश मूल इस शब्द से कर्माशय का कारण कहा क्योंकि शुभ और अशुभ कर्म्मों के कारण क्लेश ही हैं। दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय का अभिप्राय यह है

कि इस जन्म तथा परजन्म में उनका फल भोगना होता है। इस जन्म में जो कर्मफल भोगा जाता है, उसे दृष्टजन्मवेदनीय और जो परजन्म में भोगा जायगा उसे अदृष्टजन्मवेदनीय कहते हैं। कोई कोई पुण्य देवता का आराधन आदि जो तीव्रसंवेग से किये जाते हैं इस ही जन्म में जाति आयु और भोग रूप फल को देते हैं जैसे नन्दीश्वर को महादेव अर्थात् ईश्वर के आराधन से उत्तम जाति और आयु और भोग प्राप्त हुए थे, ऐसे ही विश्वामित्र ने तप के प्रभाव से उत्तम जाति और आयु को पाया था, किसी किसी को उत्तम कर्म से इसी जन्म में उत्तम जाति की प्राप्ति हुई और हो जाती है ऐसे ही तीव्रसंवेग से पाप कर्म्म करने वालों को इस ही जन्म में फल मिलते हैं जैसे नहुष को इस ही जन्म में इन्द्रासन से पतित होना पड़ा था, उर्वशीका कार्त्तिकेय वन में लतारूप में परिणत होना इत्यादि ॥ १२ ॥

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥१३॥

सूत्र का पदार्थ—(सति मूले) क्लेश मूल रहने से (तद्विपाकः) उन का फल (जात्यायुर्भोगाः) वर्ण अवस्था भोग हैं ॥ १३ ॥

सूत्र का भा०—यदि क्लेशमूल अर्थात् कर्म शेष रहेगा तो उसका फल जाति, आयु और भोग अर्थात् शुभाशुभ होते हैं ॥ १३ ॥

व्यास भाष्य - सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्न क्लेशमूलः। यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति नापनीततुषा दग्धबीजभावा वा, तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वेति। स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोग इति। तत्रेदं विचार्य्यते — किमेकं कर्मैकस्य जन्मनः

कारणमथैकं कर्मानेकं जन्माऽऽक्षिपतीति। द्वितीया विचारणा—किमनेकं कर्मानेकं जन्म निर्वर्तयति अथानेकं कर्मैकं जन्म निर्वर्तयतीति। न तावदेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणं। कस्मात् अनादिकालप्रचितस्यासंख्येयस्यावशिष्टस्य कर्मणः सांप्रतिकस्य च फलक्रमानियमादनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः स चानिष्ट इति। न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम्। कस्मादनेकेषु कर्मसु एकैकमेव कर्मानेकस्य जन्मनः कारणमित्यवशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः, स चाप्यनिष्ट इति। न चानेकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम्। कस्मात्तदनेकं जन्म युगपन्न संभवतीति क्रमेणैव वाच्यम्। तथा च पूर्वदोषानुषङ्गः। तस्माज्जन्मप्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मरणं प्रसाध्य संमूर्छित एकमेव जन्म करोति। तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति। तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः संपद्यत इति। असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयते इति। अतः एकभविकः कर्माशय उक्त इति।

दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वाद् द्विविपाकारम्भी वाऽऽयुर्भोगहेतुत्वान् नन्दीश्वरवन्नहुषवद्वेति। क्लेशकर्मविपाकानुभवनिर्वर्तिताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसंमूर्छितमिदं चित्तं विचित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाऽऽततमित्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः। यस्त्वयं कर्माशय एष एवैकभविक उक्त इति। ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनास्ताश्चानादिकालीना इति।

यस्त्वसावेकभविकः कर्माशयः स नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च। तत्र दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमो न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य। कस्मात्। यो ह्यदृष्ट-

जन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः--कृतस्याविपक्वस्य नाशः, प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति। तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशो यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशःकृष्णस्य। यत्रेदमुक्तम् 'द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकृतस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ते'। प्रधानकर्मण्यावापगमनम्। यत्रेदमुक्तम्—"स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात् कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यतीति"। नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानम्। कथमिति अदृष्टजन्मवेदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मणः समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तम्, न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य, यत्त्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येदावापं वा गच्छेदभिभूतं वा चिरमप्युपासीत यावत्समानं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य न विपाकाभिमुखं करोतीति। तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्तानवधारणादियं कर्मगतिश्चित्रा दुर्विज्ञाना चेति। न चोत्सर्गस्यापवादान्निवृत्तिरित्येकभविकः कर्माशयोऽनुज्ञायत इति ॥ १३ ॥

भा० का पदार्थ—क्लेश रहने से कर्म्म समूह फल देने के योग्य होता है उच्छिन्न क्लेशमूल नहीं। जैसे तुष से वेष्टित चावल जिनकी बीजोत्पत्ति नष्ट नहीं हुई पुनः उत्पन्न होने में समर्थ होते हैं तुषवर्जित या दग्धबीजभाव नहीं तैसे ही क्लेशयुक्त कर्म्म समूह भी फल देने में समर्थ होता है न कि गतक्लेश अथवा क्रियायोग से जिसका बीज भाव नष्ट होगया है। वह फल तीन प्रकार का है जाति, आयु और भोग।

अब यह विचारणीय है कि क्या एक कर्म्म एक ही जन्म का कारण है अथवा एक कर्म से बहुत जन्म होते हैं! दूसरे बात विचारने योग्य यह है कि क्या अनेक कर्म अनेक जन्म के कारण होते हैं अथवा अनेक

कर्म एक जन्म के कारण होते हैं । इसका उत्तर यह है कि न तो एक कर्म एक जन्म का कारण है, क्योंकि अनादि काल से सञ्चित हुए असंख्य अवशिष्ट कर्मको और वर्तमान कर्म के फलक्रम का नियम न होने से लोगों को यह विश्वास नहीं होता कि यह सञ्चित अवशिष्ट कर्म का फल है अथवा वर्तमान कर्म का यह अनिष्ट है । इसी प्रकार एक कर्म अनेक जन्म का भी कारण नहीं होसकता । क्योंकि अनेक कर्मों में जब एक एक ही कर्म अनेक जन्म का कारण है तो जो कर्म अवशिष्ट रहे, उनके विपाक काल का अभाव प्रसक्त होता है और यह भी इष्ट नहीं ।

अब रहा दूसरा विचार—क्या अनेक कर्म अनेक जन्म का कारण हैं अथवा अनेक कर्म एक ही जन्म का कारण हैं ? इसका उत्तर देते हैं—अनेक कर्म भी अनेक जन्म के कारण नहीं हो सकते क्योंकि वे अनेक जन्म एक साथ नहीं हो सकते । इस लिए पूर्व दोष का यहां भी अनुषङ्ग है । इसलिए जन्म और मरण के बीच में किये हुए शुभाशुभ कर्मों का संचय बड़ा ही विचित्र है, कोई उनमें प्रधान कर्म हैं, जो सद्यः फल देते हैं, कोई उपसर्जन भाव से अवस्थित होते हैं, जो विलम्ब से फल देने वाले होते हैं । अतएव चौथा पक्ष ही ठीक है कि अनेक कर्म एक जन्म के कारण होते हैं । वे प्राणी के मरण समय कर्माशय में संचित होकर जन्म का कारण होते हैं उन्हीं के अनुसार आयु भोग की व्यवस्था होती है । निदान यह कर्माशय जन्म, आयु और भोग का हेतु होने से त्रिविपाक कहलाता है अतएव कर्माशय एक ही जन्म का कारण है ।

अदृष्ट जन्मवेदनीय कर्माशय ही उक्त तीन प्रकार का है, दृष्ट जन्म वेदनीय कहीं केवल भोग हेतु होने से एक विपाक, जैसा कि नहुष का, कहीं आयु और भोग का हेतु होने से द्विविपाक, जैसा कि नन्दीश्वर का, होता है ।

क्लेश और कर्म फल के अनुभव से निर्मित वासनाओं से अनादि समय से मूर्च्छित हुआ चित्त विचित्र हुआ चारों ओर से मछली के जाल के समान ग्रन्थियों में फँसा हुआ है ये अनेक जन्म की वासनायें हैं। और जो यह कर्म समूह है यह एक ही जन्म का कहा है जो संस्कार स्मृति के हेतु हैं वे वासना अनादि काल की हैं।

यह एक जन्म का कर्माशय, दो प्रकार का है—एक नियत विपाक, दूसरा अनियतविपाक। उन दोनों में इस ही जन्म में भोगने योग्य नियत फल वाले कर्मों का ही यह नियम है; अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक का नहीं, क्योंकि जो अदृश्य जन्म द्वारा जानने योग्य अनियत फलवाला है उसकी तीन प्रकार की गति है एक तो किये हुए कच्चे कर्मफल का नाश, दूसरा प्रधान कर्म में मिल जाना अथवा नियत विपाक प्रधानकर्म द्वारा अभिभूत होकर चिरकाल तक स्थिर रहना। इन तीन प्रकार की गतियों में किये हुए कर्म के कच्चे फल का नाश जैसे पवित्र कर्मों के उदय होने से इसही जगत में अपवित्र कर्मों का नाश हो जाता है। जिसके प्रमाण में यह कहा जाता है—" कर्मों की दो दो गति अथवा राशि समझनी चाहिये। " एक पाप-कर्मों की राशि है जो कि पुण्यकृत कर्मों का नाश करती है। दूसरी पुण्यकृत कर्मों की राशि है जो पापकृत कर्मों का नाश करती है। इसलिए सुकर्म करने की इच्छा करे। अब रही अदृष्ट जन्मवेदनीय की दूसरी गति अर्थात् प्रधान कर्म में अप्रधान का समावेश, जिसके विषय में कहा गया है—" प्रधान कर्म में यदि थोड़ा सा संकट भी होजाय तो उसका परिहार या प्रतिकार हो सकता है और वह उस के फल में बाधा नहीं डाल सकता। जब प्रधान कर्म उत्कर्ष के लिए है तब उसमें अप्रधान का कुछ अंश अपकर्ष के लिये नहीं हो सकता।

अब रही तीसरी गति अर्थात् नियत विपाक प्रधान कर्म द्वारा अभिभूत की चिरकाल तक अवस्थिति, यह क्योंकर होती है अदृष्ट जन्म-

वेदनीय नियतविपाक कर्म का ही मरण अभिव्यक्ति का कारण कहा है न कि अनियत विपाक का । जिसका कोई फल नियत नहीं ऐसा अदृष्ट जन्मवेदनीय कर्म नष्ट हो या संकीर्ण हो या किसी से अभिभूत हो, चिरकाल तक रहता है । जब तक इसका कोई अभिव्यञ्जक कर्म निमित्त होकर इसे फलोन्मुख नहीं करता । फल के ही समान देश, काल और निमित्त के अनवधारण से यह कर्मगति बड़ी ही विचित्र और दुर्ज्ञेय है । उत्सर्ग की अपवाद से निवृत्ति नहीं होती इस लिए एक जन्म का कर्माशय ही इसका कारण है ॥ १३ ॥

भा० का भा०—क्लेशों की विद्यमानता में कर्मों के फल उनके आरम्भ करने वाले होते हैं, जैसे चावलों पर जब तक तुष (छिलका) रहता है तब तक उनमें उत्पन्न होने की शक्ति रहती है, परन्तु जब उनका छिलका उतार दिया जाता है तब उनमें उत्पन्न होने की शक्ति नहीं रहती । ऐसे ही जब तक कर्मफल में क्लेश रहते हैं, तब तक फल क्लेशों को उत्पन्न करते हैं, परन्तु जिस कर्माशय में क्लेशों का अभाव हो गया है, उसमें पुनः क्लेशों का उत्पन्न होना सर्वथा असम्भव है । कर्म विपाक तीन प्रकार का है, एक जाति दूसरा आयु तीसरा भोग । अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि एक कर्म्म से एक जन्म होता है या एक कर्म्म से अनेक जन्म होते हैं ? दूसरा प्रश्न यह है कि अनेक कर्म्म अनेक जन्म को देते हैं अथवा अनेक कर्म्म एक जन्म को देते हैं । इसका उत्तर यह है, कि एक कर्म्म एक जन्म का दाता नहीं है क्योंकि अनादि काल के इकट्ठे हुए असंख्य कर्मों का फल मिलने में अनियम होगा अर्थात् यदि कहा जाय कि परमेश्वर केवल एक ही जन्म में एक कर्म्म का फल देता है तो अनादि काल से जो कर्म्म इकट्ठे हैं उनके फल देने में अनियम होगा और मनुष्यों को घबराहट भी होगी और वह अनाश्वास अनिष्ट है । इसी कारण एक कर्म्म से अनेक जन्म भी नहीं हो सकते हैं क्योंकि जब एक ही कर्म्म से अनेक जन्म हो जायेंगे तो

अनेक कर्म्म निष्फल होंगे, क्योंकि एक जन्म में असंख्य कर्म्म मनुष्य करता है तो सब के फलों का भोगना असम्भव होगा। ऐसे ही अनेक कर्म अनेक जन्मों के दाता भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि अनेक जन्मों का एक समय में होना ही असम्भव है। तब कहियेगा कि क्रमशः हो, तब वही पूर्वोक्त दोष आवेगा, इस लिए जन्म प्राप्ति के अनन्तर जो शुभाशुभ कर्म्म किये जाते हैं वे सब एक समूह में मिलकर प्रधान और अप्रधानरूप में जन्म से मरण पर्य्यन्त एक ही जन्म देते हैं वह उसही कर्म्म समुदाय से अल्पायु वा दीर्घायु होता है और उस अवस्था में उस ही कर्म समुदाय से जीव भोग करता है इस वास्ते यह कर्म समुदाय जन्म, आयु और भोग का हेतु होने से त्रिविपाक कहलाता है। एक जन्म का आरम्भ करने वाला तथा समाप्त करने वाला कर्म समूह कहा। इसका दृष्टान्त नन्दीश्वर और नहुष हैं। क्लेश और कर्म विपाक के अनुभव से बनी हुई वासना से मूर्छित हुआ चित्त चित्रलिखित के समान रहता है, जो स्मरण कराने वाले संस्कार हैं उन्हें वासना कहते हैं। वह वासना अनादि है, क्योंकि कर्म और संस्कार अनादि हैं। पूर्व जो एकभविक (एक जन्म का देने वाला) कर्म्मसमूह कहा था वह दो प्रकार का है। एक नियतविपाक और दूसरा अनियतविपाक। उक्त नियम नियतविपाक कर्मसमूह का है क्योंकि जो अदृष्टजन्मवेदनीय अर्थात् अनियत विपाक कर्मसमूह है उसकी गति तीन प्रकार की है। एक अपक्व फल का नाश, दूसरी प्रधान कर्म में संयोग, तीसरी प्रधान कर्मफल से अवरोध होकर चिरकाल तक निष्फल रहना। जैसे शुद्ध कर्म के उदय होने से दुष्कर्म यहीं नाश हो जाता है—लिखा भी है कि कर्म की दो राशि समझनी चाहिये एक पुण्यकृत और दूसरी पापकृत ॥१३॥

भोज वृ०—मूलमुक्तलक्षणाः क्लेशाः। तेष्वनभिभूतेषु सत्सु कर्म्मणां कुशलाकुशलरूपाणां विपाकः फलं जात्यायुर्भोगा भवन्ति

जातिर्मनुष्यत्वादिः । आयुश्चिरकालमेकशरीरसम्बन्धः । भोगा विषया इन्द्रियाणि सुखसंवित् दुःखसंविच्च कर्म्मकरणभावसाधनव्युत्पत्त्या भोगशब्दस्य । इदमत्र तात्पर्य्यम्—चित्तभूमावनादिकालसञ्चिताः कर्म्मवासना यथा यथा पाकमुपयान्ति तथा तथा गुणप्रधानभावेन स्थिता जात्यायुर्भोगलक्षणं स्वकार्य्यमारभन्ते ॥ १३ ॥ उक्तानां कर्म्मफलत्वेन जात्यादीनां स्वकारणकर्मानुसारिणां कार्य्यकर्तृत्वमाह ।

भो० वृ० का भा०—जिन क्लेशों के लक्षण पूर्व कह चुके हैं, जब तक वह वर्त्तमान रहते हैं, तब तक अच्छे और बुरे कर्म्मों के फल, जाति, आयु और भोग होते हैं। जाति अर्थात् मनुष्यत्व और पशुत्व आदि (साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः) जिस समुदाय की व्यक्तियों के अनेक गुण परस्पर मिलते हों उस समुदाय का नाम जाति है। आयु का अर्थ यह है कि चिरकाल तक जीव का शरीर के साथ सम्बन्ध रहना। भोग का अर्थ है विषय, इन्द्रिय, सुखज्ञान और दुःखज्ञान। सुख और दुःखादि विषय कर्म करने के भावों को जाग्रत करते हैं, इस कारण वही भोग शब्द के लक्ष्यार्थ हैं, चित्त में जो अनादिकाल से कर्म्मों की वासना संचित रहती है वह ज्यों-ज्यों परिपक्व होती जाती है तैसे ही तैसे प्रकृति के सत्व रज और तम आदि गुणों की प्रधानता से जाति, आयु और भोग अपने अपने कार्य्य को आरम्भ करते हैं ॥ १३ ॥ उक्त जाति आदि कर्म्मों के फल हैं इस कारण कर्म्मों के अनुसार ही फल भी देते हैं।

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्य-हेतुत्वात् ॥ १४ ॥

सूत्र का पदार्थ—(ते) वे (ह्लादपरितापफलाः)

आनन्द और दुःख फलयुक्त हैं (पुण्यापुण्यहेतुत्वात्) पु
और पाप हेतु होने से ॥ १४ ॥

सूत्र का भा०—वे जाति, आयु और भोग आनन्द और दुः
फल देने वाले हैं, क्योंकि उनका हेतु पुण्य और पाप है ॥ १४ ॥

व्यास भाष्य—ते जन्मायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफ
अपुण्यहेतुका दुःख फला इति। यथा चेदं दुःखं प्रतिकूलात्मकं
विषयसुखकालेऽपि दुःखमस्त्येव प्रतिकूलात्मकं योगिनः ॥ १४
कथं तदुपपाद्यते।

भाष्य का प०—वे जाति, आयु और भोग पुण्यमूल व
सुखफल देनेवाले हैं, पापमूल वाले दुःख फल वाले हैं जैसे ये दुः
अप्रिय हैं ऐसे ही विषयसुख कालमें भी योगी को अप्रिय (दुःख)
है। क्योंकि दुःख है, इसका प्रतिपादन करते हैं—

भा० का भा०—वे जन्म, आयु भोग पुण्यहेतुक सुखफल दे
वाले और पापमूलक दुःख फल वाले हैं जैसे दुःख पापात्मक है ऐसे ही
सुखकाल में भी योगी का पापमूलक होता है, वह कैसे उत्पन्न होते
हैं ॥ १४ ॥

सूत्र—जगत् में कर्म दो ही प्रकार के होते हैं, एक पुण्यरू
अर्थात् शुभ कर्म, दूसरे पापरूप (अशुभ-कर्म) इन्हीं से जन्म, आयु औ
भोग होते हैं। इस कारण से जन्म, आयु और भोग भी सुख और दुः
स्वरूप ही होते हैं। पुण्य कर्म से सुखस्वरूप होते हैं। और पाप से दुः
स्वरूप होते हैं। परन्तु यह भेद सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में होते हैं योगी
को नहीं सो अगले सूत्र में दिखलाते हैं।

भो० वृ०—ह्लादः सुखं, परितापो दुःखं, तौ फलं येषां ते तथोक्ताः।
पुण्यं कुशलं कर्म, तद्विपरीतमपुण्यं, ते पुण्य पुण्ये कारणे येषां ते तेषां

भावस्तस्मात् । एतदुक्तम् भवति—पुण्यकर्मारब्धा जात्यायुर्भोगा ह्लादफला अपुण्यकर्मारब्धास्तु परितापफलाः । एतच्च प्राणिमात्रापेक्षया द्वैविध्यम् ॥ १४ ॥ योगिनस्तु सर्वं दुःखमित्याह ।

भो० वृ० का भा०—ह्लाद सुख को और परिताप दुःख को कहते हैं। अर्थात् जाति, आयु और भोग सुख और दुःख के दायक होते हैं। अच्छे कर्म को पुण्य और बुरे कर्म को अपुण्य वा पाप कहते हैं, इस सूत्र का फलितार्थ यह है, कि पुण्य कर्म से आरम्भ हुए जाति, आयु और भोग सुख के देने वाले और पाप कर्म से आरम्भ हुए जाति, आयु और भोग दुःख के देने वाले होते हैं ॥ १४ ॥ परन्तु योगी सबही को दुःख समझते हैं, यह अगले सूत्र में कहा जायगा—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिवि-रोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥१५॥

सूत्र का पदार्थ—(परिणामतापसंस्कारदुःखैः) परिणाम ताप संस्कार और दुःखों से (गुणवृत्तिविरोधात्) सत्वादि गुणों के जन्म विरोध से (दुःखमेव) दुःख ही है। (विवेकिनः) विवेक युक्त योगी को ॥ १५ ॥

सूत्र का भा०—परिणाम, ताप, संस्कार और दुःखों से तथा गुणों के वृत्तिनिरोध होने से जो होता है उस सब को विवेकशील दुःख ही मानते हैं ॥ १५ ॥

व्यास दे० का भाष्य—सर्वस्यायं रागानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनः सुखानुभव इति तत्रास्ति रागजः कर्माशयः । तथा च द्वेष्टि दुःखसाधनानि मुह्यति चेति द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति कर्माशयः । तथाचोक्तम्—'नानुपहत्य भूतान्युपभोगः सम्भवतीति हिंसाकृतोऽप्यस्ति शारीरः कर्माशयः' इति । विषयसुखं चाविद्येत्युक्तम् ।

या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिः तत्सुखम् । या लौल्यादनु शान्तिस्तद्दुःखम् । न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम् । कस्मात् यतो भोगाभ्यासमनु विवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति । तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति । स खल्वयं वृश्चिक विषभीत इवाऽऽशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी विषयानुवासितो महति दुःखपंके निमग्न इति । एषा परिणाम दुःखता नाम प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनमेव क्लिश्नाति ।

अथ का तापदुःखता, सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनस्तापानुभव इति तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः । सुखसाधनानि च पार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति चेति परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मावुपचिनोति । स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवतीत्येषा ताप दुःखतोच्यते । का पुनः संस्कारदुःखता, सुखानुभवात्सुखसंस्काराशयो दुःखानुभवादपि दुःखसंस्काराशय इति । एवं कर्मभ्यो विपाकेऽनुभूयमाने सुखे दुःखे वा पुनः कर्माशयप्रचय इति ।

एवमिदमनादि दुःखस्रोतो विप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वादुद्वेजयति । कस्मात्, अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानिति । यथोर्णातन्तुरक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति न चान्येषु गात्रावयवेषु, एवमेतानि दुःखानि अक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरम्प्रतिपत्तारम् । इतरं तु स्वकर्म्मोपहृतं दुःखमुपात्तमुपात्तं त्यजन्तं त्यक्तम् त्यक्तमुपाददानमनादिवासनाविचित्रया चित्तवृत्त्या समन्ततोऽनुविद्धमिवाविद्यया हातव्य एवाहङ्कारममकारानुपातिनं जातं जातं बाह्याध्यात्मिकोभयनिमित्तास्त्रिपर्वाणस्तापा अनुप्लवन्ते । तदेवमनादिना दुःखस्रोतसा व्युह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणं सम्यग्दर्शनं शरणं प्रपद्यत इति ।

गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्व्वं विवेकिनः । प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा बुद्धिगुणाः परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा शान्तं घोरं मूढं वा प्रत्ययं त्रिगुणमेवाऽऽरभन्ते । चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम् । रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते । एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्ययाः सर्वे सर्वरूपा भवन्तीति, गुणप्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेष इति । तस्मात् दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति ।

तदस्य महतो दुःखसमुदायस्य प्रभवबीजमविद्या । तस्याश्च सम्यग्दर्शनमभावहेतुः । यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम् रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति । एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव । तद्यथा—संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति । तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः । प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः । संयोगस्याऽऽत्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम् । हानोपायः सम्यग्दर्शनं । तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयं वा हेयं वा न भवितुमर्हतीति हाने तस्योच्छेदवादप्रसंग उपादाने च हेतुवादः । उभयप्रत्याख्याने शाश्वतवाद इत्येतत्सम्यग्दर्शनम् ॥१५॥ तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमित्यभिधीयते—

भा० का पदार्थ—राग में लिपटे हुवे सब पुरुषों को चेतन और अचेतन साधनों के अधीन सुख का अनुभव होता है। इसमें कर्माशय राग से उत्पन्न होता है । तैसे ही दुःख के साधनों से द्वेष करता है और मोहित होता है इस लिए द्वेष मोहकृत भी कर्माशय है । जैसा कि कहा है—प्राणियों को बिना पीड़ा दिये विषयसुख का होना असम्भव है, इसलिए हिंसाकृत भी शारीरिक कर्म समूह है । विषय सुख को अविद्या कहते हैं ।

जो भोगेन्द्रियों की तृप्ति की शान्ति है वह सुख है। जो चञ्चलता से अशान्ति होती है वह दुःख है । (भोगाभ्यासेन) भोग के अभ्यास से इन्द्रियों के विषय में विरक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जहाँ

भोगाभ्यास है, वहाँ राग और इन्द्रियों की चंचलता बढ़ती है इसलिए भोगाभ्यास सुख का साधक नहीं है। बिच्छू के विष से डरा हुआ, साँप से काटा गया जो सुख की इच्छा करने वाला विषयों में लिप्त होता है वह बड़ी कीचड़ में फँस जाता है। यह प्रतिकूल परिणाम दुःखता सुख की अवस्था में भी योगी ही को दुःख देती है। अब प्रश्न यह है कि तापदुःखता किसे कहते हैं? द्वेष से युक्त सब प्राणियों को चेतन और अचेतन साधनों के द्वारा ताप का अनुभव होता है द्वेष से उत्पन्न हुआ (कर्माशय) कर्मसमूह है। सुख के साधनों को चाहने वाला शरीर, वचन और मन से कुछ उद्योग करता है इसके पश्चात् किसी पर अनुग्रह करता है अथवा किसी का उत्पीडन करता है। इस अनुग्रह और उत्पीडन से धर्म और अधर्म का संग्रह करता है। यह कर्माशय लोभ और मोह से होता है। यही तापदुःखता कहाती है। फिर संस्कारदुःखता क्या है? सुख के अनुभव से सुख संस्कारों की प्रबलता, दुःख के अनुभव से दुःखसंस्कारों की अधिकता इस प्रकार से कर्म द्वारा फल का अनुभव करने पर सुख अथवा दुःख में पुनर्वार कर्म और फल का संग्रह हो जाता है।

इस प्रकार से यह विस्तृत अनादि दुःखप्रवाह योगी ही के विरुद्ध होने के कारण दुःख देता है। क्योंकि विद्वान् चश्मे के समान होता है। जैसे मकड़ी का जाला नेत्र के गोलक में लगने से दुःख होता है वैसा शरीर के अन्य भागों में नहीं। इस प्रकार से सब दुःख अक्षिपात्र के समान योगी ही को दुःख देते हैं अन्य निश्चय करने वालों को नहीं। अन्य लोगों को अपने कर्म से संचय किया दुःख बार-बार ग्रहण किये हुवे को त्यागना और बार-बार त्यागे हुवे को पुनः ग्रहण करना रूप अनादि वासना से चित्रित चित्तवृत्ति से चारों ओर से अनुविद्ध, अहंकार और ममता के पीछे दौड़ने वाले लोगों को तीन ताप सदा घेरे रहते हैं

इस प्रकार से अनादि दुःख के प्रवाह से बन्धे हुए आत्मा को तथा पञ्चभूत समुदाय को देखकर योगी सब दुःखों के नाश करने वाले निमित्त सम्यग्दर्शन (यथार्थ ज्ञान) के आश्रय को धारण करते हैं ।

गुण और मनोवृत्तियों के विरोध से विचारशील मनुष्य को सब दुःख ही हैं । बुद्धि के यह तीन गुण हैं--एक प्रख्या अर्थात् विचार, दूसरा प्रवृत्ति अर्थात् तत्परता और तीसरा स्थिति अर्थात् भोग । ये तीनों गुण आपस में एक दूसरे के सहायक होकर शान्त. घार अथवा मूढ़ तीन प्रकार के ज्ञान आरम्भ करते हैं । गुणों का स्वभाव चल है और चित्त क्षिप्र-परिणामी है, रूप और वृत्तियां एक दूसरे से विरुद्ध हैं । सामान्य गुण विशेष गुणों के सङ्ग वर्त्तते हैं इस प्रकार से गुण एक दूसरे के आश्रय से सुख दुःख तथा मोह को उत्पन्न करते हैं सब गुण एक रूप होजाते हैं । गुण की प्रधानता ही इन में विशेष है इसलिये विचारशील को सब दुःख ही जान पड़ते हैं ।

इसलिये इस महा दुःखसमूह का उत्पन्न करने वाला बीज अविद्या है और उस अविद्या का यथार्थ ज्ञान ही नाश का कारण है । जैसे आयुर्वेद चार भाग वाला है---१-रोग, २-रोग का कारण, ३-आरोग्य और ४-भैषज्य अर्थात् रोग निवृत्ति के उपाय । इस ही प्रकार से यह मोक्षशास्त्र भी चार भाग वाला है-जैसे १-संसार, २-संसार हेतु, ३-मोक्ष, ४-मोक्षोपाय । जिसमें दुःख की अधिकता हो वह संसार हेय है ! प्रधान प्रकृति और पुरुष-आत्मा का संयोग मानना संसार का हेतु है । संसार के संयोग की अत्यन्त निवृत्ति होना यथार्थ ज्ञान अथवा सम्यग्-विचार ही हानोपाय है, उसमें हेतु का स्वरूप ग्राह्य या त्याज्य नहीं है वह त्याग में और उसके उच्छेदवाद में और उपादान में हेतुवाद है । दोनों के त्याग में शाश्वत् अर्थात् अनादिवाद कहाता है यही यथार्थ ज्ञान कहलाता है ॥ १५ ॥ यह शास्त्र चार भाग वाला कहलाता है ।

भा० का भा०—सुख दुःख का ज्ञान प्राणिमात्र को राग के द्वारा होता है। कर्मसमूह तीन प्रकार का है। एक रागज, दूसरा द्वेषज तीसरा मोहज ऐसा ही अन्य ऋषियों का भी मत है। अर्थात् बिना हिंसा के भोग होना असम्भव है। शारीरिक हिंसाकृत भी कर्म होते हैं, इसलिये सांसारिक भोग को अविद्या कहते हैं। सुख का लक्षण यह है कि "जो भोग से इन्द्रियों की तृप्ति (शान्ति) है उसे सुख कहते हैं" और दुःख का लक्षण है कि "जो विषय की इच्छा से इन्द्रियों की चञ्चलता है उसे दुःख कहते हैं।" यदि कोई कहे, कि विषय भोग से इन्द्रियां स्वयं थककर शान्त हो जायेंगी। तो इसका उत्तर यह है कि भोग के अभ्यास से इन्द्रियां कभी शान्त नहीं हो सकतीं। क्योंकि अभ्यास से राग की वृद्धि होती है और इन्द्रियां अपने विषयों में चञ्चल होती जाती हैं। इसलिये सुखप्राप्ति का उपाय भोगाभ्यास नहीं है और जो ऐसे उपाय करता है उसका यही हाल होता है, जैसे कोई मनुष्य बिच्छू से डर कर भागा परन्तु उसे सर्प ने काट लिया। ऐसे जो मनुष्य इन्द्रियों की शान्ति के वास्ते विषय भोग करता है उसमें वह और भी फँसकर दुःख का भागी होता जाता है।

यह परिणामदुःखता सुखावस्था में भी योगी को दुःख देती है अब प्रश्न यह है, कि पाप दुःखता किसे कहते हैं? सब लोगों को ताप का जो अनुभव होता है चाहे वह चेतन से हो या जड़ से हो, वह ताप द्वेष से ही होता है। इस से सिद्ध होता है कि बहुत से कर्म द्वेषज हैं। सुखसाधन प्राप्ति की कामना से जो मनुष्य शरीर, मन, और वाक्य से यत्न करता है, उस यत्न में जो उसके सहायक होते हैं, उन पर अनुग्रह करता है और जो विघ्नकारक होते हैं, उनको मारता भी है। तो यह कर्म लोभ और मोह से उत्पन्न होते हैं। इससे मनुष्य धर्म वा अधर्म का संग्रह करता है इसे ही ताप दुःखता कहते हैं। भोग के समय जो सुख के नाश का भय रहता है उसे तापदुःखता कहा जाता है। अब पुनः

प्रश्न है, कि संस्कारदुःखता किसे कहते हैं ? उत्तर—सुख के अनुभव से सुख के संस्कारों की अधिकता होती है और दुःख के अनुभव से दुःख के संस्कारों की और इन संस्कारों से पुनर्वार मनुष्य दुःख सुख का संग्रह करता है। ऐसे यह अनादि दुःखस्रोत बढ़ता है, किन्तु यह स्रोत योगियों को अधिक दुःख देता है जैसे नेत्र में मकड़ी लगने से दुःख होता है। ऐसे ही योगियों को यह संस्कार दुःख देते हैं।

जिस प्रकार से आयुर्वेद चतुर्व्यूह कहलाता है, अर्थात् रोग, रोग-हेतु आरोग्य और चिकित्सा। ऐसे ही यह योगशास्त्र भी चतुर्व्यूह है अर्थात् संसार, संसारहेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय। संसार उसे कहते हैं जिस में दुःख की अधिकता रहती है। योगाभ्यास द्वारा ईश्वर को न विचारना अर्थात् विषयासक्ति संसार का हेतु है—योगाभ्यास से संसार के बन्धन को काटना मोक्ष है और मोक्ष का उपाय यथार्थज्ञान है।

सूत्र—योगी की दृष्टि में सब दुःख ही है क्योंकि सुख का भी अन्त होता है और जिस समय सुख का नाश होता है उस समय अत्यन्त दुःख का बोध होता है। अतएव सुख भी दुःखरूप ही है। दुःखरूपता तीन प्रकार की है एक परिणामदुःखता दूसरी तापदुःखता और तीसरी संस्कार-दुःखता। सुख के अन्त में दुःख अवश्य होता है, इसका नाम परिणाम दुःखता है। सुख के समय में भी अपने समान मनुष्यों से ईर्ष्या, नीचों से घृणा बनी रहती है तथा जो मनुष्य सुखी के सुख भङ्ग का उपाय करे उससे द्वेष होता है। इत्यादि कारणों से सुखी के मन में एक प्रकार का ताप बना रहता है, इसही का नाम तापदुःखता है। मनुष्य जिस सुख वा दुःख का भोग करता है उसके हृदय में संस्कार स्थिर हो जाता है। सुख के नाश हो जाने के पश्चात् वह संस्कार स्मृति द्वारा महादुःखदायी होते हैं इसको संस्कारदुःखता कहते हैं। सांसारिक सुखों में सदा सत्वगुण का ही प्रकाश नहीं रहता है वरन् रजोगुण और तमोगुण की वृत्तियों का भी प्रादुर्भाव होता रहता है। इन गुणों की वृत्तियां परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं,

इस कारण से उनके परिवर्त्तन में महादुःख होता है। इस ही परिणाम को संस्कार कहते हैं।

तात्पर्य्य यह है योगी की दृष्टि में मोक्ष के अतिरिक्त और दुःख ही हैं। पिछले सूत्र में क्लेशों के मूल अविद्या का वर्णन किया और अविद्या सम्यक् ज्ञान की विरोधिनी है अतएव वह अपने साधनों सहित त्यागने के योग्य है--इस ही का अगले सूत्र में वर्णन करेंगे॥

भो० वृ०---विवेकिनः परिज्ञातक्लेशादि विवेकस्य परिदृश्यं सकलमेव भोगसाधनं सविषं स्वाद्वन्नमिव दुःखमेव प्रतिकूलवेदनीयमेवेत्यर्थः। यस्मादत्यन्ताभिजातो योगी दुःखलेशेनाप्युद्विजते। यथाक्षिपात्रमूर्णातन्तुस्पर्शमात्रेणैव महतीं पीडामनुभवति नेतरदङ्गं तथा विवेकी स्वल्पदुःखानुबन्धेनापि उद्विजते। कथमित्याह--परिणामतापसंस्कारदुःखैः विषयाणामुपभुज्यमानानां यथायथं गर्द्धाभिवृद्धेस्तदप्राप्तिकृतस्य दुःखस्य परिहार्य्यतया दुःखान्तरसाधनत्वात् चास्त्येव दुःखरूपतेति परिणामदुःखत्वम्। उपभुज्यमानेषु सुखसाधनेषु तत्प्रतिपन्थिनं प्रति द्वेषस्य सर्वदावस्थितत्वात् सुखानुभवकालेऽपि तापदुःखं दुष्परिहरमिति तापदुःखता। संस्कारदुःखत्वं च स्वाभिमतानभिमतविषयसन्निधाने सुखसंवित् दुःखसंविच्चोपजायमाना तथा विधमेव स्वक्षेत्रे संस्कारमारभते संस्काराच्च पुनस्तथाविधसंविदनुभव इत्यपरिमितसंस्कारोत्पत्तिद्वारेण संसारानुच्छेदात् सर्वस्यैव दुःखत्वम्। गुणवृत्तिविरोधाच्चेति। गुणानां सत्त्वरजस्तमसां वृत्तयः सुखदुःखमोहरूपाः परस्परमभिभाव्याभिभावकत्वेन विरुद्धा जायन्ते तासां सर्वत्रैव दुःखानुवेधाद्दुःखत्वम्। एतदुक्तम् भवति--ऐकान्तिकीमात्यन्तिकीं च दुःखनिवृत्तिमिच्छतो विवेकिन उक्तरूपकारणचतुष्टयात् सर्वे विषया दुःखरूपतया प्रतिभान्ति तस्मात्सर्वं कर्मविपाको दुःखरूप एवेत्युक्तं भवति॥ १५॥ तदेवमुक्तस्य क्लेशकर्म्माशयविपाकराशेरविद्याप्रभवत्वादविद्यायाश्च मिथ्याज्ञानरूपतया सम्यग्ज्ञानोच्छेद्यत्वात् सम्यग्ज्ञानस्य च साधनहेयोपादेयावधारणरूपत्वात् तदभिधानायाऽऽह---

औ० वृ० का भा०—विवेकी अर्थात् जिसको क्लेशों के पूर्ण तत्व का विवेक है उसको सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ और भोग ऐसे दुःखदायक जान पड़ते हैं जैसे विषसे मिला हुआ स्वादिष्ट अन्न भी त्याग करने योग्य होता है। ऐसे ही योगी को संस्कार के सब विषय और भोग दुःख-रूप ही जान पड़ते हैं, जिससे विवेकशील योगी दुःख के अत्यन्त सूक्ष्म अंश से भी घबड़ाता है। जैसे आँखों के पलकों पर मकड़ी के जाले के स्पर्श से अत्यन्त पीड़ा जान पड़ती है वैसे दूसरे अङ्ग में उसका स्पर्श होने से पीड़ा नहीं जान पड़ती है। ऐसे ही अविवेकी मनुष्यों को अधिक दुःख में भी उद्वेग नहीं होता है पर योगी को दुःख के लेश में भी बड़ा उद्वेग होता है। दुःख का उद्वेग क्योंकर होता है? सब सुखों का वा दुःखों का परिणाम अर्थात् परिवर्त्तन होता है। कोई भी सुख सदा स्थिर नहीं रहता और जब सुख विनष्ट होता है तो उसके वियोग में महादुःख जान पड़ता है इस कारण सुख और दुःख दोनों ही पीड़ादायक हैं। ताप, संस्कार और दुःखों के कारण जो विषय भोग किये जाते हैं, उनमें लोभ उत्पन्न होता है, पर जब उन विषयों की प्राप्ति नहीं होती तो उससे सुख वा दुःख अवश्य होता है। वह दुःख फिर दूसरे दुःख को उत्पन्न करता है इससे विषयों में सुखरूपता नहीं है। परिणामदुःखता का अर्थ यह है कि जिन विषयों को सुख का साधन समझ के ग्रहण किया जाता है उनके ही विरोधी सुख को नाश करने वाले दूसरे विषय होते हैं (अथवा सुख का परिणाम अन्त भी हो जाता है) फिर अपने सुख के विरोधियों का जो सुखभोग के समय ध्यान रहता है उसे तापदुःखता कहते हैं। संस्कार-दुःखता का अभिप्राय यह है कि वांछित वा अनिच्छित विषयों की समीपता में सुख और दुःखज्ञान उत्पन्न होता है और वैसे ही उन से संस्कार उत्पन्न होते हैं और संस्कारों से फिर ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार से असंख्य संस्कार जो उत्पन्न होते हैं वह सब दुःखों से पूरित रहते हैं इस कारण सब दुःखस्वरूप ही है। क्लेश, कर्म,

कर्मफल और संस्कार सब ही दुःखमय होते हैं। गुणवृत्ति विरोध अर्थ यह है कि सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की जो सुख, दुःख और मोहरूपी वृत्तियां हैं वह एक दूसरे को जीतने वाली होतीं हैं। अर्थात् जब तमोगुण की मोहरूपी वृत्ति सतोगुण और रजोगुण की वृत्तियों को दबाकर आप प्रकाशित होती है, तब मनुष्य के सुख को नाश करती हैं। ऐसे ही और वृत्तियां की भी दशा है इस कारण वह सब वृत्ति दुःखरूप हैं। तात्पर्य्य यह है कि योगी सब वृत्तियों में परिणाम दुःखता तापदुःखता और संस्कारदुःखता एवम् वृत्तिविरोध को देखकर सब सांसारिक सुखों को भी दुःख ही समझते हैं और आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति की इच्छा से सब को त्यागने का उपाय करते हैं ॥ १५ ॥

इस प्रकार से सिद्ध हुआ कि क्लेश, कर्म्म और कर्म्म-फलों का कारण अविद्या है और मिथ्याज्ञान को अविद्या कहते हैं वह सम्यक्ज्ञान से नष्ट होजाती है, सम्यक् ज्ञान से ग्रहण करने और त्यागने योग्य पदार्थ का ज्ञान होता है वही आगे कहते हैं—

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

सूत्र का पदार्थ—(हेयम्) त्यागने योग्य (दुःखम्) दुःख (अनागतम्) अप्राप्त ॥ १६ ॥

सूत्र का भा०—अप्राप्त दुःख त्यागने योग्य है ॥ १६ ॥

व्यास दे० का भाष्य—दुःखमतीतमुपभोगेनातिवाहितं न हेयपक्षे वर्त्तते। वर्त्तमानञ्च स्वक्षणे भोगारूढमिति न तत्क्षणान्तरे हेयतामापद्यते। तस्माद्यदेवानागतं दुःखं तदेवाक्षिपात्रकल्पं योगिनं क्लिश्नाति नेतरं प्रतिपत्तारम्। तदेव हेयतामापद्यते॥१६॥ तस्माद्यदेव हेयमित्युच्यते तस्यैव कारणं प्रतिनिर्दिश्यते।

भा० का प०—अतीत गुजरा हुआ दुःख भोग से बिताया गया

वह त्याग करने योग्य नहीं है । तथा वर्त्तमान अपने क्षण में भोगारूढ़ है वह अन्य क्षण में त्याग योग्यता को नहीं प्राप्त होता है इस लिए जो अप्राप्त दु:ख है वह ही आँख की अन्धेरी के समान योगी को क्लेशदाता है और प्रवृत्ति वाले को नहीं वह त्याज्यभाव को प्राप्त होता है ॥ १६ ॥ इसलिए वही त्याज्य कहा जाता है उस ही का कारण के प्रति निर्देश किया जाता है ।

भा० का भा०—जो दु:ख व्यतीत हो चुका है अर्थात् पूर्व का है उस का फल भोगा जाचुका है वह त्यागने योग्य नहीं है और जो वर्तमान है सो स्वक्षण अर्थात् इस ही समय भोग में स्थित है वह क्षणान्तर में त्याज्य नहीं होगा । इस लिए जो दुःख अप्राप्त है वह ही अन्धेरी के समान योगी को दु:ख देता है दूसरे पुरुषों को वह त्यागने योग्य है । इस ही से उसे त्याज्य कहते हैं । उस ही का कारण दिखलाया जाता है ॥ १६ ॥

सोलहवाँ सूत्र—बीते हुये दु:ख त्यागने योग्य नहीं है क्योंकि उनका भोग होचुका है और वर्त्तमान दु:ख भी त्यागने योग्य नहीं हैं, क्योंकि उनका प्रताप प्रबल हो रहा है । यद्वा वर्त्तमान का कुछ भाग व्यतीत में और कुछ भाग भविष्यत् में संयुक्त हो जाता है । अतएव वर्त्तमान दु:ख हेय कोटि में नहीं आसकते हैं, किन्तु भविष्यत् दु:ख ही त्यागने योग हैं ॥ १६ ॥

भो० वृ०—भूतस्यातिक्रान्तत्वादनुभूयमानस्य च त्यक्तुमशक्यत्वादनागतमेव संसारदु:खं हातव्यमित्युक्तं भवति ॥ १६ ॥ हेयहेतुमाह ।

भोजवृत्ति का भाष्य—भूत अर्थात् गत समय का दुःख निवृत्त हो गया, जिसको भोग रहे हैं उसका भी त्यागना असम्भव है, इस कारण भविष्य संसारदु:ख ही त्यागने योग्य है ॥ १६ ॥ आगे हेयहेतु का वर्णन करते हैं—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

सूत्र का पदार्थ—(द्रष्टृदृश्ययोः) द्रष्टा–देखने वाला और दृश्य–दर्शनीय पदार्थ का (संयोगो) संयोग (हेयहेतुः) त्यागने योग्य दुःख का मूल है ॥ १७ ॥

सूत्र का भा०—देखने वाला पुरुष और जिस वस्तु को देखे अर्थात् दृश्य संसार इनका जो संयोग है वह त्याज्य का मूल है ॥१७॥

व्यास दे० का भाष्य—द्रष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः। दृश्या बुद्धिसत्त्वोपारूढाः सर्वे धर्माः। तदेतद् दृश्यमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारिदृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य दृशिरूपस्य स्वामिनः अनुभवकर्मविषयतामापन्नं यतः। अन्यस्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकं स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात्परतन्त्रम्।

तयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुर्दुःखस्य कारणमित्यर्थः। तथा चोक्तम्—तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः। कस्मात्, दुःखहेतोः परिहार्यस्य प्रतीकारदर्शनात्। तद्यथा—पादतलस्य भेद्यता कण्टकस्य भेत्तृत्वं, परिहारः कण्टकस्य पादाऽनधिष्ठानं पादत्राणव्यवहितेन वाऽधिष्ठानम्। एतत्त्रयं यो वेद लोके स तत्र प्रतीकारमारभमाणो भेदजं दुःखं नाऽऽप्नोति। कस्मात्, त्रित्वोपलब्धिसामर्थ्यादिति। अत्रापि तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यम्। कस्मात्, तपिक्रियायाः कर्मस्थत्वात्, सत्त्वे कर्मणि तपिक्रिया नापरिणामिनि निष्क्रिये क्षेत्रज्ञे, दर्शितविषयत्वात्। सत्त्वे तु तप्यमाने तदाकारानुरोधी पुरुषोऽप्यनुतप्यत इति ॥ १७ ॥ दृश्यस्वरूपमुच्यते।

भा० का प०—बुद्धि से जानने वाला पुरुष द्रष्टा कहलाता है, बुद्धि में स्थित सब धर्म्म दृश्य कहलाते हैं। ये दृश्य स्फटिकमणि के

समान समीपस्थमात्र के उपकरण दृश्यभाव से दर्शन के स्वामी पुरुष के स्वभाव में परिणत होकर अनुभवविषयता को प्राप्त होते हैं और स्वरूप से प्राप्त होने वाले स्वतन्त्र भी परार्थता से परतन्त्र कहलाते हैं।

(तयोः) उन दोनों द्रष्टा और दृश्य शक्ति का अनादि जो अर्थकृत् संयोग है वह हेयहेतु अर्थात् दुःख का कारण है ऐसा अन्यत्र भी कहा है, उसके संयोगरहित होने से अत्यन्त दुःख का प्रतीकार होता है क्योंकि नाश करने योग्य दुःख हेतु का परिहार्य्यस्यप्रतीकारः देखने से जैसे (पादतलस्य) पैर का तलुआ भेद्य और कांटा भेदक है। इसके परिहार के दो ही उपाय हैं या तो पैर कांटे में रक्खा ही न जावे और यदि रक्खा जाय तो पादत्राण (जूता) पहनकर इन तीनों को अर्थात् भेद्य, भेदक और परिहार अथवा हेय, हेतु और प्रतीकार को जो जानता है संसार में वह उनके नाशके उपाय का आरम्भ करता हुआ भेदोत्पन्न दुःख को नहीं प्राप्त होता है। त्रित्व ज्ञान के सामर्थ्य से योग में भी तापक रजोगुण का सत्व ही तप है क्योंकि तपिक्रिया के कर्मस्थ होने से। क्योंकि सत्व कर्म में ही तपिक्रिया रहती है, न कि अपरिणामी निष्क्रिय क्षेत्रज्ञ में सत्व के तपित होने से उसके अदृश्य का अनुसरण करने वाला जीव तापित होता है॥ १७॥ अब दृश्य का स्वरूप कहते हैं।

भा० का भा०—बुद्धि के साक्षी जीव को द्रष्टा कहते हैं। तथा बुद्धिस्थ समस्त धर्म्मों को दृश्य कहते हैं, वही दृश्य स्फटिक के समान पार्श्वस्थ मात्र का उपकारी दृश्य होने के कारण होता है। पुरुष अर्थात् जीव को अपने विषय में अनुभव विषयता को प्राप्त होने से स्वरूपान्तर होने योग्य स्वतन्त्रता भी, परार्थ होने से परतन्त्रता के समान हो जाती है, उन दृक् और द्रष्टा की शक्ति का जो अनादि अर्थकृत सम्बन्ध है, सो दुःख का कारण है। ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है उनका संयोग अर्थात् द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध छोड़ने से बहुत दुःख दूर होता है, जो दुःख के परिहार अर्थात् त्याग का हेतु है उनका प्रतीकार दीखता है। दृष्टान्त है कि चरण का

तलवा भेद्य अर्थात् छेदन योग्य और कण्टक भेदक अर्थात् छेदन करने वाला होता है जिसका परिहार कण्टक का चरण में न रहना है अथवा पादत्राण जूता से रक्षित चरण का अधिष्ठान है। इन तीनों को जो जानता है वह रक्षा पाता है ऐसे ही द्रक् दृश्य और प्रतीकरण को जो संसार में जानता है. वह दुःख नाश में उपाय करता हुआ भेदोत्पन्न दुःख को नहीं प्राप्त होता है। फलितार्थ यह है, कि जो पुरुष द्रष्टा दृश्य और उनके संयोग को जानता है वही इस दुःख के हेतु को त्याग मुक्त होता है॥ १७ ॥

भो० वृ०---द्रष्टा चिद्रूपः पुरुषः, दृश्यं बुद्धिसत्त्वं, तयोरविवेकख्यातिपूर्वको योऽसौ संयोगो भोग्यभोक्तृत्वेन सन्निधानं स हेयस्य दुःखस्य गुणपरिणामरूपस्य संसारस्य हेतुः कारणं तन्निवृत्त्या संसारनिवृत्तिर्भवतीत्यर्थः॥ १७ ॥ द्रष्टृदृश्ययोः संयोग इत्युक्तं, तत्र दृश्यस्य स्वरूपं कार्यं प्रयोजनञ्चाह---

भो० वृ० का भा०---द्रष्टा चैतन्यस्वरूप पुरुष है, दृश्य बुद्धिसत्त्व है. उन दोनों का जो अविवेक या अविचार से संयोग अर्थात् एकता का अहंकार है अर्थात् भोग्य और भोक्ता की जो समीपता है वह हेय अर्थात् संसार रूप दुःख का हेतु है। उसकी निवृत्ति से दुःख की निवृत्ति होती है॥ १७ ॥ द्रष्टा का स्वरूप पिछले सूत्र में कहा था इस कारण अगले सूत्र में दृश्य का स्वरूप, कार्य्य और प्रयोजन कहा जायगा-

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्॥ १८ ॥

सूत्र का पदार्थ---(प्रकाशक्रियास्थितिशीलम्) प्रकाश सत्त्वगुण, क्रिया रजोगुण और स्थिति तमोगुण से युक्त (भूतेन्द्रियात्मकम्) पञ्चभूत और पञ्च इन्द्रियात्मक

(भोगापवर्गार्थम्) भोग और मोक्षार्थ (दृश्यम्) दृश्य कहाता है ॥ १८ ॥

सूत्र का भा०—सत्व रज और तम, गुणों से युक्त भूतात्मक और इन्द्रियात्मक तथा भोग मोक्ष का हेतु जो है उसे दृश्य कहते हैं ॥१८॥

व्यास दे० का भाष्य—प्रकाशशीलं सत्त्वम् । क्रियाशीलं रजः । स्थितिशीलं तम इति । एते गुणाः परस्परोपरक्तप्रविभागाः परिणामिनः संयोगवियोगधर्माण इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जित-मूर्तयः परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽप्यसम्भिन्नशक्तिप्रविभागास्तुल्यजातीया-तुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः प्रधानवेलायामुपदर्शितसन्नि-धाना गुणत्वेऽपि च व्यापारमात्रेण प्रधानान्तर्णीतानुमितास्तिताः पुरुषार्थकर्तव्यतया प्रयुक्तसामर्थ्याः सन्निधिमात्रोपकारिणोऽय-स्कान्तमणिकल्पाः प्रत्ययमन्तरेणैकतमस्य वृत्तिमनु वर्तमानाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति । एतद्दृश्यमित्युच्यते । तदेतद् भूतेन्द्रि-यात्मकं भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमते । तथेन्द्रि-यभावेन श्रोत्रादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमत इति । तत्तु नाप्रयोजन-मपि तु प्रयोजनमुररीकृत्य प्रवर्तत इति भोगापवर्गार्थं हि तद्दृश्यं पुरुषस्येति । तत्रेष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नं भोगो भोक्तुः स्वरूपावधारणमपवर्ग इति । द्वयोरतिरिक्तमन्यद्दर्शनं नास्ति । तथा चोक्तम्—अयन्तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृष्वकर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिण्युपनीयमानान् सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन्नदर्शनमन्यच्छंकत इति ।

तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्येते इति । यथा विजयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वा-मिनि व्यपदिश्यते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति, एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्त्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते स हि तत्फलस्यभोक्तेति ।

बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्धस्तदर्थावसायो मोक्ष इति। एवं ग्रहणधारणोहापोहतत्त्वज्ञानाभिनिवेशा बुद्धौ वर्तमानाः पुरुषेऽध्यारोपितसद्भावाः। स हि तत्फलस्योपभोक्तेति॥ १८॥ दृश्यानां गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदमारभ्यते॥

भा० का पदा०—(प्रकाशशीलम् सत्वम्) सत्वगुण प्रकाश स्वभाव वाला है, रजोगुण का स्वभाव क्रियाकारित्व है, तमोगुण स्वभाव स्थितिशील है। यह सब गुण एक दूसरे के आश्रयीभूत भिन्न-भिन्न हैं तथा अवस्थान्तर को धारण करने वाले हैं। एवं संयोग वियोग धर्म वाले हैं। एक दूसरे की सहायता से रूप को धारण करने वाले हैं। परस्पर अङ्गांगिभाव में भी जिनकी शक्ति और विभाग नहीं होते, तुल्य जातीय और अतुल्य जातीय शक्ति को धारण करने वाले प्रधान वेला अर्थात् समाधिसमय में अपनी समीपता दिखाते और गुण भाव होने पर भी व्यापार मात्र से प्रधान के अन्तर्भूत इनकी विद्यमानता अनुमान की जाती है। प्रयुक्त सामर्थ्य होकर सन्निधिमात्र से दूसरे का अनुकरण करने वाले स्फटिक मणि के समान निश्चय ज्ञान के बिना किसी एक की वृत्ति के अनुसार चलने वाले प्रधान शब्द वाच्य कहलाते हैं। इन्हीं गुणों को दृश्य कहते हैं।

सो यह भूतेन्द्रियात्मक तत्व पृथिवी आदि पञ्चभूतों के तथा श्रोत्रादि पञ्चेन्द्रियों के सूक्ष्म, स्थूल भेदों से परिणाम को प्राप्त होता और वह (नाप्रयोजनम्) निष्प्रयोजन नहीं है वरन् प्रयोजन को हृदय में धारण करके भोग और मोक्ष के वास्ते प्रवृत्त होते हैं। वह दृश्य पुरुष का है उनमें से इष्ट अर्थात् इच्छानुकूल अनिष्ट प्रतिकूल गुणों के स्वरूप को विना विभाग के अवधारण करना भोग कहाता है। भोग करने वाले भोक्ता के स्वरूप के निश्चय हो जाने को मोक्ष कहते हैं। भोग और भोक्ता से भिन्न और दर्शन कुछ नहीं है ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है या तो तुल्य और अतुल्य जातिवाले जगत् के कार्य्यकर्त्ता तीनों गुणों

और अकर्ता पुरुष में चौथे उनके क्रिया साक्षी में आरोपित किये हुए अप्राप्त सब भावों का अज्ञान से बिना जाने अन्यथा शङ्का करना है ।

यह दोनों भोग और मोक्ष बुद्धिकृत हैं और बुद्धिमें ही रहते हैं फिर इसको पुरुषों में क्यों आरोपित किया जाता है ? जैसे जय अथवा पराजय योद्धाओं में रहता है परन्तु राजा में आरोपित किया जाता है क्योंकि वह स्वामी जय वा पराजय के फल का भोक्ता है । इस ही प्रकार से बन्ध और मोक्ष बुद्धि में रहते हैं परन्तु पुरुष में आरोपित होते हैं । वही उनके फलका भोक्ता हैं । बुद्धि का ही पुरुषार्थ समाप्त न होना बन्ध है और बुद्धि के परिश्रम की समाप्ति को मोक्ष कहते हैं । इससे सिद्ध हुआ ग्रहण, धारण, तर्क और समाधान तत्वों का ज्ञान और अभिनिवेश बुद्धि में रहते हैं परन्तु पुरुष में अध्यारोपित होते हैं क्योंकि वही उनके फल का भोक्ता है ॥ १८ ॥

भा० का भा०—सत्वगुण प्रकाश स्वभाव वाला है, रजोगुण क्रिया स्वभाव वाला है और तमोगुण आलस्य स्वभाव युक्त है । यह सब एकाकी नहीं रहते किन्तु एक दूसरे के आश्रय से रहते हैं । जब एक प्रधान होता है तब अन्य उसमें लय होजाते हैं किन्तु अनुमान से दूसरों की विद्यमानता जानी जाती है । यद्यपि सब कार्य्यगुणों के आश्रय से होते हैं और वह गुण बुद्धि में रहते हैं तथापि उन बन्ध और मोक्ष के फल को भोगने वाला जीव है इसलिये जीव को ही कार्य्यकर्त्ता कहा जाता है । जैसे जय और पराजय योद्धाओं में रहती है तथापि राजा में आरोपित होती है क्योंकि वही उनके फलका भोगने वाला है । इससे यह सिद्ध हुआ कि जिसमें बुद्धि के पुरुषार्थ की समाप्ति न हो वह बन्ध है और जिसमें बुद्धि के पुरुषार्थ का अन्त हो जाय वह मोक्ष है ॥ १८ ॥

अट्ठारहवाँ सूत्र—प्रकाश सत्वगुण का धर्म है क्रिया अर्थात् प्रवृत्ति रजोगुण का और स्थिति तमोगुण का स्वभाव है ।

भो० वृ०--प्रकाशः सत्वस्य धर्मः, क्रिया प्रवृत्तिरूपा रजसः, स्थितिः नियमरूपा तमसः, ताः प्रकाशक्रियास्थितयः शीलं स्वाभाविकं रूपं यस्य तत्तथाविधमिति स्वरूपमस्य निर्दिष्टम् । भूतेन्द्रियात्मकमिति । भूतानि स्थूलसूक्ष्मभेदेन द्विविधानि पृथिव्यादीनि गन्धतन्मात्रादीनि च । इन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियान्तःकरणभेदेन त्रिविधानि । उभयमेतद्ग्राह्य-ग्रहणरूपमात्मा स्वरूपाभिन्नः परिणामो यस्य तत्तथाविधमित्यनेनास्य कार्य्यमुक्तम् । भोगःकथितलक्षणोऽपवर्गो विवेकख्यातिपूर्विका संसारनिवृत्तिः तौ भोगापवर्गौ अर्थः प्रयोजनं यस्य तत्तथाविधं दृश्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥

तस्य च दृश्यस्य नानावस्थारूपपरिणामात्मकस्य हेयत्वेन ज्ञातव्यत्वात् तदवस्थाः कथयितुमाह---

भो० वृ० का भा०---सत्व अर्थात् सतोगुण का धर्म्म प्रकाश है, रजोगुण का धर्म्म क्रिया और प्रवृत्ति है और तमोगुण का धर्म्म नियम रूपस्थिति है । वह प्रकाश, क्रिया और स्थिति हैं । स्वभाव जिसके वह प्रकाश क्रिया स्थितिशील दृश्य कहाता है । भूतेन्द्रियात्मकम् का अर्थ यह है कि सूक्ष्म और स्थूल भेदवाले पृथिवी आदि भूत दो प्रकार के हैं और उनकी तन्मात्राओं के भी दो दो भेद हैं । इन्द्रियों के तीन भेद हैं। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरण । वह सब ग्राह्य और ग्रहण रूप में आत्मा अर्थात् जीव से भिन्न नहीं है । इस कथन से दृश्य के कार्य्य का वर्णन सिद्ध हुआ । भोग का लक्षण प्रथम कह चुके हैं, अपवर्ग का अर्थ वा लक्षण यह है कि विवेकख्याति पूर्वक संसार की निवृत्ति---भोग और अपवर्ग है प्रयोजन जिसका उसे दृश्य कहते हैं ॥ १८ ॥

वह दृश्य अनेक रूपों में बदला करता है इस कारण हेय अर्थात् त्यागने योग्य है और इस ही कारण से उसका जानना आवश्यक है अतएव उसकी विशेष अवस्थाओं का वर्णन करते हैं---

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुण-पर्वाणि ॥ १९ ॥

सूत्र का पदार्थ—(विशेषाविशेषलिंगमात्रालिंगानि) विशेष, अविशेष, लिङ्ग और अलिङ्ग (गुणपर्वाणि) गुण की अवस्था हैं ॥ १९ ॥

सूत्र का भाष्य—गुणों की चार अवस्था हैं। १ विशेषावस्था, २ अविशेषावस्था, ३ लिंगावस्था और ४ अलिंगावस्था ॥ १९ ॥

व्या० दे० का भाष्य—तत्राऽऽकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः। तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः सर्वार्थम् इत्येतान्यस्मितालक्षणस्याविशेषस्य विशेषाः। गुणानामेष षोडशको विशेषपरिणामः। षड विशेषाः। तद्यथा—शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रं चेत्येकद्वित्रिचतुः पञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्चाविशेषाः, षष्ठश्चाविशेषोऽस्मितामात्र इति। एते सत्तामात्रस्याऽऽत्मनो महतःषडविशेषपरिणामाः। यत्तत्परमविशेषेभ्यो लिंगमात्रं महत्तत्वं तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति। प्रतिसंसृज्यमानाश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय यत्तन्निः सत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिंगं प्रधानं तत्प्रतियन्तीति। एष तेषां लिंगमात्रः परिणामो निःसत्तासत्तञ्चालिंगपरिणाम इति। अलिंगावस्थायां न पुरुषार्थो हेतुर्नालिंगावस्थायामादौ पुरुषार्थता कारणं भवतीति। न तस्याः पुरुषार्थता कारणं भवतीति। नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्याऽऽख्यायते। त्रयाणां त्ववस्थाविशेषाणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति। स

चार्थोहेतुर्निमित्तं कारणं भवतीत्यनित्याऽऽख्यायते । गुणा
सर्वे धर्म्मानुपातिनो न प्रत्यस्तमयन्ते नोपजायन्ते । व्यक्तिभि
रातीतानागतव्ययागमवतीभिर्गुणान्वयिनीभिरुपजनापायधर्म्म
इव प्रत्यवभासन्ते । यथा देवदत्तो दरिद्राति । कस्मात् । यतोऽ
म्रियन्ते गाव इति, गवामेव मरणात्तस्य दरिद्राणं न स्वह
ानादिति समः समाधिः ।

लिंगमात्रमलिंगस्य प्रत्यासन्नं, तत्र तत्संसृष्टं विविच्यते क्रम
ानतिवृत्तेः । तथा षड विशेषालिंगमात्रे संसृष्टा विविच्यन्ते परिणा
क्रमनियमात् । तथातेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसृष्टानि विविच्य
तथाचोक्तम् पुरस्तात् । न विशेषेभ्यः परं तत्त्वान्तरमस्ती
विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तरपरिणामः । तेषां तु धर्म्मलक्षण
वस्थापरिणामा व्याख्यायिष्यन्ते ॥१९॥ व्याख्यातं दृश्यमथ द्रष्
स्वरूपावधारणार्थमिदमारभ्यते—

भा० का प०—उन में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथि
यह स्थूल पञ्चभूत; शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध जो पञ्चभूतों की साम
तन्मात्रा हैं उनके विशेष श्रवण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, ज्ञानेन्द्रि
वचन, हाथ, चरण, गुदा और लिंग यह पांच कर्मेन्द्रियां और ग्यार
मन यह सब अस्मिता के सामान्य लक्षण हैं । सत्वादि विशेष गुणों
उक्त १६ विशेष अवस्था हैं । अविशेष छह अवस्था हैं जैसे शब्द तन्मा
स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र । इस प्रकार से ए
दो, तीन, चार और पाँच लक्षण हैं । जिन के शब्दादिक पाँच अवि
अवस्था हैं और छठी अवस्था विद्यमानता मात्र है । यह छह सत्ताम
आत्मा की अविशेषावस्था है । जो परम अविशेष है उस महत्तत्
उक्त गुण के सत्तामात्र आत्मा में स्थिर होकर बढ़ी हुई अवस्था को
होते हैं और जब इनका पुनः लय होता है तब उस ही सत्तामात्र आ
में स्थिर हो कर निःसत्त सत्व अर्थात् अदृश्य के समान जिसका सत्

असत् कुछ भी नहीं कह सकते हैं। इस कारण से गुणों की वह अवस्था अलिंगावस्था वा प्रधान अवस्था कहलाती है। इनका परिणाम लिंगावस्था है। लय होना अलिंगावस्था है। अलिंगावस्था में पुरुषार्थता कारण नहीं होती है इसलिये वह नित्य कहलाता हैं। पहली तीन अवस्थाओं में अर्थात् विशेष, अविशेष और लिंग अवस्थाओं में आदि में पुरुषार्थता कारण होती है। वह अर्थ हेतु के निमित्त कारण होता है। अतः अनित्य कहा जाता है। सब धर्मों में जानेवाले न कहीं अस्त होते हैं और न उत्पन्न होते हैं। अतीत, अनागत, व्यय और आगमवाली तथा गुणा-भिपातिनी व्यक्तियों से विनाश उत्पत्ति धर्मक से मालूम पड़ते हैं जैसे—देवदत्त दरिद्र है, क्यों? इसलिये कि उसकी गायें मरती हैं उसके आश्रय रहती हुई गायों के मरने से उसकी दरिद्रता है न कि स्वरूप हानि से।

लिंगमात्र अलिंग के समीप होता है इसलिए क्रमानुसार (संसृष्ट) मिले हुए का ही विचार किया जाता है। निदान छह अविशेष लिंगमात्र में संसृष्ट ही विचारणीय है। परिणामक्रम के नियम से तथा उन अविंशेषों में भूतेन्द्रिय मिली हुई कही जाती हैं ऐसा ही ऊपर कहा गया है। विशेषों से सूक्ष्म और कोई तत्वान्तर नहीं है। अतएव विशेषों का तत्वान्तर परिणाम नहीं है। उनके आगे धर्म्मलक्षण और अवस्था परिणाम की व्याख्या की जायगी॥ १६ ॥

दृश्य का वर्णन हो चुका अब द्रष्टा के स्वरूप के अवधारणार्थ यह आरम्भ किया जाता है।

भा० का भा०—उनमें वायु, अग्नि, जल आकाश और भूमि ये पाँच भूत हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द इन अविशेष तन्मात्राओं के अर्थात् रूप रहितों के पञ्चभूत विशेष हैं और पञ्च तन्मात्रा विशेष हैं तथा कान, नाक, त्वचा, आँख और जिह्वा ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं। वाक्, हाथ, पैर, गुदा और लिंग ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। यह दस और

ग्यारहवाँ मन उभयात्मक हैं। ये सब अविशेष अस्मिता लक्षण के वि
हैं और यही गुणों के सोलह विशेष परिणाम हैं।

छह अविशेष हैं—शब्दतन्मात्र, रूपतन्मात्र स्पर्शतन्मात्र
गन्धतन्मात्र, रसतन्मात्र, ये पाँचों क्रम से १।२।३।४।
लक्षणयुक्त पांच अविशेष हैं और छठा अविशेष अस्मिता है।
सत्तामात्र महान् आत्मा के छह अविशेष अर्थात् रूपरहित परिणाम
जो इन सब से उत्कृष्ट अविशेष सो भी परलिंगमात्र महत्तत्त्व है उस
महत्तत्त्व सत्त्वमात्र महान् आत्मा के आश्रय ये बढ़ते हैं और लय हो
के समय प्रकाशित हुए उसही से सद्सदात्मक प्रतीत होते हैं। ये उनक
लिंगमात्र ही परिणाम है और निस्सत्तासत्त लिंग रहित का परिणाम है।

लिंगरहित अवस्था को पुरुषार्थ हेतुता नहीं है और न लिंगरहि
अवस्था में प्रथम पुरुषार्थ कारण है और न वह अवस्था पुरुषार्थ
हुई है इसीलिए वह नित्य है, तीनों अवस्थाओं का प्रथम पुरुषार्थ
कारण है, वह अर्थ निमित्त कारण होता है इस लिए अवस्था अनित्य
कही जाती है। सब गुण धर्मानुयायी होते हैं। न अस्त होते हैं न उत्पन्न
होते हैं। अतीत, अनागत, लाभ और व्यययुक्त गुणाभिपातिनी स
अवस्था व्यक्तिओं से उत्पत्ति और नाश धर्मक ऐसे मालूम होते हैं, जै
देवदत्त दरिद्र है क्यों? उसकी गायें मरती हैं तो गायों के मरने ही से
उसकी दरिद्रता है नकि स्वरूप हानि से।

लिंगमात्र लिंगरहित के समीपस्थ होता है। इसी प्रकार
अविशेषों का लिंगमात्र के समीपस्थ होने से विवेक होता है। क्रम से
ऐसे ही भूतेन्द्रियों का भी उन्हीं अविशेषों में मिश्रित विवेक होता है वैसे
ही अन्यत्र भी कहा है। विशेषों से सूक्ष्म तत्वान्तर नहीं है। अतः विशे
का तत्वान्तर परिणाम नहीं है, उनके धर्म्मलक्षण और अवस्था परिणा
कहे जायेंगे ॥ १९ ॥ दृश्य का वर्णन होचुका, अब द्रष्टा के स्वरूप का
वर्णन करते हैं—

भो० वृ०---गुणानां पर्वाण्यवस्थाविशेषाश्चत्वारो ज्ञातव्या इत्युपदिष्टं भवति। तत्र विशेषा महाभूतेन्द्रियाणि, अविशेषास्तन्मात्रान्तःकरणानि, लिंगमात्रं बुद्धिः अलिंगमव्यक्तमित्युक्तम्। सर्वत्र त्रिगुणरूपस्याव्यक्तस्यान्वयित्वेन प्रत्यभिज्ञानादवश्यं ज्ञातव्यत्वेन योगकाले चत्वारि पर्वाणि निर्दिष्टानि ॥ १९ ॥

एवं हेयत्वेन दृश्यस्य प्रथमं ज्ञातव्यत्वात्तदवस्थासहितं व्याख्यायोपादेयं द्रष्टारं व्याकर्तुमाह।

भोजवृत्ति का भा०--गुणों के चार भेद होते हैं। इसी का उपदेश किया जाता है। उनमें से विशेष रूप महाभूत और इन्द्रियां हैं। अविशेष रूप तन्मात्रा तथा अन्तःकरण हैं। लिङ्गमात्ररूप बुद्धि है और अलिङ्ग रूप अव्यक्त अर्थात् कारण रूप प्रकृति है। योगी को इन चारों भेदों का ज्ञान होना चाहिए। इस कारण इनका उपदेश किया गया है ॥ १९ ॥

इस प्रकार से हेय अर्थात् दृश्य का रूप दिखाकर उपादेय द्रष्टा का वर्णन करते हैं---

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥२०॥

सूत्र का पदार्थ---(द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि) द्रष्टा स्वरूप से शुद्ध भी (प्रत्ययानुपश्यः) बुद्धि से उत्पन्न होने वाले प्रत्ययों का अनुकारी है ॥ २० ॥

सूत्र का भा०---द्रष्टा यद्यपि साक्षिमान है तथापि बुद्धिजन्य प्रत्यय से दृश्यरूप भान होता है ॥ २० ॥

व्यास दे० का भाष्य---दृशिमात्र इति दृक्शक्तिरेव विशेषणापरामृष्टेत्यर्थः। स पुरुषो बुद्धेःप्रतिसंवेदी। स बुद्धेर्न सरूपो नात्यन्तं विरूप इति। न तावत्सरूपः। कस्मात्। ज्ञाताज्ञातविषयत्वात्परिणामिनी हि बुद्धिः। तस्याश्च विषयो गवादिर्घटादिर्वा

ज्ञातश्चाज्ञातश्चेति परिणामित्वं दर्शयति। सदाज्ञातविषयत्वं पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति। कस्मात्। नहि बुद्धिश्च नाम पुरुष विषयश्च स्यादगृहीता गृहीता चेति सिद्धम् पुरुषस्य सदाज्ञातविषयत्वं ततश्चापरिणामित्वमिति। किञ्च परार्था बुद्धिः संहत्यकारित्वात् स्वार्थः पुरुष इति। तथा सर्वार्थाध्यवसायकत्वात् त्रिगुणा बुद्धिस्त्रिगुणत्वादचेतनेति। गुणानां तूपद्रष्टा पुरुष इत्यतो न सरूपः। अस्तु तर्हि विरूप इति नात्यन्तं विरूपः कस्मात्, शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यो यतः। प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन्नतदात्माऽपि तदात्मक इव प्रत्यवभासते। तथा चोक्तम् अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनु पतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते॥ २०॥

भा० का प०—जब वह विशेष गुणों से असंयुक्त होती है तब दृशिमात्र कहलाती है। वह आत्मा बुद्धि से जानने योग्य अथवा बुद्धि का साक्षी है। वह बुद्धि के समान रूप वाला नहीं है। न अत्यन्त विलक्षण वाला है। समान रूप न होने में हेतु यह है—ज्ञात और अज्ञात विषयिणी होने से बुद्धि परिणामिता है। उस बुद्धि का विषय गौ आदि और घट पटादि ज्ञात और अज्ञात दोनों ही हैं जो कि उसके परिणामित्व को दिखाते हैं। अज्ञात विषय तो सदैव ही आत्मा के परिणाम रहित भाव को प्रकाशित करता है क्योंकि बुद्धि पुरुष को ग्रहण नहीं कर सकती। क्योंकि वह उसका विषय नहीं है। पुरुष का सदैव अज्ञात विषय और अपरिणामी होना सिद्ध है। साधनापेक्ष होने से बुद्धि परतन्त्र है।

परन्तु पुरुष स्वतन्त्र है तथा सब अर्थों के व्यवहारयुक्त होने से बुद्धि त्रिगुणात्मिका है। त्रिगुणा होने से जड़ है और पुरुष गुणों का

द्रष्टा है इससे पुरुष बुद्धि के समान नहीं है तो बुद्धि से विलक्षण रूप वाला होगा। अत्यन्त विरूप भी नहीं है क्योंकि पुरुष शुद्ध होने पर भी ज्ञान से देखा जाता है। ज्ञान बुद्धि के द्वारा होता है। बुद्धि के द्वारा देखने से तब आत्मा भी उसके रूप के समान मालूम होता है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है। भोक्तृत्वशक्ति का कभी परिणाम नहीं होता और संक्रमण से रहित है अर्थात् उल्लंघन करने योग्य नहीं है। (परिणामिन्यर्थे) परिणामी पदार्थों में संक्रांत अर्थात् अवस्थान्तर को धारण करने वाली के समान उसकी वृत्ति भान होने लगती है और उस चैतन्य को ग्रहण बुद्धि की वृत्तियों के अनुकरण मात्र से करने वाली बुद्धि वृत्ति से अविशिष्ट ज्ञान की वृत्ति है ऐसा कहा जाता है ॥ २० ॥

भा० का भा०—द्रष्टा बुद्धि की वृत्तियों का साक्षी है परन्तु इस में शंका यह है कि यह द्रष्टा बुद्धि का स्वरूप है या विरूप है? इसका उत्तर यह है न अत्यन्त स्वरूप है और न अत्यन्त विरूप है। स्वरूप तो इस कारण से नहीं है कि आत्मा दृश्य और अदृश्य दोनों प्रकार के पदार्थों का अधिकारी है और बुद्धि केवल ज्ञात घटादि पदार्थों के ज्ञान को धारण कर सकती है और बुद्धि में अनेक प्रकार के परिणाम भी होते हैं। एवम् बुद्धि परतन्त्र है क्योंकि वह बिना दूसरे की सहायता के ज्ञान प्राप्ति में असमर्थ है और आत्मा स्वतन्त्र है तथा बुद्धि जब चाञ्चल्यरहित होती है तब मनुष्य को प्रतीत होता है कि इस समय मेरी बुद्धि सद्गुण युक्त है इन कारणों से आत्मा बुद्धि के स्वरूप नहीं है। विरूप इस कारण से नहीं कि शुद्ध होने पर भी ज्ञान द्वारा पदार्थों को समझता है और ज्ञान बुद्धि के बिना होना असम्भव है। इससे अज्ञानी लोग जानते हैं कि आत्मा बुद्धिरूप है और ऋषियों ने भी कहा है कि आत्मा की शक्ति परिणाम रहित है तथापि परिणामिनी बुद्धि की वृत्तियों के संयोग से परिणामिनी प्रतीत होती है। इस से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा की जो

चैतन्य वृत्तियां हैं उनसे बुद्धि की वृत्ति भिन्न है। इससे आत्मा बुद्धि विरूप भी नहीं है ॥ २० ॥

भो० वृ०-द्रष्टा पुरुषो दृशिमात्रश्चेतनामात्रः। मात्रग्रहणं धर्मधर्मिनिरासार्थम्। केचिद्धि चेतनामात्मनो धर्ममिच्छन्ति। स शुद्धो परिणामित्वाद्यभावेन स्वप्रतिष्ठोऽपि प्रत्ययानुपश्यः प्रत्यया विषयोपरक्तानि ज्ञानानि, तानि, अनु अव्यवधानेन प्रतिसंक्रमाद्यभावेन पश्यति। एतदुक्तं भवति। जातविषयोपरागायामेव बुद्धौ सन्निधिमात्रेणैव पुरुषस्य द्रष्टृत्वमिति ॥ २० ॥ स एव भोक्तेत्याह--

भो० वृ० का भा०—द्रष्टा पुरुष ही दृशिमात्र अर्थात् चेतनमात्र है। यहां पर मात्र शब्द इस कारण लिखा है कि जिससे गुण और गुणी दोनों का ग्रहण न हो। कोई आचार्य्य चेतनता को आत्मा का गुण मानते हैं। वह पुरुष यद्यपि शुद्ध है तथा परिणामित्व आदि गुणों से रहित है तौ भी विषयों के विज्ञान रूप रङ्गों का समीपवर्ती होने से विषय संयोगी दीखता है। फलितार्थ यह हुआ कि विषयों के संसर्ग से जो बुद्धि विषयाकार हो जाती है। उसकी समीपता के कारण पुरुष में भी द्रष्टापन प्रतीत होता है। वास्तव में पुरुष शुद्ध है ॥ २० ॥ द्रष्टा ही भोक्ता है यह अगले सूत्र में कहा जायगा—

तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा ॥ २१ ॥

सूत्र का पदार्थ—(तदर्थ एव) पूर्व सूत्र में कहे हुए हेतु से (दृश्यस्य) दृश्य पदार्थ का (आत्मा) पुरुष आत्मा है ॥ २१ ॥

सूत्र का भा०—पूर्वसूत्रोक्त कारण से ही आत्मा दृश्यभाव भान होता है ॥ २१ ॥

व्यास भाष्य—दृशिरूपस्य पुरुषस्य कर्मविषयतामापन्नं दृश्यमिति तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा भवति। स्वरूपं भवतीत्यर्थः। तत्स्वरूपं तु पररूपेण प्रतिलब्धात्मकं भोगापवर्गार्थतायां कृतायां पुरुषेण न दृश्यत इति। स्वरूपहानाद्दृश्यता नाशः प्राप्तो न तु विनश्यति ॥ २१ ॥ कस्मात्-

भा० का पदा०—द्रष्टारूप आत्मा के कर्मविषयता को प्राप्त हुआ पदार्थ दृश्य कहाता है। उसके ही वास्ते दृश्य का आत्मा होता है अर्थात् स्वरूप होता है। आत्मा का स्वरूप तो भोग और मोक्ष की प्रयोजनता वा लोलुपता करने में पुरुष से नहीं देखा जाता। इस प्रकार की स्वरूपहानि से दृश्य का नाश हो जाता है प्राप्त हो जाने से नाश नहीं होता ॥ २१ ॥

भा० का भा०—द्रष्टा का जो कर्म्म अर्थात् दर्शन उसकी विषयता को जो प्राप्त हों वह सब पदार्थ दृश्य कहाते हैं और इसही कारण दृश्य का स्वरूप होता है। उस दृश्य का स्वरूप दूसरे के रूप के द्वारा भोग और मोक्ष की लालसा में फँसे हुए मनुष्य को प्रतीत नहीं होता इससे दृश्य की रूपहानि होती है किन्तु नाश नहीं होता ॥ २१ ॥

भो० वृ०—दृश्यस्य प्रागुक्तलक्षणस्याऽऽत्मा यत् स्वरूपं स तदर्थस्तस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वसम्पादनं नाम स्वार्थपरिहारेण प्रयोजनम्। न हि प्रधानं प्रवर्त्तमानमात्मनः किञ्चित् प्रयोजनमपेक्ष्य प्रवर्त्तते किन्तु पुरुषस्य भोगं सम्पादयामीति ॥ २१ ॥

यद्येवं पुरुषस्य भोगसम्पादनमेव प्रयोजनं तदा सम्पादिते तस्मिन् तत् निष्प्रयोजनं विरतव्यापारं स्यात्। तस्मिंश्च परिणामशून्ये शुद्धस्वात सर्वे द्रष्टारो बन्धरहिताः स्युः। ततश्च संसारोच्छेद इत्याशङ्क्याऽऽह—

भो० वृ० का भा०—ऊपर जिसका लक्षण कहा है उस दृश्य का आत्मा अर्थात् स्वरूप उसही द्रष्टा के निमित्त है, दृश्य का भोग भी अपने स्वार्थ त्याग से है। अर्थात् प्रधान अपने प्रयोजन के वास्ते किसी

काम में प्रवृत्त नहीं होता है; किन्तु पुरुष के भोक्तृत्व को सिद्ध करने वास्ते ही उसकी प्रवृत्ति है ॥ २१ ॥

यदि इस रीति से पुरुष के निमित्त भोगसाधन ही दृश्य प्रयोजन है तो भोगसम्पादन के अनन्तर वह निष्फल होगा। जब दृश्य परिणामरहित और अक्रिय हो जायगा तब जगत् के सब द्रष्टा अर्थात् जीव बन्धन से मुक्त हो जायेंगे और इस दशा में संसार का उच्छेद होना चाहिये। इस शङ्का का उत्तर अगले सूत्र में लिखते हैं—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

सूत्र का पदार्थ—(कृतार्थम् प्रति) सिद्धार्थ एक पुरुष के प्रति (नष्टमपि) नष्ट हुआ भी दृश्य का रूप (अनष्टम्) नष्ट नहीं है (तदन्यसाधारणत्वात्) क्योंकि दूसरे पुरुषों में भान होता है ॥ २२ ॥

सूत्र का भा०—एक कृतार्थ पुरुष के प्रति दृश्य का रूप नष्ट हुआ है परन्तु दूसरे साधारण पुरुषों के प्रति वह अनष्ट है इससे उसे नष्ट नहीं कह सकते ॥ २२ ॥

व्या० दे० का भाष्य—कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमप्यनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात्। कुशलं पुरुषं प्रति नाशं प्राप्तमप्यकुशलान् पुरुषान्प्रत्यकृतार्थमिति तेषां दृशेः कर्मविषयतामापन्नं लभत एव पररूपेणाऽऽत्मरूपमिति। अतश्च दृग्दर्शनशक्त्योर्नित्यत्वादनादिः संयोगो व्याख्यात इति। तथा चोक्तम्—धर्मिणामनादिसंयोगाद्धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोग इति ॥ २२ ॥

संयोगस्वरूपाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते—

भा० का पदा०—कृतार्थ एक पुरुष के प्रति नष्ट हुआ भी दृश्य अनष्ट है क्योंकि वह अन्य पुरुषों को प्रतीत होता है। योग्य चतुर पुरुष के प्रति दृश्य नाश को प्राप्त हुवा भी मूर्ख पुरुषों के प्रति अकृतार्थ अर्थात् अनष्ट है। वह उनकी दृष्टि में कर्म विषयता को प्राप्त होता है। इस प्रकार से पर रूप से अपने रूप को प्राप्त होता है। अतएव द्रष्टा और दर्शन शक्तियों के नित्य होने से दोनों का अनादि संयोग कहा गया। अन्यत्र भी कहा है धर्मी अर्थात् गुणी का अनादि संयोग होने से धर्म्म अर्थात् गुणों का भी अनादि संयोग होता है॥ २२॥

संयोग का स्वरूप कहने की इच्छा से अगला सूत्र प्रवृत्त होता है।

भा० का भा०—दृश्य का रूप जो ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में नष्ट होगया वही दूसरे पुरुषों की दृष्टि में विद्यमान है इससे उसे नष्ट हुआ नहीं कह सकते, किन्तु यही प्रतीत होता है कि दृक्शक्ति और दर्शन का संयोग अनादि है॥ २२॥

बाइसवाँ सूत्र—इन सब सूत्रों का सारांश यह है कि द्रष्टा, दर्शन और दृश्य यह तीनों भिन्न २ हैं तो भी अनेक कारणों से ऐसा संयोग हो रहा है जिस से वे सब अभिन्न जान पड़ते हैं और इनके संयोग के अज्ञान को ही भोग कहते हैं। अर्थात् जब तक मनुष्य को इन सब का यथार्थ ज्ञान नहीं होता तभी तक सांसारिक सुखों का भोग भी जान पड़ता है और जब इनका यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब सांसारिक भोग नष्ट हो जाते हैं। "नष्टे मोहे कः संसारः।" परन्तु एक मनुष्य को यथार्थ ज्ञान हो जाने से संसार भर का अज्ञान दूर नहीं हो सकता वरन् दूसरे मनुष्यों में बना रहता है इस से द्रष्टा और दृश्य का संयोग अज्ञानजन्य है॥ २२॥

भो० वृ०—यद्यपि विवेकख्यातिपर्य्यन्तात् भोगसम्पादनात्कमपि कृतार्थं पुरुषं प्रति तन्नष्टं विरतव्यापारं तथाऽपि सर्वपुरुषसाधारणत्वादन्यान् प्रत्यनष्टव्यापारमवतिष्ठते। अतः प्रधानस्य सकलभोक्तृसाधारणत्वान्न

कदाचिदपि विनाशः । एकस्य मुक्तौ वा न सर्वमुक्तिप्रसङ्ग इत्यु भवति ॥ २२ ॥ दृश्यद्रष्टारौ व्याख्याय संयोगं व्याख्यातुमाह—

भो० वृ० का भा०—यद्यपि भोग विवेकख्याति अर्थात् यथा ज्ञान पर्य्यन्त ही रहते हैं और पश्चात् नष्ट हो जाते हैं परन्तु भोग पुरुषों के प्रति साधारण रूप से रहते हैं इस कारण जिस के प्रति नष्ट हो जाते हैं वही मुक्त होता है और जिसके प्रति नष्ट नहीं होते वह बन्धन में रहता है अर्थात् एक जीव की मुक्ति से सब जीवों मुक्ति नहीं होती है ॥ २२ ॥ द्रष्टा और दृश्य का वर्णन करके संयोग वर्णन करते हैं—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

सूत्र का पदार्थ—(स्वस्वामिशक्त्योः) स्व अर्थात् दृश्य और स्वामी अर्थात् द्रष्टा शक्तियों के (स्वरूपोपलब्धिहेतुः) स्वरूप की प्राप्ति का जो कारण हो (संयोगः) उसे संयोग कहते हैं ॥ २३ ॥

सूत्र का भा०—द्रष्टा और दृश्य शक्तियों के स्वरूप की उपलब्धि का जो हेतु है उसे संयोग कहते हैं ॥ २३ ॥

व्या० दे० का भाष्य—पुरुषः स्वामी दृश्येन स्वेन दर्शनार्थं संयुक्तः । तस्मात् संयोगाद्दृश्यस्योपलब्धिर्या स भोगः । या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सोऽपवर्गः । दर्शनकार्यावसानः संयोग इति दर्शनं वियोगस्य कारणमुक्तम् । दर्शनमदर्शनस्य प्रतिद्वन्द्वीत्यदर्शनं संयोगनिमित्तमुक्तम् । नात्र दर्शनं मोक्षकारणमदर्शनाभावादेव बन्धाभावः स मोक्ष इति । दर्शनस्य भावे बन्धकारणस्यादर्शनस्य नाश इत्यतो दर्शनं ज्ञानं कैवल्यकारणमुक्तम् ।

किञ्चेदमदर्शनं नाम, किं गुणानामधिकार आहोस्विद्-दृशिरूपस्य स्वामिनो दर्शितविषयस्य प्रधानचित्तस्यानुत्पादः स्वस्मिन् दृश्ये विद्यमाने यो दर्शनाभावः । किमर्थवत्ता गुणानाम् । अथाविद्या स्वचित्तेन सह निरुद्धा स्वचित्तस्योत्पत्तिबीजम् । किं स्थितिसंस्कारक्षये गतिसंस्काराभिव्यक्तिः । यत्रेदमुक्तम् प्रधानं स्थित्यैव वर्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात् । तथा गत्यैव वर्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात् । उभयथा चास्य वृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथा । कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेव समानश्चर्चः । दर्शनशक्तिरेवादर्शनमित्येके, “ प्रधानस्याऽऽत्मख्या-पनार्था प्रवृत्तिः ” इतिश्रुतेः ।

सर्वं बोध्यबोधसमर्थः प्राक्प्रवृत्तेः पुरुषो न पश्यति सर्वं कार्यकरणसमर्थं दृश्यं तदा न दृश्यत इति । उभयस्याप्यदर्शनं धर्म इत्येके । तत्रेदं दृश्यस्य स्वात्मभूतमपि पुरुषप्रत्ययापेक्षं दर्शनं दृश्यधर्मत्वेन भवति । तथा पुरुषस्यानात्मभूतमपि दृश्यप्रत्ययापेक्षं पुरुषधर्मत्वेनैवादर्शनमवभासते । दर्शनं ज्ञानमेवादर्शनमिति केचिदभिदधति । इत्येते शास्त्रगता विकल्पाः । तत्र विकल्पबहुत्व-मेतत्सर्वपुरुषाणां गुणानां संयोगे साधारणविषयम् ॥ २३ ॥

यस्तुप्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः ।

भा० का प०—स्वामी अपने दृश्य से देखने के लिये संयुक्त होता है उस संयोग से जो दृश्य पदार्थों का ज्ञान होता है उसे भोग कहते हैं और जो द्रष्टा अर्थात् आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति होती है उसे मोक्ष कहते हैं । जहाँ दर्शन के कार्य का अन्त हो जाता है उसे संयोग कहते हैं । इस प्रकार दर्शन को वियोग का कारण कहते हैं । दर्शन अदर्शन का विपक्षी है इस लिए अदर्शन को संयोग का कारण कहा है । यहाँ पर दर्शन मोक्ष का कारण नहीं है । अदर्शन के अभाव ही

से बन्धन का जो अभाव होता है उसे मोक्ष कहते हैं। दर्शन की नि
मानता में बन्ध का कारण जो अदर्शन है उसका नाश हो जाता।
इसलिए दर्शन ज्ञान को कैवल्य का कारण कहा है।

क्या यह अदर्शन गुणों का अधिकार है अथवा द्रष्टारूप आ
के जिस चित्त ने विषय को देखा है उस प्रधान चित्त अर्थात् ज्ञान
उत्पन्न न होना है? अपने दृश्य के विद्यमान रहते भी जो दर्शन
अभाव होता है वह क्या गुणों की अर्थवत्ता से होता है अथवा जो अवि
अपने चित्त के संग निरुद्ध हो गई है वह अपने चित्त की उत्पत्ति
कारण है? क्या स्थिति के संस्कार क्षय हो जाने पर गति के संस्
प्रकट होते हैं? इस पर यह कहा जाता है प्रधान स्थिति के साथ वर्तमा
रह कर अविकारी होने से अप्रधान होता है। तैसे ही गति के स
विद्यमान नित्य विकारशील होने से अप्रधान होता है। उक्त दो
प्रकार से इसकी प्रवृत्ति प्रधानता को प्राप्त होती है अन्यथा नहीं। दे
कारणों की कल्पना करने पर भी यह समान विचारणीय होगा। दर्
शक्ति ही अदर्शन है ऐसा भी कोई कहते हैं। "प्रधान की आत्मख्
पनार्थ जो प्रवृत्ति है।" ऐसा श्रुति का मत है।

जानने योग्य जितने पदार्थ हैं उनके जानने में शक्तिमान् पु
प्रवृत्ति से पहले नहीं देखता सब कार्य्य करने में समर्थ दृश्य सब
नहीं दीखता इस लिए दोनों का भी अदर्शन धर्म है यह किसी का म
है। यहां पर दृश्य का (आत्मभूतमपि) तादात्म्य होने पर भी दर्
पुरुष प्रत्यय की अपेक्षा रखता हुआ दृश्यभाव को प्राप्त होता है तैसे
(पुरुषस्यानात्मभूतमपि) पुरुष से तादात्म्य न होने पर भी अदर्
दृश्यज्ञान की अपेक्षा रखता हुवा पुरुष धर्म के समान दर्शन का अभा
भान होता है, कोई दर्शन ज्ञान को ही अदर्शन कहते हैं यह सब शा
विकल्प हैं (तत्र विकल्पबहुत्वम्) शास्त्र के विकल्पों का बहुत्व पुरु
के और गुणों के संयोग में साधारण विषय है ॥ २३ ॥ और जो प्रत्
चैतन्य का अपनी बुद्धि से संयोग है।

भा० का भा०—आत्मा जो अपने रूप के देखने को प्रवृत्त होता है, परन्तु मध्य में जो पदार्थान्तरों का संयोग हो जाता है और उसकी वृत्तियां आगे नहीं बढ़ सकती हैं, उसको भोग कहते हैं और जो पुरुष को परमात्मा के स्वरूप की प्राप्ति है उसे मोक्ष कहते हैं। और जहाँ दर्शन रूप क्रिया का अन्त हो जाय उसे संयोग कहते हैं, किन्तु दर्शन ही वियोग का कारण है क्योंकि जब किसी का संयोग होता है तो उसका वियोग भी अवश्य होता है। ऐसे ही अदर्शन संयोग का हेतु कहाता है, इस शास्त्र में दर्शन को मोक्ष का कारण नहीं कहा है। अभिप्राय यह है कि जो २० और २१वें सूत्र में संयोग कहा था वह दृश्य पदार्थों के संयोग के समान नहीं है; किन्तु वह एक विलक्षण ही संयोग है ॥ २३ ॥

भो० वृ०—कार्यद्वारेणास्य लक्षणं करोति, स्वशक्तिदृश्यस्य स्वभावः। स्वामिशक्तिर्द्रष्टुः स्वरूपं, तयोर्द्वयोरपि संवेद्यसंवेदकत्वेन व्यवस्थितयोर्या स्वरूपोपलब्धिस्तस्याः कारणं यः स संयोगः। स च सहजभोग्यभोक्तृभावस्वरूपान्नान्यः। न हि तयोर्नित्ययोर्व्यापकयोश्च स्वरूपादतिरिक्तः कश्चित् संयोगः। यदेव भोग्यस्य भोग्यत्वं भोक्तुश्च भोक्तृत्वमनादिसिद्धं स एव संयोगः ॥ २३ ॥ तस्यापि कारणमाह—

भोजवृत्ति का भा०—कार्य्य द्वारा संयोग का लक्षण कहते हैं—दृश्य का स्वभाव स्वशक्ति अर्थात् इन्द्रियों का विषय रूप है और द्रष्टा का स्वभाव स्वामीपन वा अध्यक्षता है। इन दोनों शक्तियों में संवेद्य और संवेदक भाव सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध से जो दोनों का ज्ञान है उसको ही संयोग कहते हैं और वह संयोग स्वाभाविक है, भोग्य और भोक्ता दोनों ही नित्य हैं उनके स्वरूप के अतिरिक्त संयोग और कोई वस्तु नहीं है। भोग्य का भोग्यत्व है और भोक्ता का भोक्तृत्व ये दोनों अनादि सिद्ध हैं उसको ही संयोग कहते हैं ॥ २३ ॥ उस संयोग के कारण का वर्णन करते हैं—

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

सूत्र का पदार्थ—(तस्य) उस संयोग का (हेतुः) मूल (अविद्या) अविद्या है ॥ २४ ॥

सू० का भा०—उसका अर्थात् संयोग का हेतु अविद्या है ॥ २४ ॥

व्यास दे० का भाष्य—विपर्य्ययज्ञानवासनेत्यर्थः । विपर्य्ययज्ञानवासनावासिता च न कार्य्यनिष्ठां पुरुषख्यातिं बुद्धि प्राप्नोति, साधिकारा पुनरावर्तते । सा तु पुरुषख्यातिपर्य्यवसानं कार्य्यनिष्ठां प्राप्नोति, चरिताधिकारा निवृत्तादर्शना बन्धकारणाभावान्न पुनरावर्त्तते । अत्र कश्चित् षण्डकोपाख्यानेनोद्घाटयति—मुग्धया भार्य्ययाऽभिधीयते-षण्डकाऽऽर्य्यपुत्र, अपत्यवती मे भगिनी किमर्थं नाम नाहमिति, स तामाह–मृतस्तेऽहमपत्यमुत्पादयिष्यामीति । तथेदं विद्यमानं ज्ञानं चित्तनिवृत्तिं न करोति. विनष्टं करिष्यतीति का प्रत्याशा । तत्राऽऽचार्य्यदेशीयो वक्ति–ननु बुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षोऽदर्शनकारणाभावात् बुद्धिनिवृत्तिः । तच्चादर्शनं बन्धकारणं दर्शनान्निवर्तते । तत्र चित्तनिवृत्तिरेव मोक्षः किमर्थमस्थान एवास्य मतिविभ्रमः ॥ २४ ॥

हेयं दुःखं हेयकारणं च संयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तमतः परं हानं वक्तव्यम्—

भाष्य का प०—अविद्या अर्थात् मिथ्या ज्ञानवासना संयोग का हेतु है । मिथ्याज्ञानवासना से वासित बुद्धि कार्यनिष्ठ पुरुषख्याति को नहीं प्राप्त होती । अधिकार सहित पुनः आवर्त्तित होती है यह बुद्धि कार्यनिष्ठ पुरुष ज्ञान में स्थिर होती है जो कि अधिकारिणी है और अदर्शन जिसका निवृत्त हो गया है ऐसी बुद्धि बन्ध कारण के अभाव से पुनः आवर्त्तित नहीं होती । यहां कोई (षण्डकोपाख्यानेन) नपुंसक के

उपाख्यान से उद्घाटित करता है। किसी नपुंसक की भोली स्त्री अपने पति से कहती है, "स्वामिन्, मेरी बहन पुत्रवती है मैं क्यों नहीं?" वह उससे बोला "मैं मरकर तेरे पुत्र उत्पादन करूंगा।" तैसे ही यह विद्यमान ज्ञान चित्त की निवृत्ति नहीं करता किन्तु नष्ट हुआ करेगा, इसकी क्या प्रत्याशा है। यहाँ पर आचार्य्य का उपदेश दिया। शिष्य कहता है, "बुद्धि की निवृत्ति से ही मोक्ष होता है और अदर्शन कारण के अभाव से बुद्धि निवृत्त होती है। और वह अदर्शन बन्ध के कारण दर्शन से निवृत्त होता है तब चित्तकी निवृत्ति ही मोक्ष है तब क्यों यह अकालिक मतिभ्रम होता है?' २४ ॥

भा० का भा०—विपरीत ज्ञान को अविद्या कहते हैं। विपरीत ज्ञान की वासना से भरी हुई बुद्धि कार्य्यनिष्ठा व आत्मज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकती। अधिकार से युक्त न होने के कारण पुनः पतित हो जाती है। इस कारण से बुद्धि की वासना को निवृत्त करना योग्य है। इस स्थल पर कोई नपुंसक की कथा के अनुसार शंका करते हैं। अर्थात् नपुंसक की स्त्री ने अपने पति से पूछा कि "आर्यपुत्र, मेरी भगिनी तो सन्तान वाली है, मैं सन्तान वाली क्यों नहीं?" तब नपुंसक ने उत्तर दिया कि, 'मैं मरकर तुम्हारे सन्तान उत्पन्न करूंगा।' विचारने का स्थल है कि जब वह जीवित रहते ही सन्तान उत्पन्न न कर सका तो मरकर क्या करेगा? ऐसे ही यह वर्तमान ज्ञान तो चित्त की निवृत्ति न कर सका; किन्तु मरकर करेगा यह केवल दुराशा मात्र है। किन्तु इस विषय में एक आचार्य कहता है कि बुद्धि की निवृत्ति ही मोक्ष है क्योंकि उसमें अदर्शन के कारणों का अभाव नहीं होता और बुद्धि की निवृत्ति अदर्शन है किन्तु बन्ध कारण दर्शन से निवृत्त होता है इससे चित्तकी निवृत्ति ही मोक्ष है। यह भाष्यकार का मत है ॥ २४ ॥

भो० वृ०—या पूर्वं विपर्य्ययात्मिका मोहरूपाऽविद्या व्याख्याता

सा तस्य विवेकख्यातिरूपस्य संयोगस्य कारणं ॥२४॥ हेयं हानक्रिया-कर्मोच्यते। किं पुनस्तद्धानमित्याह—

भो० वृ० का भा०—पहले जो विपर्य्यय ज्ञानरूप अविद्या का वर्णन कर चुके हैं वही अविद्या विवेकख्याति रूप संयोग का कारण है और वही हानक्रिया का कर्म्म होने से हेय है ॥ २४ ॥

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

सूत्र का प०—(तदभावात्) उस दर्शन के अभाव से (संयोगाभावो हानम्) संयोग का न होना ही हान है। (तद्दृशेः कैवल्यम्) वह दर्शन का एकत्व है ॥ २५ ॥

सू० का भा०—दर्शन के अभाव से संयोग का नाश जिसे हान कहते हैं होता है और उससे मोक्ष होता है ॥ २५ ॥

व्यास दे० का भाष्य—तस्यादर्शनस्याभावात् बुद्धिपुरुष-संयोगाभाव आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थः। एतद्धानम्। तद्दृशेः कैवल्यं पुरुषस्यामिश्रीभावः पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः। दुःख-कारणनिवृत्तौ दुःखोपरमो हानं, तदा स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इत्युक्तम् ॥ २५ ॥ अथ हानस्य कः प्राप्त्युपाय इति—

भा० का पदा०—उस अदर्शन के अभाव से बुद्धि और आत्मा के संयोग का अभाव होता है अर्थात् बन्धन की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है उसे हान कहते हैं। वही कैवल्य होता है। पुरुष प्रकृति के गुणों से पृथक् होकर संयोगरहित हो जाता है। दुःखों के कारण के निवृत्त हो जाने से दुःख के नाश को हान कहते हैं तब समाधिस्थ पुरुष कहा जाता है ॥२५॥

भा० का भा०—जब दर्शन का अभाव हो जाता है तब बुद्धि

और आत्मा के संयोग का भी अभाव हो जाता है और बन्धन का नाश हो जाता है तथा पुरुष को कैवल्य अर्थात् गुणादि का विरह होता है। अभिप्राय यह है, कि दुःख की निवृत्ति को हान कहते हैं। उसके होने से पुरुष समाधिस्थ वा कैवल्य को प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

भो० वृ०—तस्या अविद्यायाः स्वरूपविरुद्धेन सम्यग् ज्ञानेन उन्मूलिताया योऽयमभावस्तस्मिन् सति तत्कार्य्यस्य संयोगस्याप्यभावस्तद्धानमित्युच्यते । अयमर्थः—नैतस्य मूर्त्तद्रव्यवत् परित्यागो युज्यते किन्तु जातायां विवेकख्यातौ अविवेकनिमित्तः संयोगः । स्वयमेव निवर्त्तत इति । तस्य हानम् । यदेव च संयोगस्य हानं तदेव नित्यं केवलस्याऽपि पुरुषस्य कैवल्यं व्यपदिश्यते ॥ २५ ॥ तदेवं संयोगस्य स्वरूपं कारणं कार्य्यञ्चाभिहितम् । अथ हानोपायकथनद्वारेणोपादेयकारणमाह—

भो० वृ० भाष्य—अविद्या के स्वरूप से विरुद्ध जो सम्यक् ज्ञान है उससे अविद्या का अभाव होता है, उस अभाव के होने से अविद्या से उत्पन्न हुआ जो द्रष्टा और दृश्य का संयोग है उसका भी अभाव हो जाता है। इस अभाव को हान कहते हैं, तात्पर्य यह है, कि अमूर्त्त अर्थात् रूपरहित वस्तु का विभाग नहीं हो सकता है। किन्तु जब विवेकख्याति उत्पन्न होती है तब अविवेक से उत्पन्न हुआ पूर्वोक्त संयोग आप ही नष्ट हो जाता है यही हान कहाता है। जो संयोग का हान है वही पुरुष का कैवल्य है ॥ २५ ॥ इसी रीति से दृश्य के संयोग का कारणरूप और कार्य कहा गया। आगे हानोपाय के कथन से ग्राह्य के कारण का वर्णन होगा—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

सूत्र का पदार्थ—(अविप्लवा विवेकख्यातिः) स्थिर विवेक ज्ञान (हानोपायः) हान का उपाय है ॥ २६ ॥

सूत्र का भा०—जिस ज्ञान का कभी नाश न हो वह ज्ञानप्राप्ति ज्ञान का उपाय है ॥ २६ ॥

व्या० दे० का भा०—सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः। सा त्वनिवृत्तमिथ्याज्ञाना प्लवते। यदा मिथ्याज्ञानं दग्धबीजभावं बन्ध्यप्रसवं सम्पद्यते तदा विधूतक्लेशरजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति। सा विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। ततो मिथ्याज्ञानस्य दग्धबीजभावोपगमः पुनश्चाप्रसव इत्येष मोक्षस्य मार्गो हानस्योपाय इति ॥ २६ ॥

भा० का प०—दृश्य बुद्धि से आत्मा भिन्न है यह ज्ञान विवेकख्याति कहलाता है और वह जब तक मिथ्या ज्ञान निवृत्त नहीं होता तब तक स्थिर नहीं होता। जब मिथ्याज्ञान दग्धबीज भाव को प्राप्त होकर उत्पन्न होने के अयोग्य हो जाता है तब रजोगुण के क्लेश नष्ट हो गये हैं जिनके सत्त्व गुण के परम प्रकाश में परम वशीकार संज्ञा में वर्तमान जो योगी, उसका विवेक ज्ञान का प्रवाह निर्मल हो जाता है। वह अविच्छिन्न विवेकख्याति होने का उपाय है तब मिथ्याज्ञान के बीजभाव का नाश होता है फिर उत्पन्न नहीं होता यह मोक्ष का मार्ग हान का उपाय है ॥ २६ ॥

भा० का भा०—दृश्य पदार्थों से और बुद्धि से आत्मा भिन्न है ऐसा विचार हो जिसमें वह ज्ञान विवेकख्याति कहलाता है और वह विवेकख्याति जब तक मिथ्या ज्ञान नष्ट नहीं होता, स्थिर नहीं होता। जब उसका प्रकाश होता है तब मिथ्याज्ञान स्वयं नष्ट हो जाता है। अर्थात् उसकी उत्पत्ति फिर नहीं होती। तब रजोगुण से उत्पन्न हुआ क्लेश नाश हो जाता है और सत्त्वगुण के प्रकाश से ज्ञान के प्रवाह में निर्मल हो जाता है, वही विवेकख्याति हान का उपाय है। जब मिथ्या ज्ञान के

बीज का नाश हो जाता है वह पुनः उत्पन्न नहीं होता यही मोक्ष का मार्ग और हानोपाय है ॥ २६ ॥

छब्बीसवाँ सूत्र—इस सूत्र में विवेकख्याति विशेष्य और अविप्लवा विशेषण है। अविप्लवा का अर्थ यह है "न विद्यते विप्लवो विच्छेदोऽन्तराऽन्तरा व्युत्थानरूपो यस्याः सा अविप्लवा।" तात्पर्य यह है कि अविद्या के नाश हो जाने पर कर्त्ता और भोक्तापन का अभिमान बुद्धि से जाता रहता है तब वह बाह्य विषयों को त्याग कर अन्तर्मुख हो जाता है। तब दृश्य का अधिकार निवृत्त हो जाता है तदनन्तर मोक्ष होता है। यही हान अर्थात् संसार त्याग का उपाय है ॥ २६ ॥

भो० वृ०—अन्ये गुणा अन्यः पुरुष इत्येवंविधस्य या ख्यातिः प्रख्या साऽस्य हानस्य दृश्यपरित्यागस्योपायः कारणम्। कीदृशी अविप्लवा न विद्यते विप्लवो विच्छेदोऽन्तराऽन्तरा व्युत्थानरूपो यस्याः साऽविप्लवा। इदमत्र तात्पर्यम्—प्रतिपक्षभावनाबलादविद्याप्रविलये विनिवृत्तकर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानाया रजस्तमोमलानभिभूताया बुद्धेरन्तर्मुखाया चिच्छाया संक्रान्तिः सा विवेकख्यातिरुच्यते। तस्यां च सन्ततत्वेन प्रवृत्तायां सत्यां दृश्यस्याधिकारनिवृत्तेर्भवत्येव कैवल्यम् ॥ २६ ॥

उत्पन्नविवेकख्यातेः पुरुषस्य यादृशी प्रज्ञा भवति तां कथयन् विवेकख्यातेरेव स्वरूपमाह—

भोजवृत्ति का भा०—गुण भिन्न है और आत्मा भी एक पृथक् पदार्थ है—इस विवेक ज्ञान को हान अर्थात् दुःखपरित्याग का उपाय वा कारण जानना चाहिए। वह विवेकख्याति कैसी है ? "नहीं है विप्लव अर्थात् विनाश जिसका।" अभिप्राय यह है कि अविद्या के विरोधी ज्ञान के उदय होने से रजोगुण और तमोगुण की जिन वृत्तियों से कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अभिमान बुद्धि को घेरे हुए है। उन वृत्तियों से बुद्धि रहित होकर अन्तर्मुख हो जाती है चैतन्य के आभास रूप विचार को विवेकख्याति कहते हैं। जब यह विवेक तत्त्वरूप विचार में प्रवृत्त रहती है

तब दृश्य का अधिकार निवृत्त हो जाने से पुरुष को कैवल्य होता है ॥ २६ ॥ जिसको विवेकख्याति उत्पन्न हुई है उस की बुद्धि का वर्णन करते हुए विवेकख्याति का रूप कहते हैं—

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

सूत्र का पदार्थ—(तस्य) पूर्वोक्त हानोपाय की (सप्तधा) सात प्रकार की (प्रान्तभूमिः) योगी के ज्ञान की भूमि (प्रज्ञा) बुद्धि है ॥ २७ ॥

सूत्र का भा०—पूर्व सूत्र में कहे हुए हानोपाय प्राप्त हुए योगी की सात प्रकार की बुद्धि है ॥ २७ ॥

व्या० दे० का भाष्य—तस्येति प्रत्युदितख्यातेः प्रत्याम्नायः। सप्तधेति अशुद्ध्यावरणमलापगमाच्चित्तस्य प्रत्ययान्तरानुत्पादे सति सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति। तद्यथा–परिज्ञातं हेयं नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति। क्षीणा हेयहेतवो न पुनरेतेषां क्षेतव्यमस्ति। साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानं। भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपाय इति। एषा चतुष्टयी कार्या विमुक्तिः प्रज्ञायाः। चित्तविमुक्तिस्तु त्रयी चरिताधिकारा बुद्धिः। गुणा गिरिशिखरतटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति। न चैषां प्रविलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति। एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुष इति। एतां सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन्पुरुषः कुशल इत्याख्यायते। प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति गुणातीतत्वादिति ॥२७॥ सिद्धा भवति विवेकख्यातिर्हानोपाय इति, न च सिद्धिरन्तरेण साधनमित्येतदारभ्यते।

भा० का पदा०—जिस योगी का विवेक उदय हो गया है, एवं अशुद्धि, आवरण और मल के दूर होने से जिस २ का चित्त ज्ञेय के अतिरिक्त दूसरे किसी ज्ञान को उत्पन्न करने में असमर्थ है। उसकी सात प्रकार की बुद्धि होती है जब ज्ञेय को इसने जान लिया फिर जानने योग्य कोई पदार्थ नहीं रहता है। हेय के हेतु क्षीण हो जाते हैं। पुनः विवेकी को क्षीण करने योग्य कुछ नहीं रहता है। निरोध समाधि से इसने ज्ञान का साक्षात्कार किया है। एवं विवेकख्याति रूप हानोपाय को भी जान लिया है। यह चार प्रकार की कार्यविमुक्ति प्रज्ञा है और चित्त विमुक्ति तो तीन प्रकार की है। पहिली अधिकरण बुद्धि, दूसरी में वे सत्वादि गुण हैं जो पर्वत के शिखर से गिरे हुवे समस्त गुण गिरि शिखर पत्थरों के समान स्थिर नहीं रह सकते; किन्तु साधारण में लीन होने के लिये पतन क्रिया के साथ ही नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। कारण में लीन हुवे इनकी फिर उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि फिर उनकी उत्पत्ति का प्रयोजन ही नहीं रहता इस अवस्था में गुणों के सम्बन्ध से रहित शेष रहता है और यही चित्त विमुक्ति की तीसरी अवस्था है। प्रकाशरूप वाला निर्मल शुद्ध आत्मा पूर्वोक्त सात प्रकार की अवस्थाओं में बुद्धि को देखता हुआ पुरुष ज्ञानी कहाता है। चित्त की पुनः उत्पत्ति होने पर भी गुणातीत होने से मुक्त जीव ज्ञानी ही रहता है ॥२७॥ इस रीति से सिद्ध होता है कि विवेकख्याति ही हानोपाय है। साधन के बिना सिद्धि नहीं होती, अतएव सब साधनों का वर्णन किया जाता है।

भा० का भा०—उक्त ज्ञान की सात प्रकार की अवस्था है, जिनको भूमिका कहते हैं। उन में से प्रथम वर्ग की जिसमें चार भूमिका हैं कार्यविमुक्तिसंज्ञा है और दूसरे वर्ग की जिसमें तीन अवस्था हैं चित्त-विमुक्ति संज्ञा है। इनमें से प्रथम अवस्था जिस योगी को प्राप्त होती है। उसको यह चिन्तन होता है कि पूर्व काल में मुझे बहुत ही ज्ञातव्य था; किन्तु अब मुझे कुछ ज्ञातव्य नहीं है अर्थात् ज्ञेयशून्य है। दूसरी अवस्था

में प्राप्त होने से योगी को यह मालूम होता है कि पूर्वकाल में मुझे कामादि अनेक हेय थे; परन्तु अब मुझको कुछ हेय नहीं। तीसरी अवस्था में अस्थिर होने से योगी को प्रतीत होता है, कि अब मुझे किसी वस्तु का प्राप्त करना अवशिष्ट नहीं है, सब कुछ मुझे प्राप्त हो गया है। चतुर्थ भूमिका है जिसमें योगी को यह ज्ञान प्राप्त होता है, कि मैंने सम्प्रज्ञात समाधि से विवेकख्याति की भावना प्राप्त करली अब मुझे भावनीय कोई पदार्थ नहीं रहा। यह चारों कार्यविमुक्ति कहलाती हैं। चित्तविमुक्ति अवस्थाओं में स्थिर होने से योगी को यह ज्ञान होता है, कि पूर्वकाल में मैं अनेक बुद्धिजन्य दुःखों से ग्रस्त था, किन्तु अब मेरे सब दुःख दूर हो गये, दूसरी भूमिका में प्राप्त होने से योगी को यह परिज्ञान होता है, कि मेरे अन्तःकरण के गुण दग्धबीज हो गये हैं अब पुनः उनकी उत्पत्ति नहीं होगी। जब योगी तृतीय भूमिका अथवा सप्तम भूमिका में प्राप्त होता है तब उसका चित्त और बुद्धि लय होते हैं उस अवस्था को केवल कहते हैं ॥ २७ ॥

भो० वृ०—तस्योत्पन्नविवेकज्ञानस्य ज्ञातव्यविवेकरूपा प्रज्ञा प्रान्तभूमौ सकलसालम्बनसमाधिपर्य्यन्तं सप्तप्रकारा भवति। तत्र कार्यविमुक्तिरूपा चतुष्प्रकारा—ज्ञातं मया ज्ञेयं न ज्ञातव्यं किञ्चिदस्ति. क्षीणा मे क्लेशा न किञ्चित् क्षेतव्यमस्ति अधिगतं मया ज्ञानं प्राप्ता मया विवेकख्यातिरिति। प्रत्ययान्तरपरिहारेण तस्यामवस्थायामीदृश्येव प्रज्ञा जायते। ईदृशी प्रज्ञा कार्यविषयं निर्म्मलं ज्ञानं कार्य्यविमुक्तिरित्युच्यते। चित्तविमुक्तिस्त्रिधा-चरितार्था मे बुद्धिगुणा हृताधिकारा गिरिशिखरनिपतिता इव ग्रावाणो न पुनः स्थितिं यास्यन्ति स्वकारणे प्रविलयाभिमुखानां गुणानां मोहाभिधानमूलकारणाभावान्निष्प्रयोजनत्वाच्चामीषां कुतः प्ररोहो भवेत्। सात्मीभूतश्च मे समाधिः तस्मिन् सति स्वरूपप्रतिष्ठोऽहमिति। ईदृशी त्रिप्रकारा चित्तविमुक्तिः। तदेवमीदृश्यां सप्तविधप्रान्तभूमिप्रज्ञायामुपजातायां पुरुषः केवल इत्युच्यते ॥ २७ ॥

विवेकख्यातिः संयोगाभावहेतुरित्युक्तं, तस्यास्तूत्पत्तौ किं निमित्त-मित्याह।

भो० वृ० का भा०—जिसको विवेक ज्ञान उत्पन्न हुआ है उनको जानने योग्य विवेक रूपी बुद्धिभूमि में सब आलम्बन रूपी अवस्था समाधि पर्य्यंत सात होती हैं। उनमें से कार्य्यविमुक्त संज्ञक प्रथम की चार भूमियों की प्राप्ति से योगी को यह मालूम होता है कि ज्ञेय को मैंने जाना है, अब ज्ञातव्य कुछ शेष नहीं रहा है। मेरे क्लेश क्षीण हो गए हैं अब क्षेतव्य कुछ नहीं रहा है, मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है. विवेकख्याति मुझे प्राप्त हुई है। इस अवस्था में ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है इस ही को निर्मल ज्ञानवाली बुद्धि कहते हैं। इस ही को कार्यविमुक्ति अवस्था वा भूमिका कहते हैं। चित्तविमुक्ति तीन प्रकार की है, मेरी बुद्धि चरितार्थ हुई अर्थात् मेरी बुद्धि अपने कार्य को कर चुकी है, गुणों के अधिकार समाप्त हो गये अर्थात् मेरे रजोगुणादि के अधिकार नष्ट हो गए हैं। जैसे पहाड़ के शिखर से गिरा पत्थर फिर पहाड़ के शिखर पर नहीं पहुँचेगा; ऐसे ही अपने कारण में लय हो जाने वाले गुणों का कारण जो मोह है उसका अभाव होने से सब गुण निष्प्रयोजन हो जाते हैं फिर वह किस प्रकार से उत्पन्न हो सकते हैं? मेरी समाधि ठीक हो गई है मैं इस ही अवस्था में अपने रूप में स्थित हूं। इसको चित्तविमुक्ति कहते हैं। जब यह सात प्रकार की भूमिका प्राप्त हो जाती है तब पुरुष को मुक्त वा कैवल्य प्राप्त कहते हैं॥ २७॥ विवेकख्याति संयोग के अभाव का हेतु है, यह कहा परन्तु विवेकख्याति की उत्पत्ति का क्या कारण है? इसका अगले सूत्र में उत्तर कहेंगे—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्ति-राविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

सूत्र का पदार्थ—(योगांगानुष्ठानात्) योग के जो आठ अङ्ग हैं उन के करने से (अशुद्धिक्षये) मलिनता नाश हो जाती है और उस से (ज्ञानदीप्तिः) ज्ञान का प्रकाश होता है (आविवेकख्यातेः) विवेकख्याति प्राप्त होने तक ॥ २८ ॥

सूत्र का भा०—योग के अङ्गों का क्रमशः अनुष्ठान करने से ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति की प्राप्ति होने तक होता है ॥ २८ ॥

व्या० दे० का भा०—योगाङ्गान्यष्टावभिधायिष्यमाणानि। तेषामनुष्ठानात्पंचपर्वणो विपर्य्ययस्याशुद्धिरूपस्य क्षयो नाशः। तत्क्षये सम्यक् ज्ञानस्याभिव्यक्तिः । यथा यथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते यथा यथा च क्षीयते तथा तथा क्षयक्रमानुरोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्विवर्धते। सा खल्वेषा विवृद्धिः प्रकर्षमनुभवत्या विवेकख्यातेः, आगुणपुरुषस्वरूपविज्ञानादित्यर्थः। योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणम् । यथा परशुश्छेद्यस्य ; विवेकख्यातेस्तु प्राप्तिकारणं यथा धर्मः सुखस्य नान्यथा कारणम् । कति चैतानि कारणानि शास्त्रे भवन्ति । नवैवेत्याह तद्यथा—उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः । वियोगान्यत्वधृतयः 'कारणं नवधास्मृतमिति ।"

तत्रोत्पत्तिकारणं मनो भवति विज्ञानस्य स्थितिकारणं मनसः पुरुषार्थता, शरीरस्येवाऽऽहार इति। अभिव्यक्तिकारणं यथा रूपस्याऽऽलोकस्तथा रूपज्ञानं, विकारकारणं मनसो विषयान्तरम् यथाऽग्निः पाक्यस्य । प्रत्ययकारणं धूमज्ञानमग्निज्ञानस्य। प्राप्तिकारणम् योगांगानुष्ठानं विवेकख्यातेः। वियोगकारणं तदेवाशुद्धेः। अन्यत्वकारणं यथा सुवर्णस्य सुवर्णकारः। एवमेकस्य स्त्रीप्रत्ययस्याविद्या मूढत्वे द्वेषो दुःखत्वे रागः सुखत्वे तत्वज्ञानं

माध्यस्थ्ये धृतिकारणं शरीरमिन्द्रियाणाम्। तानि च तस्य। महाभूतानि शरीराणां, तानि च परस्परं सर्वेषां तैर्यग्यौनमानुष-दैवतानि च परस्परार्थत्वादित्येवं नव कारणानि। तानि च यथासम्भवम्पदार्थान्तरेष्वपि योज्यानि। योगाङ्गानुष्ठानं तु द्विधैव कारणत्वं लभत इति ॥ २८ ॥ तत्र योगांगान्यवधार्यन्ते।

भा० का प०—योग के अङ्ग जिनका आगे वर्णन किया जायगा आठ हैं। उनका अनुष्ठान करने से पाँच भाग वाले मिथ्या ज्ञान का नाश हो जाता है। उसके नाश हो जाने से यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है और जैसे जैसे साधन किये जाते हैं तैसे तैसे मल न्यून होता जाता है और जैसे जैसे अपवित्रता नाश होती जाती है तैसे ही तैसे क्षय क्रम के अनुसार ज्ञान का भी प्रकाश बढ़ता जाता है। यह ज्ञान की वृद्धि विवेक-ख्याति अर्थात् गुण और पुरुष के स्वरूप ज्ञान होने तक उत्कृष्टता को प्राप्त होती है। योगांगों का अनुष्ठान अपवित्रता के नाश का कारण है, जैसे फरसा काष्ठ के उच्छेद का कारण है तथा विवेकख्याति के प्राप्ति का कारण है जैसे धर्म के अतिरिक्त सुख का कारण अन्य कोई नहीं है। शास्त्र में कितने कारण होते हैं? नौ होते हैं, जिन के नाम ये हैं—एक उत्पत्ति, दो स्थिति, तीन अभिव्यक्ति, चार विकार, पाँच प्रत्यय, छह प्राप्ति, सात वियोग, आठ अन्यत्व और नौवाँ धृति।

यह नव प्रकार के कारण शास्त्र में कहे हैं। उन में से ज्ञान की उत्पत्ति का कारण मन है। मन की पुरुषार्थता स्थिति का कारण है, जैसे शरीर का कारण आहार है। अभिव्यक्ति का कारण रूप ज्ञान है, जैसे रूप का प्रकाश। विकार का कारण मन का विषयान्तर में जाना है। जैसे अग्नि पाक के विकार का कारण है। धुयें का ज्ञान अग्नि ज्ञान के प्रत्यय का कारण है। योगांगों का अनुष्ठान विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण है और यही अशुद्धि के वियोग का भी कारण है। अन्यत्व कारण है, जैसे सुवर्ण का सुनार इस ही प्रकार से एक ही प्रत्यय में अविद्या

मोह का कारण होती है। द्वेष दुःख का कारण होता है, राग सुख का और तत्त्वज्ञान वैराग्य का कारण होता है। शरीर, इन्द्रियों का धृति कारण है और इन्द्रियां शरीर की तथा महाभूत शरीरों के मनुष्य योनि और देवयोनि का कारण है। इस प्रकार एक दूसरे के सहायक परस्पर ये नव हैं। जहाँ जहाँ सम्भव हो अन्य पदार्थों में भी लगाने चाहियें। योगांग के अनुष्ठान तो दो ही प्रकार के कारण भाव को प्राप्त करते हैं ॥ २८ ॥

भा० का भा०—योग के अङ्ग जिनका आगे वर्णन किया जायगा उनका अनुष्ठान करने से पञ्चपर्वा अविद्या नष्ट होती है। उससे अपवित्रता का क्षय होता है और अपवित्रता के नाश होने से ज्ञान की प्राप्ति होती है। योगी जैसे २ जपादि का अनुष्ठान करता है वैसे ही मलिनता क्षय होती है और मलिनता क्षय के क्रम से ही ज्ञानोदय होता जाता है। वह ज्ञान क्रम से उत्कृष्ट होता जाता है जिस प्रकार से सुख का कारण केवल धर्म्म है ऐसे ही मोक्ष प्राप्ति का यह योगांग कारण है ॥२८॥

भो० वृ०—योगाङ्गानि वक्ष्यमाणानि तेषामनुष्ठानात् ज्ञानपूर्वकादभ्यासादाविवेकख्यातेरशुद्धिक्षये चित्तसत्त्वस्य प्रकाशावरणरूपक्लेशात्मिकाशुद्धिक्षये या ज्ञानदीप्तिस्तारतम्येन सात्त्विकः परिणामो विवेकख्यातिपर्य्यन्तः स तस्याः ख्यातेर्हेतुरित्यर्थः ॥२८॥ योगाङ्गानामनुष्ठानादशुद्धिक्षय इत्युक्तम्, कानि पुनस्तानि योगाङ्गानि इति तेषामुद्देशमाह—

भो० वृ० का भा०—जिन योग के अङ्गों का वर्णन किया जायगा उनके साधन अर्थात् ज्ञानपूर्वक अभ्यास से विवेकख्याति प्राप्त होती है और उससे अशुद्धि का क्षय हो जाता है। ज्ञान का प्रकाश होने से सात्त्विक परिणाम विवेकख्याति तक रहता है वही परिणाम विवेकख्याति का हेतु है ॥ २८ ॥

इस सूत्र में यह है कि योग के अङ्गों के साधन से अशुद्धि क्षय

होती है परन्तु यह योग के अङ्ग कौन हैं? इसका वर्णन अगले सूत्र में करेंगे --

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा-ध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

सूत्र का पदार्थ---यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के यह आठ अङ्ग हैं ॥ २९ ॥

सूत्र का भा०---यमादिक योग के आठ अङ्ग हैं ॥ २६ ॥

व्या० दे० का भा०---यथाक्रममेषामनुष्ठानं स्वरूपञ्च वक्ष्यामः ॥ २६ ॥ तत्र--

भा० का प०---क्रम से इनका अनुष्ठान और लक्षण आगे कहेंगे ॥ २६ ॥

भा० का भा०---यमादि योग के आठ अङ्गों के लक्षण आगे कहेंगे ॥ २६ ॥

उनतीसवाँ सूत्र---इन अंगों से कुछ अंग योग के साक्षात् साधन हैं और कुछ परम्परा सम्बन्ध से योग में सहायता देते हैं, जैसे यम और नियम चित्त में निर्मलता उत्पन्न करते हैं और चित्त शुद्ध होने से योग में रुचि बढ़ती है; परन्तु यम साक्षात् समाधि के साधक नहीं हैं। इस ही से इन्हें योग का बहिरंग साधन कहना उचित है और प्राणायामादिक साक्षात् योग के साधन हैं। अतएव अन्तरंग साधन कहे जाते हैं ॥ २६ ॥

भो० वृ०--इह कानिचित् समाधेः साक्षादुपकारकत्वेनान्तरङ्गाणि, यथा धारणादीनि। कानिचित् प्रतिपक्षभूतहिंसादिवितर्कोन्मूलन द्वारेण

समाधिमुपकुर्वन्ति। यथा यमनियमादीनि। तत्राऽऽसनादीनामुत्तरोत्तरमुपकारकत्वं। तद्यथा—सत्यासनजये प्राणायामस्थैर्य्यम्। एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ॥२९॥

क्रमेणैषां स्वरूपमाह—

भो० वृ० का भा०—इनमें से कोई अङ्ग योग के साक्षात् उपकारक होने से अन्तरङ्ग हैं। जैसे धारणादिक कोई हिंसादि के प्रतिपक्षी होने से वितर्क के नाशक होने के कारण योग में उपकारक होते हैं जैसे यम नियमादि आसनादिक परम्परा से योग के साधक हैं, जैसे आसन के जीतने के पश्चात् प्राणायाम, स्थित होता है। ऐसे ही योग के और अङ्गों को भी समझना चाहिये ॥ २९ ॥

योग के अङ्गों का क्रम से लक्षण करते हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

सूत्र का पदार्थ—(अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः) सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अर्थात् विषयों का संग्रह न करना यम हैं ॥ ३० ॥

सूत्र का भा०—यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ॥ ३० ॥

व्या० दे० का भा०—तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते। तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते। तथा चोक्तम्—स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति।

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे । यथा दृष्टं यथाऽनुमितं तथा वाङ्मनश्चेति । परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदिति । एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय । यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत्तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमः प्राप्नुयात् । तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् ।

स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति । ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः । विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः ॥ ३० ॥ ते तु—

भा० का पदा०—उक्त यमों में से अहिंसा उसे कहते हैं जो सब प्रकार से सब काल में प्राणिमात्र का अनिष्ट चिन्तन न करे और अगले यम और नियम इस से ही होते हैं उसकी सिद्धि के लिए ही और यमादि प्रतिपादित किये जाते हैं । उसको निश्चल और निर्मल करने के लिये ग्रहण किये जाते हैं ऐसा ही अन्यत्र कहा है । यह ब्रह्म का जानने वाला योगी जैसे २ बहुत से व्रतों को धारण करने की इच्छा करता है तैसे ही तैसे प्रमाद से किये हुये हिंसा के कारण रूप पापों से निवृत्त होकर उस ही निर्म्मल रूपवाली अहिंसा को धारण करता है ।

अब सत्य को कहते हैं, जिसमें मन और वाणी यथार्थ रहे जैसा देखा हो जैसा अनुमान किया हो वैसा ही अपने मन और वाणी को रखना । दूसरे मनुष्य में अपने ज्ञान को जतलाने के लिए जो वचन कहा जाय वह वाक्य न छल कपट भरा, न भ्रम देने वाला और न निरर्थक हो । वह वाणी सब प्राणियों के उपकार के वास्ते कही गई हो किन्तु प्राणियों के नाश के वास्ते न कही गई हो । यदि वह कहा हुआ वाक्य प्राणियों का उत्पीडक हो तो वह सत्य नहीं होगा । उसके अनुसार

आचरण करने से पाप ही होता है। पुण्याभास अर्थात् जो पुण्य के नाम से स्वार्थसाधन किया जाता है और अपुण्य के कृत्य से कष्ट पाता है। इस लिए परीक्षा कर के जिस में सब प्राणियों का हित हो ऐसा सत्य ही बोले।

चोरी उसको कहते हैं, कि निषिद्ध रीति से दूसरे का द्रव्य लेना। उस के निषेध को अस्तेय कहते हैं। तृष्णा से भी चोरी होती है इस लिए तृष्णा का त्याग भी अस्तेय है। ब्रह्मचर्य का अर्थ यह है, कि लिंगेन्द्रिय का निरोध करना अर्थात् वीर्यरक्षा। विषयों का संग्रह करने में फिर उनकी रक्षा करने में और उनके नाश सर्वत्र हिंसारूप दोष को देखकर जो विषयों का त्याग है, उसे अपरिग्रह कहते हैं॥ ३०॥

आ० का भा०—अहिंसा उसे कहते हैं, जो किसी प्रकार किसी काल में भी किसी प्राणी से शत्रुता न करना यह अहिंसा अन्य चार यमों की मूल है, क्योंकि अहिंसा के सिद्ध करने को ही अन्य यमादि किये जाते हैं। सत्य उसे कहते हैं, कि जैसा अपना दृष्ट वा अनुमित विषय हो वैसा ही प्रकाशित करना और जिसे उपदेश करना उसे निष्कपट निर्भ्रान्त ऐसे शब्दों में करना जिन से उसे बोध हो जाय जिस में प्राणियों का द्वेष हो वह सत्य नहीं है और जो पुण्याभास है उससे धर्म नहीं होता किन्तु पाप ही होता है। इस लिए सावधानी से सत्य की परीक्षा करके वचन बोलना उचित है। अस्तेय का अर्थ है, कि शास्त्र विरुद्ध रीति से किसी के धन को ग्रहण न करना जो इन्द्रियों का निरोध किया जाता है, उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। विषयों को जो दोषदृष्टि से त्यागना है, उसे अपरिग्रह कहते हैं। यह पाँच यम हैं॥ ३०॥

भो० वृ०—तत्र प्राणवियोगप्रयोजनव्यापारो हिंसा। सा च सर्वानर्थ हेतुः। तदभावोऽहिंसा। हिंसायाः सर्वप्रकारेणैव परिहार्य्यत्वात् प्रथमं तदभावरूपाया अहिंसाया निर्देशः। सत्यं वाङ्

मनसोर्यथार्थत्वम् । स्तेयं परस्वापहरणं तदभावोऽस्तेयम् । ब्रह्मचर्य्यमुपस्थसंयमः । अपरिग्रहो भोगसाधनानामनङ्गीकारः । तत्र एतेऽहिंसादयः पञ्च यमशब्दवाच्या योगांगत्वेन निर्दिष्टाः ॥ ३० ॥ एषां विशेषमाह—

भो० वृ० का भा०—इन में हिंसा का अर्थ यह है, कि किसी प्राणी के शरीर को प्राण से जुदा कर देने के प्रयोजन से जो क्रिया की जाती है उसे हिंसा कहते हैं । यह हिंसा सब अनर्थों का हेतु है । उसके अभाव को अहिंसा कहते हैं क्योंकि अहिंसा में सब प्रकार की हिंसा निवृत्त हो जाती है । इस ही कारण प्रथम अहिंसा का वर्णन किया गया है । सत्य का अर्थ यह है कि वाणी और मन को ठीक रखना । चोरी का अर्थ यह है, कि पराये धनको छीन लेना और उसके अभाव को अस्तेय कहते हैं । ब्रह्मचर्य्य का अर्थ यह है, कि लिंग इन्द्रिय को वश में रखना । अपरिग्रह का अर्थ यह है, कि भोग साधन की सामग्रियों को ग्रहण न करना । योग के अंगों में से अहिंसादिक पाँच योग के अङ्ग कहाते हैं ॥ ३० ॥ इनका विशेष वर्णन करते हैं । ते तु—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

सूत्र का पदार्थ—(जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः) जाति, देश काल और समय से अनाव्रत (सार्वभौमा) सर्व पृथिवी और सब विषयों में पालन करना (महाव्रतम्) महाव्रत है ॥ ३१ ॥

सूत्र का भा०—जाति, देश, काल और समय में आबद्ध न होकर इन यमों का सर्वथा परिपालन करना महाव्रत कहाता है ॥ ३१ ॥

व्यास दे० का भाष्य—तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना मत्स्य-

वधकस्य मत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा। सैव देशावच्छिन्ना न तीर्थे हनिष्यामीति। सैव कालावच्छिन्ना न चतुर्दश्यां न पुण्येऽहनि हनिष्यामीति। सैव त्रिभिरुपरतस्य समयावच्छिन्ना देवब्राह्मणार्थे नान्यथा हनिष्यामीति। यथा च क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति। एभिर्जातिदेशकालसमयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव परिपालनीयाः। सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविदितव्यभिचाराः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यन्ते ॥ ३१ ॥

भा० का पदा०—(तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना) उनमें से जाति के अनुसार अहिंसा यह है कि मछली पकड़ने वाले की हिंसा केवल मछलियों के मारने में है अन्यत्र नहीं। वही हिंसा देशसम्बन्धिनी होती है। (न तीर्थे हनिष्यामीति) तीर्थ स्थान मे हिंसा न करूंगा—ऐसी कालसम्बन्धिनी होती है। चतुर्दशी को या और किसी पुण्यतिथि में हत्या न करूंगा, इन तीनों से जो विरक्त हो उसे समय सम्बन्धिनी कहते हैं। देवता ब्राह्मण के वास्ते हिंसा करूंगा और ऐसे ही क्षत्रियों की युद्ध ही में हिंसा होती है अन्यत्र नहीं। इन जाति, देश, काल और समयों से असम्बन्धित अहिंसादि यम सब प्रकार से पालन करने योग्य हैं। सब अवस्थाओं में सब विषयों में सब प्रकार से जिसमें व्यभिचार न हो, वह सार्वभौम महाव्रत कहाता है ॥ ३१ ॥

भा० का भा०—जात्यवच्छिन्न हिंसा वह कहाती है, जो जाति से सम्बन्ध रखती हो जैसे मछुआ जाति में मछली मारना, देश सम्बन्धिनी हिंसा वह है जो किसी देश के उद्देश से की जाय, ऐसे ही काल और समय सम्बन्धिनी भी हैं इनसे सर्वथा निवृत्त होने को सार्वभौम महाव्रत कहते हैं ॥ ३१ ॥

इकतीसवाँ सूत्र—जाति ब्राह्मणत्व अर्थात् ब्राह्मणों को न मारूंगा ऐसे ही अमुक तीर्थ वा चतुर्दशी के दिन हत्या न करूंगा

अथवा देवताओं के निमित्त ही हत्या करूंगा। इस पक्षपात को त्याग कर ऐसी प्रतिज्ञा करना कि मैं कभी किसी प्रयोजन के वास्ते भी किसी को नहीं मारूंगा। ऐसे ही सत्य बोलने, चोरी न करने आदि के प्रण को सार्वभौम महाव्रत कहते हैं। यहाँ पर सार्वभौम का अर्थ उक्त सात प्रकार की भूमियों में स्थिर रहने वाला है॥ ३१ ॥

भो० वृ०—जातिर्ब्राह्मणत्वादिः। देशस्तीर्थादिः। कालश्चतुर्दश्यादिः। समयो ब्राह्मणप्रयोजनादिः। एतैश्चतुर्भिरनवच्छिन्नाः पूर्वोक्ता अहिंसादयो यमाः सर्वासु क्षिप्तादिषु चित्तभूमिषु भवा महाव्रतमित्युच्यते। तद्यथा-ब्राह्मणं न हनिष्यामि, तीर्थे न कंचन हनिष्यामि; चतुर्दश्यां न हनिष्यामि, देवब्राह्मणप्रयोजनव्यतिरेकेण कमपि न हनिष्यामीति। एतच्चतुर्विधावच्छेदव्यतिरेकेण किञ्चित्क्वचित्कदाचित्कस्मिंश्चिदर्थे न हनिष्यामीत्यनवच्छिन्ना। एवं सत्यादिषु यथायोगं योज्यम्। इत्थमनियतीकृताः सामान्येनैव प्रवृत्ता महाव्रतमित्युच्यते न पुनः। परिच्छिन्नावधारणम्॥ ३१ ॥ नियमानाह—

भो० वृ० का भा०—जाति का अर्थ ब्राह्मणत्व आदि है। न्यायदर्शन में जाति के दो लक्षण लिखे हैं एक "समानप्रसवाऽऽत्मिका जातिः" अर्थात् जिन समस्त व्यक्तियों में किसी विशेष गुण के कारण देखने वालों को समान बुद्धि उत्पन्न हो उसे जाति कहते हैं। जैसे गोत्वधर्म्मावच्छिन्न समस्त व्यक्ति गौ कहलाती हैं। ऐसे ही ब्राह्मणत्व गुणविशिष्ट मनुष्य ब्राह्मण जाति के कहलाते हैं। दूसरा लक्षण "साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः" लिखा है। इस का अर्थ भी यही है, कि साधर्म्य और वैधर्म्य से जिसका निर्णय होता है उसे जाति कहते हैं। देश का अर्थ स्थान विशेष जैसे काशी आदि है। काल का अर्थ चतुर्दशी आदि है। समय का अर्थ दिन का कोई भाग सन्ध्या आदि है। इन सब के सम्बन्ध से रहित जो अहिंसादि यमों का पालन करना है उसे सार्वभौम महाव्रत कहते हैं अर्थात् क्षिप्त वा मूढ़ आदि किसी अवस्था में भी

इन का परित्याग न करना। तात्पर्य्य यह है, कि ब्राह्मण को न मारूंगा, तीर्थ में हत्या न करूंगा, चतुर्दशी को किसी प्राणी का वध न करूंगा, देवता ब्राह्मण के हित साधन के अतिरिक्त हत्या न करूंगा इत्यादि चार प्रकार के प्रयोजन से युक्त जो हत्या है उनको जात्यवच्छिन्न, देशावच्छिन्न, कालावच्छिन्न और समयावच्छिन्न हत्या कहते हैं और किसी प्राणी का वध न करूंगा, किसी स्थान में भी हत्या न करूंगा, किसी दिन वा समय में भी हत्या न करूंगा और किसी प्रयोजन से भी हत्या न करूंगा। इस व्रत के धारण करने को सार्वभौम कहते हैं, ऐसे ही यमों को भी समझना चाहिये ॥३१॥ अगले सूत्र में नियमों का वर्णन करेंगे–

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

सूत्र का पदार्थ—(शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि) शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान (नियमाः) ये पांच नियम कहाते हैं ॥ ३२ ॥

सू० का भा०—शौच, आदि नियम कहाते हैं ॥ ३२ ॥

व्या० दे० का भाष्य—तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्। सन्तोषः सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। तपो द्वन्द्वसहनं। द्वन्द्वाश्च जिघत्सापिपासे शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च। व्रतानि चैषां यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनादीनि। स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा, स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः   स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी॥

यत्रेदमुक्तं ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्चेति॥ ३२॥ एतेषां यमनियमानाम्—

भा० का प०—अब शौच का अर्थ करते हैं, मट्टीजलादि से अथवा पवित्र आहारादि से बाह्य शौच होता है और चित्त मलों के प्रक्षालन से आभ्यन्तर। प्राप्त साधन से अधिक की इच्छा न करना सन्तोष कहाता है। द्वन्द्व सहन का नाम तप है। भूख प्यास, सर्दी, गर्मी, स्थान, आसन, काष्ठ मौन और आकार मौन* को द्वन्द्व कहते हैं—यथा कृच्छ्रचान्द्रायण और सान्तपन व्रत आदि कहलाते हैं। मोक्षशास्त्रों का पढ़ना अथवा प्रणव का जप स्वाध्याय कहलाता है। ईश्वर में सब कर्म्मों का अर्पण करदेना ईश्वरप्रणिधान है। शय्या वा आसन पर बैठा या चलता या स्वस्थ, गतवितर्कजाल संसार के बीज को नष्ट देखता हुआ नित्य मुक्त और मोक्षभागी होता है। जहाँ यह कहा जाता है वहाँ परमात्मा के ज्ञान की प्राप्ति होती है और विघ्नों का नाश होता है॥३२॥

भा० का भा०—मट्टी और जलादि से स्नान और शोधन बाह्यशौच और सत्यादि के आचरण से चित्त शुद्धि करना अन्तश्शौच कहाता है। सन्निहितसाधन की अनिच्छा सन्तोष कहाती है। सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास का सहना, मौन, कृच्छ्र चान्द्रायण आदि का करना तप कहाता है। मोक्षनिरूपक शास्त्रों के पढ़ने तथा प्रणव के जप को स्वाध्याय कहते हैं। जो कर्म्म करे उसको ईश्वर में अर्पण करदे, इसको ईश्वरप्रणिधान कहते हैं। सोता, बैठता, चलता, स्वस्थ, निवृत्तवितर्क—संसारबीज को ग्रहण न कर जो पुरुष रहता है. वह मोक्षपद को प्राप्त होता है॥ ३२॥

---

* संकेत से भी अपने अभिप्राय को प्रकट न करना, काष्ठमौन और मुंह से न बोलना आकार मौन कहलाता है।

भो० वृ०—शौचं द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरञ्च। बाह्यं मृज्जलादिभिः कायादिप्रक्षालनम्। आभ्यन्तरम् मैत्र्यादिभिश्चित्तमलानां प्रक्षालनम्। सन्तोषस्तुष्टिः। शेषाः प्रागेव कृतव्याख्यानाः। एते शौचादयो नियम-शब्दवाच्याः॥ ३२॥ कथमेषां योगांगत्वमित्याह—

भो० वृ० का भा०—शौच वा शुद्धता दो प्रकार की है, एक बाह्य और दूसरी आभ्यन्तर। मिट्टी और जल आदि से जो स्थूल शरीर का धोना है उसे बाह्यशुद्धि कहते हैं। मैत्री और मुदिता आदि से जो चित्त के मलों का दूर करना है उसे आभ्यन्तरशुद्धि कहते हैं। सन्तोष तुष्टि को कहते हैं और नियमों का व्याख्यान प्रथम ही कर चुके हैं, यह शौच आदि नियम कहाते हैं॥ ३२॥ यह योग के अङ्ग क्योंकर है। इस का वर्णन आगे किया जायगा—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्॥ ३३॥

सूत्र का पदार्थ—(वितर्कबाधने) विघ्नों की बाधा होने पर (प्रतिपक्षभावनम्) प्रतिकूल भावना करे॥ ३३॥

सूत्र का भा०—हिंसादि विघ्नों की बाधा होने पर उनके विरुद्ध भावना करे॥ ३३॥

व्यास दे० का भा०—यदाऽस्य ब्राह्मणस्य हिंसादयो वितर्का जायेरन्हनिष्याम्यहमपकारिणमनृतमपि वक्ष्यामि द्रव्यमप्यस्य स्वीकरिष्यामि दारेषु चास्य व्यवायी भविष्यामि परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामीति। एवमुन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरेणातिदीप्तेन बाध्यमानस्तत्प्रतिपक्षान्भावयेत्। घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपागतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्मः। स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान् पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेनेति भावयेत्। यथा श्वा वान्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददान इति। एवमादि सूत्रान्तरेष्वपि योज्यम्॥ ३३॥

भा० का प०-- जब इस योगी को हिंसादिक वितर्क उत्पन्न होंय तब मैं शत्रु को मारूंगा, झूंठ भी बोलूंगा, इसका द्रव्य भी छीन लूंगा, इस स्त्री से कुकर्म करूंगा और इसके धन का स्वामी हूंगा इत्यादि उन्मार्ग में लेजाने वाले उद्दीप्त वितर्क ज्वर से बाध्यमान उन के प्रतिपक्ष की हृदय में भावना करे। घोर संसार के अङ्गारों में पकते हुये मैंने प्राणिमात्र को अभयदान देने के लिये योगधर्म की शरणली है सो मैं इसको छोड़ कर पुनः वितर्कों को ग्रहण कर... कुत्ते के समान प्रवृत्त होता हूं—ऐसी भावना करे। जैसे कुत्ता वमन किये को। ततश्च तैसे ही छोड़े हुए को फिर ग्रहण करने से मेरी दशा होगी ॥ ३३ ॥

भा० का भा०—जब इस ब्राह्मण की हिंसादि कुकर्मों में बुद्धि जाय और ये मति होय कि मैं इसको मार डालूंगा, गाली दूंगा, द्रव्य लेलूंगा, स्त्री छीन लूंगा, इस के संसार का स्वामी होजाऊंगा इत्यादि तब जाने कि मैं कुमार्ग के अतितीक्ष्ण ज्वर से बाधित हूं और घोर संसार के अंगारों से पकता हूं अब मुझ को समस्त प्राणियों को निर्भय दानपूर्वक योगधर्म्म ही की शरण लेनी चाहिए सो मैं वितर्कों का त्याग क (योग धर्म्मों को) ग्रहण करूँ ऐसी भावना करे ॥ ३३ ॥

तेंतीसवाँ सूत्र—योगी को जब जान पड़े कि मेरा चित्त वितर्क अर्थात् योग के विरुद्ध चल रहा है, तब उसे चाहिये कि वितर्कों की ओर से अपने चित्त को रोके और समझे कि संसार के विषयों को मैंने त्याग दिया है अब उनको ग्रहण करना ऐसा है जैसे उगले हुए को खाना।

भो० वृ०—वितर्क्यन्ते इति वितर्का योगपरिपन्थिनो हिंसादयस्तेषां प्रतिपक्षभावने सति यदा बाधा भवति तदा योगः सुकरो भवतीति भवत्येव यमनियमानां योगाङ्गत्वम् ॥ ३३ ॥ इदानीं वितर्काणां स्वरूपं भेदप्रकारं कारणं फलं च क्रमेणाऽऽह—

भो० वृ० का भा०—वितर्क किया जाय जिन के द्वारा उनको वितर्क कहते हैं, योग के शत्रु हिंसादिक वितर्क कहाते हैं। उन वितर्कों

के यह यम, नियम शत्रु हैं। इनके द्वारा योग सुगम होता है। इस कारण यम और नियमादि योग के अङ्ग कहाते हैं ॥ ३३ ॥ आगे वितर्कों के लक्षण, भेद, प्रकार, कारण और फल का वर्णन करेंगे—

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

सूत्र का पदार्थ—(वितर्का हिंसादयः) वितर्क हिंसादि हैं (कृतकारितानुमोदिता) स्वयम् किये वा दूसरे से कराये वा जिनके करने में सम्मति दी हो (लोभक्रोधमोहपूर्वका) लोभ से, क्रोध से, मोह से (मृदुमध्याधिमात्रा) मृदु, मध्य और तीव्र (दुःखाज्ञानानन्तफलाः) अनन्तदुःख और अज्ञान फल वाले हैं यह इनकी विरुद्ध भावना है ॥ ३४ ॥

सूत्र का भा०—वितर्क हिंसादि कुकर्मों को कहते हैं। वे चाहे स्वयं किये जांय वा कराये जायँ वा अनुमोदन किये जायँ। जो लोभ से मोह से, क्रोध से होवें चाहे मृदु हों, मध्य हों या तीव्र हों। ये सब दुःख और अज्ञान के अनन्त फल देने वाले हैं यही योग में प्रति पक्षभावना कहाती है ॥ ३४ ॥

व्या० दे० का भा०—तत्र हिंसा तावत्कृताकारिताऽनुमोदितेति त्रिधा। एकैका पुनस्त्रिधा लोभेन मांसचर्मार्थेन क्रोधेनापकृतमनेनेति मोहेन धर्मो मे भविष्यतीति। लोभक्रोधमोहाः पुनस्त्रिविधा मृदुमध्याधिमात्रा इति। एवं सप्तविंशतिर्भेदा भवन्ति हिंसायाः। मृदुमध्याधिमात्राः पुनस्त्रिधा—मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीव्र-

मृदुरिति। तथा मृदुमध्या मध्यमध्यस्तीव्रमध्य इति। तथा मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति। एवमेकाशीति भेदा हिंसा भवति। सा पुनर्नियमविकल्पसमुच्चयभेदादसंख्येया, प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वादिति। एवमनृतादिष्वपि योज्यम्।

ते खल्वमी वितर्का दुःखाज्ञानानन्त फला इति प्रतिपक्षभावनम्। दुःखमज्ञानञ्चानन्तं फलं येषामिति प्रतिपक्षभावनम्। तथा च हिंसकस्तावत् प्रथमं वध्यस्य वीर्यमाक्षिपति। ततश्च शस्त्रादिनिपातेन दुःखयति। ततो जीवितादपि मोचयति। ततो वीर्याक्षेपादस्य चेतनाचेतनमुपकरणं क्षीणवीर्यं भवति। दुःखोत्पादान्नरकतिर्यक्प्रेतादिषु दुःखमनुभवति, जीवितव्यपरोपणात् प्रतिक्षणञ्च जीवितात्यये वर्त्तमानो मरणमिच्छन्नपि दुःखविपाकस्य नियतविपाकवेदनीयत्वात् कथञ्चिदेवोच्छ्वसिति। यदि च कथंचित् पुण्यावापगता हिंसा भवेत् तत्र सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति। एवमनृतादिष्वपि योज्यं यथासम्भवम्। एवं वितर्काणां चामुमेवानुगतं विपाकमनिष्टं भावयन्न वितर्केषु मनः प्रणिदधीत॥ ३४॥

भा० का प०—तहां हिंसा १–कृता-स्वयं अपने शरीर द्वारा की गई, २–कारिता–दूसरे के द्वारा कराई गई, ३–अनुमोदिता—जिस में अनुमति दीजाय, इन भेदों से हिंसा तीन प्रकार की है। फिर एक-एक तीन प्रकार की है लोभ से—मांस और चमड़े के निमित्त, क्रोध से—इस ने मेरा अपकार किया है; मैं भी इसे मारूं। मोह से मुझ को बलिदान चढ़ाने से धर्म्म होगा। लोभ, क्रोध और मोह यें भी पुनः तीन प्रकार के हैं, मृदु, मध्य और तीव्र। ऐसे ऐसे हिंसा के सत्ताईस भेद हैं। मृदु, मध्य और तीव्र फिर तीन प्रकार के हैं। १–मृदु मृदु, २–मध्यमृदु और ३–तीव्रमृदु। १–मृदुमध्य, २-मध्यमध्य, ३–तीव्रमध्य। ऐसे ही १ मृदुतीव्र, २–मध्यतीव्र, ३–तीव्रतीव्र। इस रीति से ८१ भेदवाली हिंसा होती है। फिर

वही हिंसा नियम, विकल्प और संग्रह के भेद से असंख्य भेद वाली है, क्योंकि प्राणियों के असंख्य भेद हैं। ऐसे असत्यादि के भी भेद समझने चाहियें। ये वितर्क दुःख और अज्ञान आदि अनन्त फलों को देने वाले हैं। ऐसी भावना करना ही प्रतिपक्षभावना कहलाती है। ऐसे ही हिंसा करने वाला प्रथम तो जिसका वध करने की इच्छा करता है उस के बल की निन्दा वा तिरस्कार करता है, उसके पश्चात् शस्त्रादि से मार कर उसे दुःख देता है उस के अनन्तर जीवन से उसे छुड़ा देता है। इस के पश्चात् उस हत्याकारी ने जो वध्य के बल, वीर्य का तिरस्कार किया था इससे इसका भी जो वीर्य, जड़ और चेतन की जीवित रहने की जो सामग्री है वही क्षीण हो जाती है। जो हत्याकारी ने वध्य को शस्त्रादि से दुःख दिया था उससे हिंसक को भी नरक अर्थात जन्म जन्मान्तर में दुःख भोगना पड़ता है। जो हिंसक ने जीव घात किया है जिस समय हत्याकारी का प्राणान्त होगा, उस समय मरने की इच्छा करने पर भी दुःख का फल अवश्य भोग्य होने के कारण बड़े कष्ट से ऊर्ध्वश्वास होता है। यदि किसी प्रकारकी पुण्ययुक्त हिंसा हो, उसमे सुख प्राप्त होकर मनुष्य अल्पायु होता है—ऐसे ही मिथ्याभाषणादि के भी फल समझना जैसा सम्भव हो। इस प्रकार से वितर्कों के अनिष्ट फल को विचार कर वितर्कों में मन को न लगावे ॥ ३४ ॥

भा० का भा०—हिंसा तीन प्रकार की होती है—१ अपने से की हुई, २ और से कराई ३ सलाह से कराई। पुनः एक एक तीन तीन प्रकार की होती हैं एक लोभ से—अर्थात् इसके मारने से मुझे इतना मांस और चर्म मिलेगा, दो क्रोध से—अर्थात् इसने मेरा अपमान किया है मैं भी इसे मारूं ; तीसरे मोह से अर्थात् मुझे इसके मारने से धर्म्म होगा। लोभ, क्रोध, मोह से करी हिंसा पुनः तीन प्रकार की होती है—१ मृदु, २ मध्य, ३ तीव्र। ऐसे हिंसा सात प्रकार की है। पुनः मृदु, मध्य और तीव्र भी तीन तीन प्रकार के हैं। १ मृदु मृदु, २ मध्यमृदु, ३ तीव्रमृदु।

१ मृदुमध्य, २ मध्यमध्य, ३ मध्यतीव्र तैसे ही १ मृदुतीव्र, २ मध्यतीव्र, ३ तीव्रतीव्र । ये इस प्रकार हिंसा के ८१ भेद होते हैं । फिर नियम, विकल्प और समुच्चय भेद से असंख्य भेद होते हैं क्योंकि प्राणियों के असंख्य भेद हैं ऐसे ही असत्यादि के भेद भी जानना । ये हिंसादि वितर्क दुःख अज्ञानादि अनन्त फल देने वाले हैं । हिंसा करने वाला पहले जिस के वध की इच्छा करता है तब उसके बल की निन्दा करता है फिर शस्त्रादि से उसे दुःख देता है इसके पश्चात् मार डालता है । अतएव जैसे इसने उसके वीर्यादि का तिरस्कार किया था वैसे ही इसका जीवन वीर्य क्षीण होता है फिर जन्मान्तर में इसे अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं और मरणकाल में ये मरना चाहे तौ भी श्वासावशेष रहने से बड़ा खेद पाता है यदि किसी प्रकार से कोई हिंसा पुण्ययुक्त होय तो हिंसक को जन्मान्तर में सुख मिलेगा; परन्तु अल्पायु होगा ऐसे ही असत्यादि में भी जानना । ऐसे वितर्कों के फल विचार कर इनमें मन न लगावे ॥ ३४ ॥

भो० वृ०-एते पूर्वोक्ता [वितर्का] हिंसादयः प्रथमं त्रिधा भिद्यन्ते कृतकारितानुमोदनभेदेन । तत्र स्वयं निष्पादिताः कृताः । कुरु कुर्विति प्रयोजकव्यापारेण समुत्पादिताः कारिताः । अन्येन क्रियमाणाः साध्वित्यङ्गीकृता अनुमोदिताः । एतच्च त्रैविध्यं परस्परव्यामोहनिवारणायोच्यते । अन्यथा मन्दमतिरेवं मन्येत न मया स्वयं हिंसा कृतेति नास्ति मे दोष इति । एतेषां कारणप्रतिपादनाय लोभक्रोधमोहपूर्वका इति । यद्यपि लोभः प्रथमं निर्दिष्टस्तथाऽपि सर्वक्लेशानां मोहस्यानात्मनि आत्माभिमानलक्षणस्य निदानत्वात् तस्मिन् सति स्वपरविभागपूर्वकत्वेन लोभक्रोधादीनामुद्भवात् मूलत्वमवसेयम् । मोहपूर्विका सर्वा दोषजातिरित्यर्थः । लोभस्तृष्णा । क्रोधः-कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलकः प्रज्वलनात्मकश्चित्तधर्मः । प्रत्येकं कृतादिभेदेन त्रिप्रकारा अपि हिंसादयो मोहादिकारणत्वेन त्रिधा भिद्यन्ते । एषामेव पुनरवस्थाभेदेन त्रैविध्यमाह - मृदुमध्याधिमात्राः, मृदवो मन्दा न तीव्रा नापि

मध्याः । मध्या नापि मन्दा नापि तीव्राः । अधिमात्रास्तीव्राः । पाश्चात्या नव भेदाः । इत्थं त्रैविध्ये सति सप्तविंशतिर्भवति । मृद्वादीनामपि प्रत्येकं मृदुमध्याधिमात्रभेदात् त्रैविध्यं सम्भवति । तद्यथायोगं योज्यम् । तद्यथा—मृदुमृदुमृदुमध्यो मृदुतीव्र इति । एषां फलमाह—दुःखाज्ञानानन्तफलाः । दुःखं प्रतिकूलतयाऽवभासमानो राजसश्चित्तधर्मः । अज्ञानं मिथ्याज्ञानं संशयविपर्ययरूपं, ते दुःखाज्ञाने अनन्तमपरिच्छिन्नं फलं येषां ते तथोक्ताः । इत्थं तेषां स्वरूपकारणादिभेदेन ज्ञातानां प्रतिपक्षभावनया योगिना परिहारः कर्त्तव्य इत्युपदिष्टं भवति ॥ ३४ ॥ एषामभ्यासवशात् प्रकर्षमागच्छतामनुनिष्पादिन्यः सिद्धयो यथा भवन्ति तथाक्रमेण प्रतिपादयितुमाह—

भो० वृ० का भा०—पूर्व कहे हुए हिंसादि के पहिले ३ भेद हैं, एक कृत, दूसरा कारित, तीसरा अनुमोदित, जो हिंसादिक स्वयम् किये जाते हैं उनको कृत कहते हैं, दूसरे से तुम करो तुम करो–ऐसा कहकर जो कराये जाते हैं उन हिंसादि वितर्कों को कारित कहते हैं, अनुमोदित उसे कहते हैं जो दूसरा मनुष्य हिंसा करता हो उसे अच्छा कहना व उसके उत्साह को बढ़ाना । हिंसा आदिके यह तीन भेद इस वास्ते किये गये हैं जिससे हिंसक को यह भ्रम न रहे कि मैंने हिंसा नहीं की वा इस हिंसा में मेरा क्या दोष है क्योंकि मैंने हिंसा नहीं की ऐसा मन्दमति लोग कह सकते हैं । इन हिंसादि के कारण लोभ, मोह और क्रोध हैं। यद्यपि सूत्र में लोभ को पहले लिखा है परन्तु मोह से ही सब क्लेश आत्मा में भान होते हैं और मोह ही मनुष्य को अपने और पराये के भेद में फँसाता है और उससे ही लोभ और क्रोध की उत्पत्ति होती है, इस कारण मोह ही सब दोषों की जड़ है । तृष्णा को लोभ कहते हैं, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विवेक को नाश करने वाला अग्नि रूप जो चित्त का गुण विशेष है उसे क्रोध कहते हैं । हिंसादि के जो कृत आदि के भेद से तीन तीन प्रकार हैं, उनमें से प्रत्येक लोभ, मोह और क्रोध के

भेद से फिर तीन तीन प्रकार के होते हैं। इन्हीं के फिर अवस्था भेद से तीन तीन भेद होते हैं। मृदु अर्थात् मन्द, मध्य अर्थात् न मन्द और न तीव्र, तीसरा भेद तीव्र है। पूर्व कहे ९ भेद इन मृदु आदि के भेद से २७ प्रकार के हो जाते हैं फिर मृदु आदि के परस्पर भेद से ८१ होते हैं। जैसे मृदुमृदु, मृदुमध्य और मृदुतीव्र, ऐसे ही मध्यमृदु, मध्य-मध्य और मध्यतीव्र, एवम् तीव्रमृदु, तीव्रमध्य और तीव्र तीव्र इत्यादि, अब इन हिंसादि वितर्कों का फल कहते हैं दुःख और अज्ञान रूपी अनन्त फल को देते हैं, दुःख उसे कहते हैं, जो आत्मा के प्रतिकूल जान पड़े वह रजोगुण से उत्पन्न हुआ चित्त का धर्म दुःख कहाता है. संशय और विपर्य्यय रूप ज्ञान को अज्ञान कहते हैं दुःख और अज्ञान है अनन्त अर्थात् असीम फल जिनका ऐसे उपयुक्त वितर्कों का जब स्वरूप और फल मालूम होजाय तब योगी को चाहिये कि उनको परित्याग करे यही इस सूत्र का तात्पर्य्य है ॥ ३४ ॥

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ॥ ३५

सूत्र का पदार्थ—(अहिंसाप्रतिष्ठायाम्) अहिंसा की प्रतिष्ठा में (तत्सन्निधौ) उसके समीप (वैरत्यागः) वैरका त्याग होता है ॥ ३५ ॥

सूत्र का भा०—योगी का चित्त जब अहिंसा में स्थिर हो जाता है तब वह किसी से वैर नहीं करता और न उससे कोई वैर करता है ॥ ३५ ॥

व्या० कृ० भा०—प्रतिपक्षभावनात् हेतोर्हेया वितर्का यदाऽस्य स्युरप्रसवधर्माणस्तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिनः सिद्धिसूचकं भवति। तद्यथा- सर्वप्राणिनां भवति ॥ ३५ ॥

भा० का प०—विरुद्ध भावना से जब वितर्क अनुत्पत्ति धर्मक

होकर त्यागने के योग्य होते हैं, तब अहिंसादि से उत्पन्न ऐश्वर्य योगी की सिद्धि को सूचित करता है। अहिंसा की प्रतिष्ठा में सब प्राणियों से वैर त्याग होता है।

भा० का भा०—जब योगी क्रोध से विरत हो अहिंसा में संयम करता है तब उस का यह फल प्राप्त होता है कि कोई भी प्राणी उसके साथ वैर नहीं करता और न वह किसी से वैर करता है ॥ ३५ ॥

पैंतीसवें सूत्र का वि०—जब योगी को अहिंसा सिद्ध हो जाती है तब उसके समीप जितने प्राणी आते हैं वह भी सब परस्पर के वैर को त्याग देते हैं। यहां पर यह सन्देह हो सकता है कि सिंहादि हिंसक जन्तुओं का स्वाभाविक वैर क्योंकर दूर हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि वैर किसी का भी स्वाभाविक गुण नहीं है क्योंकि जिस जन्तु का वैर स्वाभाविक गुण हो तो उसे अपने स्त्री पुत्र में भी प्रीति नहीं हो सकती है परन्तु ऐसा कोई जन्तु नहीं है जिसे अपने सजातीय से प्रीति न हो। इस से सिद्ध होता है कि वैर वा प्रीति किसी का भी स्वाभाविक गुण नहीं है। योगी में विशेषता यही हो जाती है कि वह अपने मन की शुद्धता के बल से दूसरे प्राणी के मन को शुद्ध बना देता है जिससे उसके समीप जाके सब प्राणी वैर को त्याग देते हैं। यह अनेक बार देखा गया है कि मिसमरेज़िम के द्वारा दूसरे प्राणी के चित्त को खींच कर मूर्च्छित करके उसको स्वभावविरुद्ध कर्म्मों में लगा दिया गया है जब कि बालक्रीडनवत् क्रिया से ऐसा होना प्रत्यक्ष देखा गया है तो साक्षात् योग से अपने समीप आये प्राणियों को वैर रहित कर देना क्या आश्चर्य है ! किसी २ का तो मत इस विषय में ऐसा है कि "मन एव मनुष्याणाम् कारणं बन्धमोक्षयोः।" बन्ध अर्थात् सांसारिक विषयों में आसक्ति और मोक्ष अर्थात् सांसारिक विषयों से विराग इन दोनों का कारण मन ही है। एवम् किसी विद्वान् ने सृष्टि ही को मनोमय माना है। इन सिद्धान्तों का सविस्तर

गूढ़तत्व प्रकाशित करने से ग्रन्थ बहुत बढ़ जाता इस भय से यहाँ पर हम उसे नहीं लिख सकते हैं ॥ ३५ ॥

भो० वृ०—तस्याहिंसां भावयतः सन्निधौ सहजविरोधिनामप्यहि-नकुलादीनां वैरत्यागो निर्म्मत्सरतयाऽवस्थानं भवति। हिंस्रा अपि हिंस्रत्वं परित्यजन्तीत्यर्थः ॥ ३५ ॥ सत्याभ्यासवतः किं भवतीत्याह—

भो० वृ० का भा० —जब योगी अहिंसा की भावना वा संयम करता है तब उसके समीप स्वाभाविक वैर रखने वाले सर्प और नकुल आदि भी वैरभाव को त्याग देते हैं अर्थात् मत्सरता का त्याग कर देते हैं। फलितार्थ यह हुआ कि हिंसा करना ही जिन जन्तुओं का स्वभाव है वह भी हिंसारहित हो जाते हैं ॥ ३५ ॥ सत्य की प्रतिष्ठा से क्या लाभ होता है ? इसका उत्तर आगे लिखा है—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

सूत्र का पदार्थ—(सत्यप्रतिष्ठायाम्) सत्य की प्रतिष्ठा में (क्रियाफलाश्रयत्वम्) क्रियाफल का आश्रय होता है ॥ ३६ ॥

सूत्र का भा०—सत्यप्रतिष्ठा में क्रिया के फल का आश्रयभाव होता है ॥ ३६ ॥

व्यास कृत भा०—धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः स्वर्गं प्राप्नुहीति स्वर्गं प्राप्नोति। अमोघाऽस्य वाग्भवति। ३६ ॥

भा० का पदा०—तू धार्मिक होजा, धार्मिक हो जाता है। स्वर्ग को प्राप्त हो, स्वर्ग को प्राप्त होता है। इसकी वाणी अमोघ अन्वर्थ होती है ॥ ३६ ॥

भा० का भा०—जब योगी सत्य के संयम में दृढ़ हो जाता है तब वह जो वचन कहता है वह निष्फल नहीं जाता ॥ ३६ ॥

विशेष—इस सूत्र का यह अभिप्राय नहीं है कि योगी यदि पापी से कहे कि तू स्वर्ग को चला जा. तो वह स्वर्ग पहुंच जाय; वरन् इसका अभिप्राय यह है कि सत्य में प्रतिष्ठित होने से योगी को-उपदेश करे कि तू धर्मात्मा हो तो वह पाप को छोड़ कर धर्म्म करने लगेगा और जिससे कहे कि तू स्वर्ग को जा, तो वह भी स्वर्ग प्राप्ति के कार्य करने लगेगा और उन कर्मों से स्वर्गप्राप्त होगा। सूत्रकार और भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि सत्य प्रतिष्ठा से योगी के वचन निष्फल नहीं होते हैं ॥ ३६ ॥

भो० वृ०—क्रियमाणा हि क्रिया यागादिकाः फलं स्वर्गादिकं प्रयच्छन्ति। तस्य तु सत्याभ्यासवतो योगिनस्तथा सत्यं प्रकृष्यते यथा क्रियायामकृतायामपि योगी फलमाप्नोति। तद्वचनात् यस्य कस्यचित् क्रियामकुर्वतोऽपि क्रियाफलं भवतीत्यर्थः॥ ३६ ॥

अस्तेयाभ्यासवत: फलमाह।

भो० वृ० का भा०—जो यज्ञादिक क्रिया की जाती हैं उनसे स्वर्गादिक फल प्राप्त होते हैं। जो योगी सत्य का अभ्यास करता है उसके सत्य की ऐसी प्रतिष्ठा होती है कि यज्ञादि क्रियाओं के विना किये ही उनके फलरूप स्वर्ग को योगी पाजाता है, सत्याचारी योगी के वचन से और लोगों को भी स्वर्गादि का फल प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

अस्तेय के अभ्यास का फल कहते हैं—

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७॥

सूत्र का पदार्थ—(अस्तेयप्रतिष्ठायाम्) चोरी न करने से (सर्वरत्नोपस्थानम्) सब रत्नों की प्राप्ति होती है ॥ ३७ ॥

सूत्र का भा०—चोरी न करने से सब रत्नों की प्राप्ति होती है ॥ ३७ ॥

व्यास भाष्य--सर्वदिक्स्थान्यस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि ।। ३७ ।।

भा० का प०-सब दिशाओं के रत्न इसको प्राप्त होते हैं ।।३७।।

भा० का भा०-सब दिशाओं के रत्न इस को मिलते हैं ।।३७।।

सैंतीसवें सूत्र का वि०-जब योगी अस्तेय अर्थात् चोरी न करने के अभ्यास में अपने चित्त को लगाता है तब उसे सब रत्नों की प्राप्ति होती है अर्थात् जगत् के सब प्राणी उसका विश्वास करते हैं ।

भो० वृ०-अस्तेयं यदाऽभ्यस्यति तदाऽस्य तत् प्रकर्षान्निरभिलाषस्यापि सर्वतो दिव्यानि रत्नानि उपतिष्ठन्ते ।। ३७ ।।

ब्रह्मचर्य्याभ्यासस्य फलमाह--

भो० वृ० का भा०—जब योगी अस्तेय अर्थात् चोरी (कायिक वा मानसिक) न करने का अभ्यास करता है तब अभिलाषा न रहने पर भी दिव्य रत्नों की प्राप्ति होती है ॥ ३७ ॥ ब्रह्मचर्य्य के अभ्यास का फल कहते हैं—

ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः ॥ ३८ ॥

सूत्र का भावार्थ–(ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायाम्) ब्रह्मचर्य्य की स्थिरता में (वीर्यलाभः) बल का लाभ होता है ।। ३८ ।।

सूत्र का भा०--ब्रह्मचर्य्य स्थिर होने से वीर्य का लाभ होता है ॥ ३८ ॥

व्या० दे० का भा०--यस्य लाभादप्रतिघान्गुणानुत्कर्षयति । सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति ।। ३८ ॥

भा० का प०—जिसके लाभ से अप्रतिघ गुणों का उत्कर्ष और सिद्ध होता है, शिक्षा करने योग्य विद्यार्थियों को ज्ञान देने में समर्थ होता है ॥ ३८ ॥

भा० का भा०—जिस वीर्य्य के लाभ से पुरुष अप्रतिघ गुणों को प्राप्त कर सकता है और सिद्ध होने पर विनेय अर्थात् शिक्षा करने योग्य मनुष्यों को ज्ञान देने में समर्थ होता है ॥ ३८ ॥

भो० वृ०—यः किल ब्रह्मचर्य्यमभ्यस्यति तस्य तत् प्रकर्षान्निरतिशयं वीर्यं सामर्थ्यमाविर्भवति । वीर्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्यं तस्य प्रकर्षाच्छरीरेन्द्रियमनःसुवीर्यं प्रकर्षमागच्छति ॥ ३८ ॥ अपरिग्रहाभ्यासस्य फलमाह—

भो० वृ० का भा० – जो योगी ब्रह्मचर्य्य का अभ्यास करता है उसको ब्रह्मचर्य्य के प्रकर्ष से अधिक सामर्थ्य उत्पन्न होती है, वीर्य्य के निरोध से और ब्रह्मचर्य्य के बल से इन्द्रिय और मन का उत्साह बहुत बढ़ जाता है ॥ ३८ ॥

अपरिग्रह के अभ्यास से जन्म कथन्ता का ज्ञान होता है, कथन्ता का अर्थ यह है कि प्रकारार्थक कथम् शब्द से भाव में 'तल्' प्रत्यय करने से 'कथन्ता' शब्द सिद्ध हुआ है। योगी को पूर्वजन्म की कथन्ता का ज्ञान होता है अर्थात् पूर्वजन्म कैसा था और परजन्म कैसा होगा! योगी इस बात को जानता है ॥ ३९ ॥

अपरिग्रह के अभ्यास के फल को कहते हैं–

अपरिग्रहस्थैर्य्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९॥

सूत्र का पदार्थ—(अपरिग्रहस्थैर्य्ये) अपरिग्रह के स्थिर होने पर (जन्मकथन्तासम्बोधः) जन्म क्यों हुआ इस का बोध होता है ॥ ३९ ॥

सूत्र का भा०— प्रतिग्रह न करना अपरिग्रह कहाता है उसके स्थिर होने से जन्म क्यों हुवा इसका बोध होता है ॥ ३९ ॥

व्या० का भा०—अस्य भवति । कोऽहमासं कथमहमासं

किं स्विदिदं कथंस्विदिदं के वा भविष्यामः कथं वा भविष्याम इत्येवमस्य पूर्वान्तपरान्तमध्येष्वात्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तते । एता यमस्थैर्ये सिद्धयः ॥ ३९ ॥ नियमेषु वक्ष्यामः—

भा० का प०—योगी को यह ज्ञान होता है कि मैं पूर्वजन्म में कौन था, कैसे मैं था, क्या यह है, कैसे यह है, या आगे हम क्या होंगे या कैसे होंगे । इस प्रकार से इस पुरुष के पूर्वजन्म, परजन्म और मध्य में आत्मभाव के जानने की इच्छा स्वरूप से उपावर्तित होती है (एते सिद्धयः) यमों की स्थिरता से ये सिद्धियां प्राप्त होती हैं ॥ ३९ ॥

अब नियमों की सिद्धियाँ कहते हैं—

भा० का भा०—इसको अर्थात् जिसको अपरिग्रह स्थिर है यह जिज्ञासा होती है कि मैं पूर्वजन्म में कौन था, कैसे था, यह वर्त्तमान जन्म क्या है, कैसे है । आगे क्या होंगे, कैसे होंगे ? पूर्व पर और मध्य में आत्मभाव जानने की इच्छा अपने रूप से उपावर्तित होती है । ये सब स्थिर सिद्धियाँ यमों के सेवन से प्राप्त होती हैं । तात्पर्य्य यह है कि त्यागी को अनेक जन्मों का ज्ञान होता है ॥ ३९ ॥

उनतालिसवें सूत्र का वि०—त्याग का अभ्यास होने से योगी को भूत और भविष्यत् जन्मों का ज्ञान होता है । इसही योगशास्त्र के भाष्य में ऋषिमाण्डव्य ऋषि का उदाहरण लिखा है कि उनको अपने १२ जन्मों का ज्ञान था ॥ ३९ ॥

भो० वृ०—कथमित्यस्य भावः कथन्ता जन्मनः कथन्ता जन्मकथन्ता तस्याः संबोधः सम्यक् ज्ञानं जन्मान्तरे कोऽहमासम् कीदृशः किं कार्यकारीति जिज्ञासायां सर्वमेव सम्यग्जानातीत्यर्थः । न केवलं भोगसाधनपरिग्रह एव परिग्रहो यावदात्मनः शरीरपरिग्रहोऽपि परिग्रहः, भोगसाधनत्वाच्छरीरस्य । तस्मिन् सति रागानुबन्धाद्बहिर्मुखायामेव प्रवृत्तौ न तात्त्विकज्ञानप्रादुर्भावः । यदा पुनःशरीरादिपरिग्रहनैरपेक्ष्येण माध्यस्थ्य-

मवलम्बते तदा मध्यस्थस्य रागादित्यागात्सम्यग्ज्ञानहेतुर्भवत्येव पूर्वापर-जन्मसंबोधः ॥ ३९ ॥ उक्ता यमानां सिद्धयः । अथ नियमानामाह—

भो० वृ० का भा०—अर्थात् उसे यह सब ज्ञान हो जाता है कि मैं पूर्वजन्म में कौन था, कैसा था और मैंने कैसे कर्म किये थे। केवल भोग साधनोंको त्यागना ही अपरिग्रह नहीं कहाता है, वरन् भोग का साधन जो शरीर है उसमें यदि अनुराग बना रहेगा तो योगी की बाह्यवृत्ति नष्ट न होगी इस कारण शरीर के मोह को त्यागना और राग द्वेष से रहित होने को अपरिग्रह कहना चाहिये। यही अपरिग्रह ज्ञान का हेतु है और इसी के साधन से पूर्वजन्मों का ज्ञान होता है ॥ ३९ ॥

यमों की सिद्धियाँ कही गईं अब नियमों के फल वा सिद्धि का वर्णन करते हैं—

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

सूत्र का पदार्थ—(शौचात्) शौच से (स्वाङ्गजुगुप्सा) अपने अङ्गों की निन्दा (परैरसंसर्गः) औरों से असंसर्ग होता है ॥ ४० ॥

सूत्र का भा०—अन्तःशौच से अपने शरीर की अशुद्धि देखकर निन्दा और दूसरे अशुद्धों से असंसर्ग होता है ॥ ४० ॥

व्या० दे० का भाष्य—स्वाङ्गे जुगुप्सायां शौचमारभमाणः कायावद्यदर्शी कायानभिष्वङ्गी यतिर्भवति । किंच परैरसंसर्गः कायस्वभावावलोकी स्वमपि कायं जिहासुर्मृज्जलादिभिराक्षालयन्नपि कायशुद्धिमपश्यन् कथम् परकायैरत्यन्तमेवाप्रयतैः संसृज्येत ॥ ४० ॥ किंच—

भा० का प०—स्वांग निन्दा से शौच का आरम्भ करता है काया में दोष देखने वाला काया में अनासक्त यति होता है। काया के

स्वभाव को देखने वाला अपने शरीर को भी त्यागने की इच्छा वाला मट्टी जलादि से उसकी शुद्धि करता हुआ भी काया की शुद्धि को न देखता हुआ कैसे अत्यन्त मलिन दूसरे के शरीरों से संसर्ग करेगा ॥४०॥

भा० का भा०—स्वांग निन्दा से अपने शरीर में शौच को आरम्भ करता हुआ काया को नश्वर जानकर उसमें आसक्त नहीं होता। काया के स्वभाव को देखने वाला जो अपने अशुद्ध शरीर को भी त्यागने की इच्छा करता है वह कैसे दूसरे के अशुद्ध शरीर से संसर्ग करेगा ॥ ४० ॥

चालीसवें सूत्र का वि०—शौच का अभ्यास करने से योगी को अपने शरीर का कारण ही अशुद्ध दीखने लगता है। जब कारण ही अशुद्ध है तो कार्य शुद्ध कैसे हो सकता है ? इस ही से वह अपने शरीर को निन्दित समझता है तथा दूसरों के शरीर को भी अशुद्ध समझ कर सबका सङ्ग त्याग देता है इस से योगी को सङ्गदोष लिप्त नहीं होता है। और इस ही कारण से योगी निर्विघ्नता के साथ योग साधन में तत्पर रहता है; किन्तु आज कल के आचारी जैसा मिथ्या शौच करते हैं वैसा करने से केवल आडम्बर और पाखण्ड की वृद्धि होती है। अतएव योगी को ऐसा शौच करना चाहिये जिस से यथार्थ रूप से योग साधन होते हैं ॥ ४० ॥

भो० वृ०—यः शौचं भावयति तस्य स्वाङ्गेष्वपि कारणस्वरूप॰ पर्य्यालोचनद्वारेण जुगुप्सा घृणा समुपजायते अशुचिरयम् कायो नात्राऽऽग्रहः कार्य इति। अमुनैव हेतुना परैरन्यैश्च कायवद्भिरसंसर्गः संसर्गाभावः संसर्गपरिवर्ज्जनमित्यर्थः। यः किल स्वमेव कायं जुगुप्सते॰ तत्तदवद्यदर्शनात् स कथम् परकीयैस्तथाभूतैः कायैः संसर्गमनुभवति ॥४०॥

शौचस्यैव फलान्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—जो योगी शौच में संयम करता है वह

अपने शरीर के घृणित उपादान कारण को विचार कर अपने शरीर से भी घृणा करने लगता है अर्थात् उसको यह निश्चय हो जाता है कि यह शरीर अशुद्ध है, इस में प्रीति न रखनी चाहिये इस ही विचार से वह दूसरे शरीरधारियों के साथ सम्बन्ध छोड़ देता है। वास्तव में जो योगी अपने शरीर से प्रीति नहीं रखता है, वह दूसरे शरीरधारी से सम्बन्ध क्योंकर रख सकता है ॥ ४० ॥ अब शौच का फल कहते हैं—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

सूत्र का पदार्थ—(सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च) सत्त्वशुद्धि, सुमनसत्व, इन्द्रियजय और आत्मदर्शन की योग्यता शौच से होती है ॥४१॥

सूत्र का भा०—सत्त्वशुद्धि, शुद्ध मनता, एकाग्रता, इन्द्रियजय और आत्मदर्शन की योग्यता शौच से प्राप्त होती है ॥ ४१ ॥

व्यास दे० का भा०—भवन्तीति वाक्यशेषः। शुचेः सत्त्वशुद्धिस्ततः सौमनस्यं तत ऐकाग्र्यं तत इन्द्रियजयस्ततश्चात्मदर्शनयोग्यत्वं बुद्धिसत्त्वस्य भवतीति एतच्छौचस्थैर्यादधिगम्यत इति ॥ ४१ ॥

भा० का पदा०—शौच से सत्त्वशुद्धि फिर सुमानसता तब एकाग्रता तब इन्द्रियजय तब आत्मदर्शन की योग्यता बुद्धिसत्त्व को होती है ये शौच की स्थिरता से होते हैं ॥ ४१ ॥

भा० का भा०—शुद्ध को क्रम से सत्त्वशुद्धि, शुद्ध मानसता, एकाग्रता, इन्द्रियजय और आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है ॥४१॥

सू० विशेष—शौचाभ्यासी योगी को सत्त्वशुद्धि, यहाँ पर सत्त्व

शब्द के अर्थ अनेक टीकाकार अनेक भांति से करते हैं; परन्तु हमारी समझ में सत्त्व का अर्थ बुद्धि ही युक्त है अर्थात् शौच से बुद्धि शुद्ध होती है, मन प्रसन्न रहता है चित्त एकाग्र अर्थात् एक ही ध्येय विषय में लगा रहता है, चंचलता को त्याग देता है, इन्द्रियाँ विषयों से विरक्त हो जाती हैं, आत्मदर्शन अर्थात् योगसिद्धि में शक्ति प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

भो० वृ०—भवन्तीति वाक्यशेषः। सत्त्वं प्रकाशसुखाद्यात्मकं तस्य शुद्धी रजस्तमोभ्यामनभिभवः। सौमनस्यं खेदाननुभवेन मानसी प्रीतिः। एकाग्रता नियतेन्द्रियविषये चेतसः स्थैर्य्यम्। इन्द्रियजयो विषयपराङ्मुखाणामिन्द्रियाणामात्मनि अवस्थानम्। आत्मदर्शने विवेकख्यातिरूपे चित्तस्य योग्यत्वं समर्थत्वम्। शौचाभ्यासवत एते सत्त्वशुद्ध्यादयः क्रमेण प्रादुर्भवन्ति। तथाहि—सत्त्वशुद्धेः सौमनस्यं सौमनस्यादैकाग्र्यमैकाग्र्यादिन्द्रियजय इन्द्रियजयादात्मदर्शनयोग्यतेति ॥ ४१ ॥

सन्तोषाभ्यासस्य फलमाह—

भो० वृ० का भा०—प्रकाशात्मक सुख को और बुद्धि को सत्त्व कहते हैं। शौच से बुद्धि की शुद्धि होती है। सौमनस्य का अर्थ यह है कि खेद का अनुभव न होने से मन में जो प्रीति उत्पन्न होती है उसको सौमनस्य कहते हैं एकाग्रता का अर्थ यह है कि किसी विषय में चित्त का स्थिर करदेना। इन्द्रियजय का अर्थ यह है कि विषयों से इन्द्रियों को हटाके आत्मा के विचार में लगा देना. विवेकख्यातिरूप आत्मदर्शन के योग्य अर्थात् समर्थवान् होना आत्मदर्शन योग्यत्व कहाता है। शौच संयम करने से योगी को यह सब फल क्रम से प्राप्त होते हैं अर्थात् शौच से प्रथम सत्त्वशुद्धि उस से सौमनस्य, उस से एकाग्रता, एकाग्रता से इन्द्रियजय और इन्द्रियजय से आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है ॥४१॥

आगे सन्तोष का फल कहेंगे—

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥ ४२ ॥

सूत्र का पदार्थ—(सन्तोषात्) सन्तोष से (अनुत्तमः सुखलाभः) सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है ॥ ४२ ॥

सू० का भा०—संतोष से उत्तम सुख मिलता है ॥ ४२ ॥

व्या० दे० का भा०—तथाचोक्तम्—

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्" इति ॥ ४२ ॥

भा० का प०—तैसा ही अन्यत्र कहा है लोक में जो काम सुख है और जो दिव्य महासुख हैं वे तृष्णाक्षयसुख की सोलहवीं कला को भी नहीं प्राप्त होते ॥ ४२ ॥

भा० का भा०—सूत्र के अनुसार ही अन्यत्र भी लिखा है कि जो लोक में कामसुख हैं तथा महत् दिव्यसुख हैं वे सब तृष्णाक्षय सुख की षोडशी कला के समान भी नहीं है ॥ ४२ ॥

भो० वृ०—सन्तोषप्रकर्षेण योगिनः तथाविधमान्तरं सुखमाविर्भवति । यस्य बाह्यम् विषयसुखम् शतांशेनापि न समम् ॥ ४२ ॥

तपसः फलमाह—

भो० वृ० का भा०—सन्तोष का जब योगी के हृदय में प्रकर्ष होता है तब योगी को ऐसा सुख प्राप्त होता है जिसके सौ भाग में से एक भाग के बराबर भी विषय सुख नहीं है ॥ ४२ ॥

तप का फल कहते हैं—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

सूत्र का पदार्थ—(तपसः) तप से (अशुद्धिक्षयात्) अशुद्धि के क्षय होने से (कायेन्द्रियसिद्धि) कायसिद्धि और इन्द्रियसिद्धि होती है ॥ ४३ ॥

सूत्र का भा०—तप,से अशुद्धि क्षय होने से कायेन्द्रिय सिद्धि होती है ॥ ४३ ॥

व्या० दे० का भा०—निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलं तदावरणमलापगमात्कायसिद्धिरणिमाद्या । तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणदर्शनाद्येति ॥ ४३ ॥

भा० का प०—अनुष्ठित तप अशुद्धि से आच्छादित मल को नाश करता है। तप से आवृत्त मल नाश होने से अणिमादिक काय सिद्धि प्राप्त होतीं हैं। तैसे ही दूर से श्रवण और दर्शनादि इन्द्रियसिद्धि प्राप्त होती है ॥ ४३ ॥

भा० का भा०—अनुष्ठित तप मलों का नाश करता है उसके नाश होने से अणिमादिक कायसिद्धि और दूर से श्रवण, दर्शनादि इन्द्रियसिद्धि प्राप्त होती है ॥ ४३ ॥

तैंतालीसवें सूत्र का वि० - तप का अभ्यास करने से अशुद्धता नाश हो जाती है, फिर अशुद्धता नाश होने से शरीर इन्द्रियों की सिद्धि अर्थात् उत्कृष्टता प्राप्त होती है ॥ ४३ ॥

भो० वृ०—तपः समभ्यस्यमानं चेतसः क्लेशादिलक्षणाशुद्धिक्षयद्वारेण कायेन्द्रियाणां सिद्धिमुत्कर्षमादधाति । अयमर्थः—चान्द्रायणादिना चित्तक्लेशक्षयस्तत्क्षयादिन्द्रियाणां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टदर्शनादिसामर्थ्यमाविर्भवति । कायस्य यथेच्छमणुत्वमहत्त्वादीनि ॥ ४३ ॥

स्वाध्यायस्य फलमाह—

भो० वृ० का भा०—जो योगी तपका अभ्यास करता है उसकी क्लेशरूप अशुद्धि क्षय हो जाती है, फिर शरीर और इन्द्रियों में उत्तम शक्ति उत्पन्न होती है। अभिप्राय यह है कि चान्द्रायणादि करने से चित्त के क्लेश दूर हो जाते हैं। तब इन्द्रियों में सूक्ष्म गुण तथा उत्तम

पदार्थों को देखने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है और शरीर को अणुत्व और महत्व आदि सिद्धियां प्राप्त होती हैं ॥ ४३ ॥

आगे स्वाध्याय का फल कहेंगे—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

सूत्र का पदार्थ—(स्वाध्यायात्) स्वाध्याय से (इष्टदेवतासम्प्रयोगः) इष्ट देवता की प्राप्ति होती है ॥ ४४ ॥

सूत्र का भा०—स्वाध्याय से अभिलषित देवता की प्राप्ति होती है ॥ ४४ ॥

व्या० दे० का भा०—देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति, कार्ये चास्य वर्तन्त इति ॥ ४४ ॥

भा० का प०—देवता, ऋषि और सिद्ध स्वाध्यायशील के दर्शन को जाते हैं और इसके कार्य में प्रवृत्त होते हैं ॥ ४४ ॥

भा० का भा०—स्वाध्यायशील को देवता और ऋषि दीखते हैं और इस के कार्य में प्रवृत्त होते हैं ॥ ४४ ॥

चवालीसवें सूत्र का वि०—वेदपाठादि स्वाध्याय से वांछित देवता अर्थात् तत्वज्ञानी महात्माओं का सङ्ग प्राप्त होता है। इस सूत्र के जो आनुमानिक वा कल्पित देवताओं का अर्थ करते हैं वह भ्रान्त है, क्योंकि महर्षि व्यासदेव ने अपने भाष्य में देवता शब्द का अर्थ देव (दिव्य गुणवान् विद्वान्) ऋषि और सिद्ध किया है। ऋषि और सिद्धों के साहचर्य से देवता शब्द वाच्य विद्वान् ही सिद्ध होते हैं अथवा योगी को व्यवहारसिद्धि के वास्ते जिन वसु आदि ३३ देवता अर्थात् प्रकाशक सूर्यादि की अत्यन्त इच्छा रहती है उनका योगी को यथार्थज्ञान होता है और वह देवता योगी के कार्य साधक होते हैं। अर्थात् वृष्टि आदि से योगी को विघ्न प्राप्त नहीं होता है ॥ ४४ ॥

भो० वृ०—अभिप्रेतमन्त्रजपादिलक्षणे स्वाध्याये प्रकृष्यमाणे योगिन इष्टया अभिप्रेतया देवतया संप्रयोगो भवति। सा देवता प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥ ईश्वरप्रणिधानस्य फलमाह—

भो० वृ० का भा०—अभीष्ट मन्त्र गायत्री के स्वाध्याय अर्थात् जप से योगी को इष्टदेव अर्थात् ईश्वर का मानसिक संयोग होता है। फिर उस ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ॥ ४४ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

सू० का पदार्थ—(समाधिसिद्धिः) समाधि की सिद्धि (ईश्वरप्रणिधानात्) ईश्वरप्रणिधान से होती है ॥ ४५ ॥

सूत्र का भा०—ईश्वर प्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है ॥४५॥

व्या० दे० का भा०—ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिर्यया सर्वमीप्सितमवितथं जानाति देशान्तरे देहान्तरे कालान्तरे च। ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानातीति ॥ ४५ ॥

उक्ताः सह सिद्धिभिर्यमनियमाः। आसनादीनि वक्ष्यामः। तत्र—

भा० का प०—ईश्वर में अर्पित किये हैं सर्वभाव जिसने, ऐसे योगी को समाधि सिद्धि प्राप्त होती है। जिस से जिन पदार्थों के जानने की इच्छा होती है उन सब को यथोचित जानता है। देशान्तर में, देहान्तर में और कालान्तर में तब इसकी बुद्धि सब जानती है ॥ ४५ ॥

भा० का भा०—जो पुरुष सब कर्मों को ईश्वर में अर्पित कर देता है उसको समाधिसिद्धि प्राप्त होती है, उससे अन्य देशस्थ, देहस्थ और कालस्थ पदार्थों को जानता है ॥ ४५ ॥

विशेष भा०—ईश्वर की भक्ति से योगी को देशान्तर, तथा कालान्तर की सब बातें यथार्थ रूप से मालूम हो जाती हैं।

भो० वृ०—ईश्वरे यत्प्रणिधानम् भक्तिविशेषस्तस्मात्समाधेः रुक्तलक्षणस्याऽऽविर्भावो भवति। यस्मात् स भगवानीश्वरः प्रसन्नः सन् अन्तरायरूपान् क्लेशान् परिहृत्य समाधिं सम्बोधयति ॥ ४५ ॥

यमनियमानुक्त्वाऽऽसनमाह—

भो० वृ० का भा०—ईश्वर में जो प्रणिधान अर्थात् भक्ति की जाती है उससे समाधि का प्रकाश होता है, उससे सकलैश्वर्यवान् भगवान् प्रसन्न होकर योग में विघ्न करने वाले क्लेशों को दूर करके समाधि को उद्बोधित कर देता है ॥ ४५ ॥

यम और नियमों का वर्णन करके आगे आसनों का वर्णन करेंगे—

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

सूत्र का पदार्थ—(स्थिरसुखम्) जिसमें स्थिर सुख हो (आसनम्) वह आसन कहाता है ॥ ४६ ॥

सूत्र का भा०—जिसमें स्थिर सुख हो वह आसन कहाता है ॥४६॥

व्या० दे० का भा०—तद्यथा पद्मासनं, वीरासनं, भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्य्यङ्कम् क्रौञ्चनिषदनं हस्तिनिषदनं उष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि।४६।

भा० का प०—आसन भेद कहते हैं—पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिक, दण्डासन, सोपाश्रय, पर्यङ्क, क्रौञ्चनिषदन, हस्तिनिषदन, उष्ट्रनिषदन, समसंस्थान, स्थिर सुख और यथा सुख इत्यादि आसन भेद हैं ॥ ४६ ॥

भा० का भा०—आसनों के भेद ये हैं—पद्मासन प्रसिद्ध है। वीरासन-एक पैर पृथिवी में दूसरा जानुके ऊपर, भद्रासन-दोनों पैरों के

तले वृषण के समीप ऊपर करके उसके ऊपर हथेली रखना, स्वस्तिक—बायाँ पैर दहनी जङ्घा के ऊपर और दहना पैर बाईं जङ्घा के ऊपर रखना, दण्डासन, दोनों पैरों की उङ्गलियाँ और गुल्फ को मिलाकर भूमिस्पृष्ट जांघ, जानु और पैरों को फैलाकर बैठना, सोपाश्रय पटले पर बैठना, पर्यंङ्क—हाथ और जानु को फैलाकर सोना, क्रौञ्च निषदन क्रौंच पक्षी के समान बैठना, हस्तिनिषदन—हाथी के समान बैठना, उष्ट्र निषदन—ऊँट के समान बैठना, समसंस्थान-आकुञ्चित और दोनों पैरों को परस्पर सम्पीडन, स्थिरसुख—जिस बैठक से स्थिरता और सुख हो ॥ ४६ ॥

भो० वृ०—आस्यतेऽनेनेत्यासनं पद्मासनदण्डासनस्वस्तिकासनादि तद्यदा स्थिरं निष्कम्पं सुखमनुद्वेजनीयञ्च भवति तदा योगाङ्गतां भजते ॥ ४६ ॥ तस्यैव स्थिरसुखत्वप्राप्त्यर्थमुपायमाह—

भो० वृ० का भा० —आसन का अर्थ यह है कि आस उपवेशने इस धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करके फिर "युवोरनाकौ" इस सूत्र से अन आदेश करके आसन शब्द बनाया है। भली भाँति बैठा जाय जिसकी सहायता से उसे आसन कहते हैं। वह पद्मासन, दण्डासन और स्वस्तिक आदि हैं। यह आसन जब स्थिर कम्परहित और योगी को सुखदायक होते हैं तब योग के अङ्ग कहे जाते हैं ॥४६॥

इन आसनों से स्थिर सुख प्राप्त करने का उपाय अगले सूत्र में कहेंगे—

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

सूत्र का पदार्थ—(प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्) प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त में चित्त लगाने से आसन सिद्ध होता है ॥ ४७ ॥

सू० का भा०—प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त के ज्ञान से आसन सिद्धि होती है ॥ ४७ ॥

व्या० दे० का भा०—भवतीति वाक्यशेषः । प्रयत्नोपरमात्सिद्ध्यत्यासनं येन नाङ्गमेजयो भवति । अनन्ते वा समापन्नम् चित्तमासनं निर्वर्तयतीति ॥ ४७ ॥

भा० का पदा०—प्रयत्न के उपरत होने से आसन सिद्ध होता है, जिससे अङ्ग कम्पित नहीं होते । वा अनन्त परब्रह्म में लगा हुआ चित्त आसन को सिद्ध करता है ॥ ४७ ॥

भा० का भा०—प्रयत्न के शिथिल होने से आसन सिद्ध होता है और अङ्ग निश्चल होते हैं । एवम् आसन से चित्त की चञ्चलता क्षय हो जाती है ॥ ४७ ॥

भो० वृ०—तदासनं प्रयत्नशैथिल्येनाऽऽनन्त्यसमापत्त्या च स्थिरं सुखं भवतीति सम्बन्धः । यदा यदा आसनं बध्नामि इति इच्छां करोति प्रयत्नशैथिल्येऽपि अक्लेशेनैव तदा तदा आसनं सम्पद्यते । यदा चाऽऽकाशादिगत आनन्त्ये चेतसः समापत्तिः क्रियतेऽवधानेन तादात्म्यमापद्यते तदा देहाहङ्काराभावान्नासऽऽनं दुःखजनकं भवति । अस्मिश्चाऽऽसनजये सति समाध्यन्तरायभूता विघ्ना न प्रभवन्ति अङ्गमेजयत्वादयः ॥ ४७ ॥

तस्यैवानुनिष्पादितं फलमाह—

भो० वृ० का भा०—वह आसन प्रयत्न की शिथिलता से तथा अनन्त आकाशादि में मन लगाने से स्थिर सुख देनेवाला होता है । अर्थात् योगी जब चाहे कि मैं आसन लगाऊँ तब ही बिना अधिक परिश्रम के आसन को जमा सके एवम् योगी का चित्त जब अनन्त आकाश में वा अनन्त ध्येय में चला जाता है तब योगी को अपने शरीर को संभालने का ज्ञान नहीं रहता, जब देहाध्यास नहीं रहता तब योग के विघ्न अङ्गमेजयत्व (अङ्गों का कांपना) आदि भी नहीं होते; किन्तु

आसन के जय से वह समाधि के विघ्न अङ्गमेजयत्व आदि को भी जीत लेता है ॥ ४७ ॥ आसन जय का और फल कहते हैं--

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

सूत्र का पदार्थ—(ततः) तदनन्तर (द्वन्द्वानभिघातः) सुख दुःखादि द्वन्द्वों से अभिघात नहीं होता ॥ ४८ ॥

सूत्र का भा०—आसन स्थिर होने पर सुख दुःखादि द्वन्द्व योगी को नहीं सताते ॥ ४८ ॥

व्यास दे० का भा०—शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते ॥ ४८ ॥

भा० का प०—आसन के जीतने से शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों से पराजित नहीं होता ॥ ४८ ॥

भा० का भा०—जो मनुष्य आसन सिद्ध नहीं कर सकता उसको द्वन्द्व दुःख देते हैं और आसन सिद्ध होने पर ये दुःख नहीं देते ॥ ४८ ॥

भो० वृ०—तस्मिन्नासनजये सति द्वन्द्वैः शीतोष्णक्षुत्तृष्णादिभिर्योगी नाभिहन्यत इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

आसनजयानन्तरं प्राणायाममाह—

भो० वृ० का भा०—उस आसन के जीत लेने पर शीत, उष्ण और भूख, प्यास आदि द्वन्द्वों से योगी सताया नहीं जाता ॥ ४८ ॥

आसन-जय के लाभ कह कर प्राणायाम के विषय में बतलाते हैं—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

सूत्र का पदार्थ—(तस्मिन्सति) स्थिर आसन हो जाने से (श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः) जो श्वास और प्रश्वास की गति का अवरोध होता है (प्राणायामः) उसे प्राणायाम कहते हैं ॥ ४९ ॥

सूत्र का भा०—आसन स्थिर होने से जो प्राण की गति का अवरोध होता है उसे प्राणायाम कहते हैं ॥ ४९ ॥

व्या० दे० का भा०—सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः । कौष्ठ्यस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासः, तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ॥ ४९ ॥ स तु—

भा० का प०—आसन सिद्ध हो जाने पर बाह्य वायु को जो ग्रहण किया जाता है. उसे श्वास कहते हैं। तथा भीतर की वायु को जो बाहर निकालना है, उसे प्रश्वास कहते हैं। उन दोनों की गति का जो अवरोध है अर्थात् दोनों का अभाव उसे प्राणायाम कहते हैं ॥४९॥

भा० का भा०—बाह्य वायु का जो आचमन किया जाता है, उसे श्वास और जो उदर की वायु को बाहर निकाला जाता है उसे प्रश्वास कहते हैं और दोनों की गति के अवरोध को प्राणायाम कहते हैं ॥ ४९ ॥

भो० वृ०—आसनस्थैर्य्ये सति तन्निमित्तकः प्राणायामलक्षणो योगाङ्गविशेषोऽनुष्ठेयो भवति। कीदृशः, श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः। श्वासप्रश्वासौ निरुक्तौ। तयोस्त्रिधा रेचनस्तम्भनपूरणद्वारेण बाह्याभ्यन्तरेषु स्थानेषु गतेः प्रवाहस्य विच्छेदो धारणं प्राणायाम उच्यते ॥ ४९ ॥

तस्यैव सुखावगमाय विभज्य स्वरूपं कथयति—

भो० वृ० का भा०—आसन जय हो जाने पर उसके आश्रय से योगांग प्राणायाम का अनुष्ठान करना चाहिये। उस प्राणायाम का

लक्षण यह है कि श्वास और प्रश्वास की गति को रोकदेना, श्वास और प्रश्वास के लक्षण पहिले कह चुके हैं । उस श्वास और प्रश्वास को रोकने की तीन रीति हैं---रेचन (कोष्ठस्थ वायु को बाहर निकालना), स्तम्भन (रोकना), पूरण (फिर खींचना) बाहर और भीतर उनकी गति को रोक देना प्राणायाम कहाता है ॥ ४९ ॥ सहज में प्राणायाम को समझाने के वास्ते प्राणायाम के विभाग कहते हैं—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

सू० का पदार्थ—(स तु) वह प्राणायाम (बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः) बाह्य, आभ्यन्तर तथा स्तम्भवृत्ति से तीन प्रकार का (देशकालसंख्याभिः) देश, काल और संख्याओं से (परिदृष्टः) देखा गया है (दीर्घसूक्ष्मः) दीर्घ और सूक्ष्म है ॥ ५० ॥

सू० का भा०---वह प्राणायाम तीन प्रकार का है—१–बाह्य, २-आभ्यन्तर और ३–स्तम्भवृत्ति ॥ ५० ॥

व्या० दे० का भा०—यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः । यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः । तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति । यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः सङ्कोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद्गत्यभाव इति । त्रयोऽप्येते देशेन परिदृष्टा इयानस्य विषयो देश इति । कालेन परिदृष्टाः क्षणानामियत्तावधारणेनावच्छिन्ना इत्यर्थः । संख्याभिः परिदृष्टा एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्घातस्तद्वन्निगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीय उद्घात एवं तृतीयः । एवं मृदुरेवं मध्य एवं तीव्र इति संख्यापरिदृष्टः । स खल्वयमेवमभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्मः ॥५०॥

भा० का पदा०-जहाँ प्रश्वासपूर्वक गति का अभाव हो वह बाह्य और जहाँ श्वासपूर्वक गति का अभाव हो वह आभ्यन्तर है। तीसरा स्तम्भवृत्ति वह है जहाँ एकबार के प्रयत्न से दोनों का अभाव हो जैसे तपे हुवे पत्थर पर डाला हुआ जल सब तरफ से संकुचित हो जाता है, तैसे ही उनमें एक साथ गति का अभाव हो जाता है। ये तीनों देशदृष्ट, कालदृष्ट और संख्यादृष्ट कहलाते हैं। देश की सीमा से जो परिमित हो वह देशदृष्ट, समय की सीमा से जो परिमित हो वह कालदृष्ट कहलाता है। संख्यादृष्ट वे हैं कि जिनमें यह भाव धारण किया जाय कि इतने श्वास प्रश्वासों के रोकने से पहला उद्घात और इतनों के रोकने से दूसरा उद्घात होता है। ऐसे ही तीसरा, ऐसे ही मृदु, ऐसे ही मध्य ऐसे ही तीव्र में श्वास प्रश्वासों की संख्या की जाती है। ये संख्यापरिदृष्ट कहाता है, सो निश्चय किया हुआ यह अभ्यास दीर्घ और सूक्ष्म कहाता है॥ ५० ॥

भा० का भा०—जिसमें प्रश्वास अर्थात् भीतर के श्वास को बाहर निकाल कर श्वास को रोका जाता है उसे बाह्य प्राणायाम कहते हैं जहां वायु के अन्तर्गमन का अभाव हो वह आभ्यन्तर है। तीसरा वह प्राणायाम है जहाँ दोनों का स्तम्भ हो, उसे स्तम्भवृत्ति कहते हैं। यहां दृष्टान्त है-जैसे अग्नि में तपे पत्थर पर पानी डालने से संकुचित हो जाता है, वैसे ही इस में दोनों का स्तम्भ हो जाता है सो अभ्यास किये हुए पुरुष से हो सकता है यह ही इसका विषय है इसे देश परिदृष्ट कहते हैं। यही उसका क्षण है इसको काल परिदृष्ट कहते हैं। इतने श्वास प्रश्वास का प्रथम इतने ही का दूसरा इतने ही का तीसरा उद्घात है। ऐसे ही मृदु, मध्य, तीव्र के समय का जिससे निर्धारण किया जाय, उसे संख्या परिदृष्ट कहते हैं॥ ५० ॥

भो० वृ०--बाह्यवृत्तिः श्वासो रेचकः। अन्तर्वृत्तिः प्रश्वासः पूरकः। अन्तस्तम्भवृत्तिः कुम्भकः। तस्मिन् जलमिव कुम्भे निश्चल-

तथा प्राणा अवस्थाप्यन्त इति कुम्भकः। त्रिविधोऽयं प्राणायामो देशेन कालेन संख्यया चोपलक्षितो दीर्घसूक्ष्मसंज्ञो भवति। देशेनोपलक्षितो यथा–नासाद्वादशान्तादौ। कालेनोपलक्षितो यथा – षट्त्रिंशन्मात्रादिप्रमाणः। संख्ययोपलक्षितो यथा—इयतो वारान् कृत एतावद्भिः श्वास प्रश्वासैः प्रथम उद्घातो भवतीति। एतत्ज्ञानाय संख्याग्रहणमुपात्तम्। उद्घातो नाम नाभिमूलात् प्रेरितस्य वायोः शिरसि अभिहननम्॥ ५०॥

त्रीन् प्राणायामाननभिधाय चतुर्थमभिधातुमाह–

भो० वृ० का भा०—कोष्ठस्थ वायु को जो बाहर निकाला जाता है उस श्वास को रेचक कहते हैं। प्रश्वास को जो भीतर खींचा जाता है उसे पूरक कहते हैं और भीतर जो श्वास का रोका जाता है वह कुम्भक कहाता है। यह तीन प्रकार का प्राणायाम देश, काल और संख्या के उपलक्षण से दीर्घ प्राणायाम और सूक्ष्म प्राणायाम नामक दो भेदवाला होजाता है। देशोपलक्षित प्राणायाम उसे कहते हैं जिस में नाभिदेश वा हृदयदेश में प्राणों को स्थिर करने का उद्देश्य रहता है अथवा एकान्त वन आदि के उपलक्ष से जो प्राणायाम होता है। कालापेक्षित वह प्राणायाम है जिस में काल का नियम रक्खा जाता है। जितने काल में पलक लगती है उसको पल कहते हैं और जितने काल में तीन वार चुटकी बजाई जाय उसे मात्रा कहते हैं, किन्तु महर्षि पाणिनि के मत में एक मात्रा उतने काल की संज्ञा है जितने काल में हाथ की नाड़ी एक वार फुदकती वा चलती है इस मात्रा के हिसाब से जो प्राणायाम किया जाता है उसे कालोपेक्षित प्राणायाम कहते हैं। संख्योपलक्षित वह प्राणायाम है जिस में यह नियम किया जाय कि इतनी बार प्राणायाम करूँगा वा इतने श्वास से पहिला उद्घात होगा, इस ज्ञान की रक्षा के वास्ते सूत्रकार ने संख्या शब्द लिखा है। उद्घात का अर्थ यह है कि नाभि स्थान से जो वायु प्रयत्न द्वारा प्रेरित होती है उसका सिर में बल पूर्वक लगना॥ ५०॥

तीन प्राणायामों का वर्णन करके अब चौथे प्राणायाम को कहेंगे—

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

सूत्र का पदार्थ—(बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी) बाह्य-विषय और आभ्यन्तर विषयों का जिसमें परित्याग किया जाता है (चतुर्थः) वह चतुर्थ प्राणायाम है ॥ ५१ ॥

सूत्र का भा०—जिसमें बाह्य विषय और आभ्यन्तर विषयों का परित्याग हो वह चौथा प्राणायाम है ॥ ५१ ॥

व्या० दे० का भा०—देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः । तथाऽऽभ्यन्तरविषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः । उभयथा दीर्घसूक्ष्मः । तत्पूर्वको भूमिजयात्क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः । तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः । चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात्क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेष इति ॥ ५१ ॥

भा० का प०—देश, काल और संख्या के द्वारा बाह्य विषयों को देखकर परित्याग करना ऐसे ही आभ्यन्तर विषयों को अच्छे प्रकार से देख कर त्याग करना दोनों प्रकार से दीर्घ और सूक्ष्म होता है। जो क्रम से दोनों की गति का अभाव होता है वह चतुर्थ प्राणायाम है और तीसरा तो जिस का विषय सोचा नहीं गया है जिसमें एक बार आरम्भ करने ही से देश, काल और संख्या के द्वारा प्राणों की गति का अभाव देखा गया है वह दीर्घ सूक्ष्म है । चौथा प्राणायाम वह है श्वास और प्रश्वास के विषय को निर्धारित करने से क्रम से भूमिका के जय से दोनों

के निरोधपूर्वक जो गति का निरोध किया जाता है वह चौथा प्राणायाम है ॥ ५१ ॥

भा० का भा०—चौथा प्राणायाम वह है जो दीर्घ और सूक्ष्म से भिन्न हो और जिस में श्वास और प्रश्वास की गति का अवरोध हो जाय और क्रम से जिस में भूमिकाओं का जय हो जाय ॥ ५१ ॥

भो० वृ०—प्राणस्य बाह्यो विषयो नासाद्वादशान्तादिः । आभ्यन्तरो विषयो हृदयनाभिचक्रादिः । तौ द्वौ विषयौ आक्षिप्य पर्यालोच्य यः स्तम्भरूपो गतिविच्छेदः स चतुर्थः प्राणायामः । तृतीयस्मात् कुम्भकाख्यादयमस्य विशेषः—स बाह्याभ्यन्तरविषयौ अपर्यालोच्यैव सहसा तप्तोपलनिपतितजलन्यायेन युगपत्स्तम्भवृत्त्या निष्पद्यते । अस्य तु विषयद्वयाक्षेपको निरोधः । अयमपि पूर्ववद्देशकालसंख्याभिरुपलक्षितो द्रष्टव्यः ॥ ५१ ॥ चतुर्विधस्यास्य फलमाह —

भो० वृ० का भा०—(देशबन्धश्चित्तस्य धारणा) सूत्र के विवरण में कह चुके हैं कि प्राण धारण का बाह्य विषय नासिका आदि है और आभ्यन्तर विषय हृदय और नाभिचक्र आदि हैं इन दोनों विषयों की आलोचना अर्थात् कालोपलक्षित और संख्योपलक्षित पूर्वोक्त प्राणायामों के द्वारा क्रम से योग भूमियों को जीतकर जो स्तम्भरूप श्वास प्रश्वास की गति को रोका जाता है वह चौथा प्राणायाम है । पूर्व सूत्र में कहा जो कुम्भक प्राणायाम है उस से इस का इतना भेद है कि कुम्भक में बाह्य और आभ्यन्तर विषयो को बिना विचारे ही प्राणों की गति से ऐसे रोक दिया जाता है जैसे जलते हुये पत्थर पर पानी डालने से जल आप ही चारों ओर से सिमट जाता है और इस चतुर्थ प्राणायाम में बाह्य और आभ्यन्तर विषय की आलोचनापूर्वक निरोध किया जाता है इस के भी देश. काल और संख्या के उपलक्षण से वैसे ही भेद समझने चाहियें जैसे पहिले सूत्र में कह आये हैं ॥ ५१ ॥

आगे चारों प्रकार के प्राणायामों का फल कहते हैं—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

सूत्र का पदार्थ—(ततः) प्राणायाम सिद्धि के अनन्तर (क्षीयते) नाश होता है (प्रकाशावरणम्) ज्ञान का आच्छादन ॥ ५२ ॥

सूत्र का भा०—प्राणायाम सिद्धि के अनन्तर ज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है ॥ ५२ ॥

व्या० दे० का भा०—प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म। यत्तदाचक्षते-महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुङ्क्त इति। तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसारनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासात् दुर्बलं भवति प्रतिक्षणञ्च क्षीयते। तथाचोक्तम्—'तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य'' इति ॥५२॥ किञ्च-

भा० का प०—प्राणायाम का अभ्यास करने वाले योगी के विवेक ज्ञान को आच्छादन करने वाला अर्थात् जिससे ज्ञान ढका है वह कर्म नाश होता है, जैसा कि कहा जाता है—महामोहमय इन्द्रजाल के द्वारा प्रकाशशील सत्त्व को ढककर वही आवरण अकार्य में प्रयुक्त करता है। वही इस योगी के प्रकाश को आवरण करने वाला कर्म संसार का निबन्धक है। वह प्राणायामों के अभ्यास से दुर्बल होता है और प्रतिक्षण क्षीण होता है तैसा ही अन्यत्र भी कहा है प्राणायाम से अधिक कोई तप नहीं, क्योंकि उससे मलादि की शुद्धि और ज्ञान की दीप्ति होती है ॥ ५२ ॥

भा० का भा०—प्राणायामों का अभ्यास करने वाले योगी का विवेक ज्ञान को आच्छादन करने वाला कर्म क्षीण होता है। जो कर्म

महामोहमय इन्द्रजाल से प्रकाश का आच्छादन कहाता है वही इसको अकार्य में प्रयुक्त करता है, प्राणायाम करने से वही कर्म क्षीण होता है, तसा ही अन्यत्र भी कहा है कि प्राणायाम से अधिक तप नहीं है. क्योंकि उस से मलादि की शुद्धि और ज्ञान का प्रकाश होता है ॥ ५२ ॥

भो० वृ०—ततस्तस्मात् प्राणायामात् प्रकाशस्य चित्तसत्त्वगतस्य यदावरणं क्लेशरूपं तत्क्षीयते विनश्यतीत्यर्थः ॥ ५२ ॥ फलान्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—उस प्राणायाम से चित्त के प्रकाश पर जो क्लेशरूप आवरण अर्थात् ढकना लगा हुआ है वह दूर हो जाता है ॥ ५२ ॥ दूसरा फल कहते हैं—

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

सूत्र का पदार्थ—(धारणासु च) और धारणाओं में (मनसः) मन की (योग्यता) योग्यता होती है ॥ ५३ ॥

सूत्र का भा०—और प्राणायाम से धारणाओं में मन की योग्यता होती है ॥ ५३ ॥

व्या० दे० का भा०—प्राणायामाभ्यासादेव । "प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य" इति वचनात् ॥ ५३ ॥ अथ कः प्रत्याहारः—

भा० का प०—प्राणायाम के अभ्यास से ही धारणा में मन की योग्यता होती है। क्योंकि "प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य" इस सूत्र में प्राण के प्रच्छर्दन और विधारण से चित्त की प्रसन्नता वर्णन की गई है ॥ ५३ ॥

भा० का भा०—"श्वास के वहिर्गमन और धारण से" ऐसा लिखने से तात्पर्य यह है कि प्राणायाम के अभ्यास से जब ज्ञान को

आवरण करने वाला मल क्षय हो जाता है तब प्राणायाम का दूसरा फल यह होता है कि योगी का चित्त धारणाओं में स्थिर होने के योग्य हो जाता है ॥ ५३ ॥

भो० वृ०—धारणा वक्ष्यमाणलक्षणास्तासु प्राणायामैः क्षीणदोषं मनो यत्र यत्र धार्यते तत्र तत्र स्थिरीभवति न विक्षेपं भजते ॥ ५३ ॥

प्रत्याहारस्य लक्षणमाह—

भो० वृ० का भा०—जिन धारणाओं का लक्षण आगे कहा जायगा उनमें प्राणायामों से मन के सब दोष दूर होकर जहां २ मन को लगाया जाता है वहीं २ वह स्थिर हो जाता है अर्थात् फिर मन पूर्वोक्त विक्षेपों में नहीं फँसता है ॥ ५३ ॥

आगे प्रत्याहार का लक्षण कहते हैं—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

सूत्र का पदार्थ—(स्वविषयासम्प्रयोगे) अपने विषय का जो असम्प्रयोग अर्थात् ग्रहण को न करना (चित्तस्य स्वरूपानुकार इव इन्द्रियाणाम्) चित्त के स्वरूप को अनुकरण करने के समान इन्द्रियों का भाव जिसमें होजाय (प्रत्याहारः) वह प्रत्याहार कहाता है ॥५४॥

सूत्र का भा०—जिसमें चित्त इन्द्रियों के सहित अपने विषय को त्याग कर केवल ध्यानावस्थित होजाय उसे प्रत्याहार कहते हैं ॥५४॥

व्यास दे० का भा०—स्वविषयसम्प्रयोगाभावे चित्तस्वरूपानुकार इवेति, चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रिय-

जयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते। यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्त-मनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येव प्रत्याहारः॥ ५४॥

भा० का पदा०—अपने विषय का योग न होने से चित्त स्वरूप के समान इन्द्रियाँ भी हो जाती हैं चित्त के समान जिसमें इन्द्रियों का निरोध हो जाय इतर इन्द्रियों के जीतने में जब दूसरे उपायों की अपेक्षा न रहे जैसे रानी मक्खी के पीछे जब वह उड़ती है तब सब मक्खियाँ उड़ती हैं जब वह छाते में प्रविष्ट होती है तब सब मक्खियाँ भी बैठ जाती हैं। इस ही प्रकार से इन्द्रियां भी चित्त के निरोध होने से निरुद्ध हो जाती हैं यह प्रत्याहार है॥ ५४॥

सूत्र का भा०—जब चित्त विषयों के चिन्तन से उपरत होकर स्वस्थ हो जाता है, तब इन्द्रियाँ भी चञ्चलता रहित हो जाती हैं। उस शान्त अवस्था को प्रत्याहार कहते हैं॥ ५४॥

भो० वृ०—इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रतीपमाह्रियन्तेऽस्मिन् इति प्रत्याहारः। स च कथं निष्पद्यत इत्याह—चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां स्वविषयो रूपादिस्तेन सम्प्रयोगस्तदाभिमुख्येन वर्त्तनं तदभावस्तदाभिमुख्यं परित्यज्य स्वरूपमात्रेऽवस्थानं, तस्मिन् सति चित्तस्वरूपमात्रानुकारीणी-न्द्रियाणि भवन्ति। यतश्चित्तमनुवर्त्तमानानि मधुकरराजमिव मक्षिकाः सर्वाणीन्द्रियाणि प्रतीयन्ते अतश्चित्तनिरोधे तानि प्रत्याहृतानि भवन्ति। तेषां तत्स्वरूपानुकारः प्रत्याहार उक्तः॥ ५४॥ प्रत्याहारफलमाह—

भो० वृ० का भा०—प्रत्याहार का अर्थ यह है कि इन्द्रियां विषयों के चिह्नमात्र संस्कार को लेकर जिसमें आ छिपें वह प्रत्याहार है। प्रत्याहार किस प्रकार से प्राप्त होता है। इसका वर्णन करते हैं—मन आदि इन्द्रियां अपने रूपादि विषयों में जो मुख्य भाव से लगी हुई हैं, उन विषयों को परित्याग कर अपने स्वरूपमात्र से जो स्थिर रहना

है वह इन्द्रियों का स्थिरभाव है। उसके पश्चात् इन्द्रियां चित्त का अनुकरण करने लगेंगी क्योंकि सब इन्द्रियां चित्त के पीछे चलने वाली या आधीन रहती हैं। जैसे रानी मक्खी के आधीन सब मधुमक्खी होती हैं, इस कारण चित्त के निरुद्ध होने से सब इन्द्रियां विषयों को त्याग कर चित्त के साथ निरुद्ध हो जाती हैं। इन्द्रियों की इस निरुद्धावस्था को प्रत्याहार कहते हैं ॥ ५४ ॥ आगे प्रत्याहार के फल को कहते हैं—

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

सूत्र का पदार्थ—(ततः) उस प्रत्याहार से (परमा-वश्यता) अत्यन्त वश में हो जाना (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों का ॥ ५५ ॥

सूत्र का भा०—प्रत्याहार से इन्द्रियां अत्यन्त वशमें होती हैं॥५५॥

व्या० दे० का भा०—शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित्। सक्तिर्व्यसनं व्यस्यत्येनं श्रेयस इति। अविरुद्धा प्रतिपत्तिर्न्याय्या। शब्दादिसम्प्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये। रागद्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित्। चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः। ततश्च परमा त्वियं वश्यता यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवत्प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति ॥ ५५ ॥

भा० का प०—शब्दादि विषयों में आसक्ति का होना ही इन्द्रियों का जीतना कहाता है, ऐसा कोई २ भाष्यकार कहते हैं। आसक्ति को ही व्यसन कहते हैं; क्योंकि वह योगी को कल्याण से दूर फेंकता है। कोई २ शास्त्र के अविरुद्ध आसक्ति को अनुचित नहीं बतलाते। शब्दादि विषयों का अनुष्ठान स्वाभाविक ही होता है, यह भी किसी २ का मन्तव्य है। राग द्वेष के अभाव में सुख और दुःख से

शून्य का शब्दादि ज्ञान इन्द्रियजय है ऐसा कोई २ कहते हैं । चित्त की एकाग्रता से विषयों का ध्यान न करना ऐसा जैगीषव्य ऋषि का मत है तब यह परम वश्यता होती है । जो चित्त के निरोध में सब इन्द्रियां निरुद्ध होती हैं और इन्द्रियजय के समान प्रयत्न से किये हुए उपायान्तर की अपेक्षा करता है ॥ ५५ ॥

भा० का भा०—शब्दादि विषयों में विरक्ति होना ही इन्द्रियों का जीतना कहाता है ऐसा कोई मुनि कहते हैं । इन्द्रियों की विषयों में आसक्ति व्यसन कहाती है क्योंकि वह योगी को कल्याण से दूर फेंकती है । शब्दादि विषयों का अनुष्ठान स्वाभाविक होता है यह किसी २ का मत है । पूर्वोक्त राग द्वेष के अभाव में सुख दुःख शून्य होना यह किसी का मत है । चित्त की एकाग्रता से शब्दादि बाह्य विषयों का ग्रहण न करना ही इन्द्रियजय है यह जैगीषव्य महर्षि का मत है । निज इन्द्रियजय से जो चित्त के निरोध में इन्द्रिय निरोध होता है उस से अन्य योगी लोग यत्न नहीं ढूँढते अर्थात् उस ही से योग सिद्ध होता है ॥ ५५ ॥

भो० वृ०—अभ्यस्यमाने हि प्रत्याहारे तथा वश्यानि आयत्तानीन्द्रियाणि सम्पद्यन्ते यथा बाह्यविषयाभिमुखतां नीयमानान्यपि न यान्तीत्यर्थः ।

तदेवं प्रथमपादोक्तलक्षणस्य योगस्याङ्गभूतक्लेशतनूकरणफलं क्रियायोगमभिधाय क्लेशानामुद्देशम् स्वरूपं कारणं क्षेत्रं फलं चोक्त्वा कर्मणामपि भेदं कारणं स्वरूपं फलं चाभिधाय विपाकस्य स्वरूपं कारणं चाभिहितम् । ततस्त्याज्यत्वात् क्लेशादीनां ज्ञानव्यतिरेकेण त्यागस्याशक्यत्वात् ज्ञानस्य च शास्त्रायत्तत्वाच्छास्त्रस्य च हेयहानकारणोपादेयोपादानकारणबोधकत्वेन चतुर्व्यूहत्वात् हेयस्य च हानव्यतिरेकेण स्वरूपानिष्पत्तेर्हानसहितं चतुर्व्यूहं स्वस्वकारणसहितमभिधायोपादेयकारणभूताया विवेकख्यातेः कारणभूतानामन्तरङ्गबहिरङ्गभावेन स्थितानां योगाङ्गानां यमादीनां स्वरूपं फलसहितं व्याकृत्याऽऽसनादीनां धारणापर्य्यन्तानां

परस्परमुपकार्य्योपकारकभावेनावस्थितानामुद्देशमभिधाय प्रत्येकम् लक्षण-करणपूर्वकं फलमभिहितम् । तदयं योगो यमनियमादिभिः प्राप्तबीजभाव आसनप्राणायामैरङ्कुरितः प्रत्याहारेण पुष्पितो ध्यानधारणासमाधिभिः फलिष्यतीति 'व्याख्यातः साधनपादः ॥ ५५ ॥

भो० वृ० का भा०—प्रत्याहार का अभ्यास करने से इन्द्रियां वश में हो जाती हैं, फिर उनको यदि बाह्य विषयों में लगाया भी जाय तो भी वह विषयों को ग्रहण नहीं करती हैं अर्थात् स्वयम् योग में प्रीतिमती हो जाती हैं ॥ ५५ ॥

उपसंहार ।

प्रथम पाद में जिस योग का वर्णन किया था, इसके ही अङ्ग क्लेश नाशक क्रियायोग का इस द्वितीय पाद में वर्णन किया है । क्लेशों के उद्देश, क्लेशों के स्वरूप, क्लेशों के कारण, क्लेशों के उत्पत्तिस्थान और क्लेशों के फल का भी विधिवत् वर्णन किया है । पश्चात् कर्मों के भेद, कारण, स्वरूप और फल का भी वर्णन कर चुके, फिर कर्मविपाक (फल वा वासना) का कारण और स्वरूप भी कहा इस के अनन्तर क्लेशों का हेयत्व (त्याग) और क्लेश बिना ज्ञान के नहीं छूटते हैं और ज्ञान शास्त्र से प्राप्त होता है और शास्त्र इन चारो बातों का बोधक हैं । हेय (त्यागने योग्य) हेयहेतु, उपादेय और उपादान कारण जिस से उपादेय का ज्ञान होता है इन्हीं चारों बातों का योगशास्त्र में वर्णन है इस कारण शास्त्र भी चतुर्व्यूह कहाता है, हेय का स्वरूप हान के अतिरिक्त सिद्ध नहीं हो सकता है इस लिये हान के सहित उक्त चारों बातों का कारणों के सहित वर्णन करके उपादेय का कारण जो विवेक-ख्याति है उस के कारण अर्थात् योग के अन्तरङ्ग और बहिरंग साधन स्वरूप यम आदि के लक्षण और फल का भी वर्णन किया. फिर आसन और धारणादि के परस्पर उपकार्योपकारक (जो एक दूसरे के उपकार को करते हैं अर्थात् परस्पर सहायकारी हैं) भाव कह कर उनमें से

प्रत्येक के लक्षण, कारण और फल का वर्णन आदि इसही पाद में किया गया है। इससे सिद्ध है कि यम नियमादि से योगी के चित्त में योग का बीज बोया जाता है। आसन और प्राणायाम से उस बीज में अंकुर उत्पन्न होता है। प्रत्याहार से उस पर पुष्प आता है और ध्यान, धारणा तथा समाधि से उस वृक्ष पर फल लगता है यही इस साधनपाद का संक्षिप्त फलितार्थ है।

इति श्रीपातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे
द्वितीयः पादः समाप्तः।

अथ विभूतिपादः।
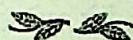
देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

सूत्र का पदार्थ—(देशबन्धः) देशबन्ध (चित्तस्य) चित्त की (धारणा) धारणा कहलाती है ॥ १ ॥

सूत्र का भा०—चित्त को नाभि आदि स्थानों मे स्थिर करने को धारणा कहते हैं ॥ १ ॥

व्या० दे० का भा०—नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि-ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा ॥ १ ॥

भा० का प०—नाभिचक्र में, हृदय-कमल में, कपाल में, नासिका के अग्रभाग में, जिह्वा के अग्रभाग में इत्यादि स्थानों में अथवा बाह्य विषयों में चित्त का वृत्तियों के द्वारा स्थिर होना धारणा कह-लाती है ॥ १ ॥

भा० का भा०—नाभि आदि अन्तर्देशों वा बाह्य देशों में वृत्ति के द्वारा जो चित्त को स्थिर किया जाता है वह धारणा कहलाती है ॥ १ ॥

पहिला सूत्र वि०—बाह्य विषय का अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों के जो रूपादि स्थूल अर्थात् तन्मात्र हैं उनमें चित्त को लगाना भी धारणा शब्द का वाच्य है, आजकल जो हठयोग वाले षट्चक्र भेदन का अभ्यास किया करते हैं वह भी इस ही सूत्र के आभास से करते हैं और थियोसोफिष्ट लोग इस ही सूत्र से बाह्य विषय अर्थात् किसी चित्र विशेष वा वस्तु विशेष में चित्त को लगाने का अभ्यास किया करते हैं परन्तु ये सब क्रियायें योगी को हानि पहुँचाती हैं ॥ १ ॥

भो० वृ०—तदेवं पूर्वोद्दिष्टं धारणाद्यङ्गत्रयं निर्णेतुं संयमसंज्ञाभिधानपूर्वकम् बाह्याभ्यन्तरादिसिद्धिप्रतिपादनाय लक्षयितुमुपक्रमते । तत्र धारणायाः स्वरूपमाह—देशे नाभिचक्रनासाग्रादौ चित्तस्य बन्धो, विषयान्तरपरिहारेण यत् स्थिरीकरणम् सा चित्तस्य धारणोच्यते। अयमर्थः-मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मवासितान्तःकरणेन यमनियमवता जितासनेन परिहृतप्राणविक्षेपेण प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामेण निर्बाधे प्रदेश ऋजुकायेन जितद्वन्द्वेन योगिना नासाग्रादौ संप्रज्ञातस्य समाधेरभ्यासाय चित्तस्य स्थिरीकरणं कर्त्तव्यमिति ॥ १ ॥ धारणामभिधाय ध्यानमभिधातुमाह—

भो० वृ० का भा०—इस रीति से पूर्वपाद में कहे धारणादि योग के तीन अङ्गों के निर्णय के निमित्त संयम संज्ञा का वर्णन पूर्वक बाह्यसिद्धि और आभ्यन्तरसिद्धि को वर्णन करने का उद्योग करते हैं। उन तीनों में से प्रथम धारणा का स्वरूप कहते हैं—

देश अर्थात् नाभिचक्र और नासिका के अग्रभाग आदि में जो चित्त का बन्ध अर्थात् विषयों को त्यागकर स्थिर करना है वह धारणा कहाती है। अभिप्राय यह है कि मुदिता और मैत्री आदि जिस योगी के अन्तःकरण में पूरित हो गये हैं, यम नियम को जिसने धारण किया है,

आसन को जिसने जीता है जिसके चित्त के मल-विक्षेप दूर हो गये हैं, प्राणों के विक्षेप जिसके दूर हो गये हैं, इन्द्रियाँ जिसकी वशमें हो गईं हैं, विघ्नरहित स्थान में योग सेवन से जिसके द्वन्द्व दूर हो गये हैं उस योगी को नासिका के अग्रभाग वा नाभिचक्रादि में संप्रज्ञात समाधि का अभ्यास करने के निमित्त अपने चित्त को स्थिर करना चाहिये ॥ १ ॥

धारणा कहकर ध्यान का वर्णन करते हैं--

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

सूत्र का पदार्थ—(तत्र) नाभि आदि स्थानों में (प्रत्ययैकतानता) ज्ञान की स्थिरता (ध्यानम्) ध्यान कहाती है ॥ २ ॥

सू० का भा०—नाभि आदि देशों में जो ध्येय का ज्ञान होता है उसे ध्यान कहते हैं ॥ २ ॥

व्या० दे० भा०—तस्मिन् देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ॥ २ ॥

भा० का प०—उन नाभि आदि स्थानों में ध्येयालम्बन रूप-ज्ञान की स्थिरता अर्थात् सदृश ज्ञान का प्रवाह और ज्ञानों से जो सम्बन्ध न रखता हो उसे ध्यान कहते हैं ॥ २ ॥

भा० का भा०—नाभि आदि स्थानों में ध्येय के ज्ञान में चित्त का लय हो जाना और उसमें दूसरे ज्ञान का अभाव हो जाना ध्यान कहाता है ॥ २ ॥

भो० वृ०—तत्र तस्मिन् प्रदेशे यत्र चित्तं धृतं तत्र प्रत्ययस्य ज्ञानस्य या एकतानता विसदृशपरिणामपरिहारद्वारेण यदेव धारणायामालम्बनीकृतम् तदालम्बनतयैव निरन्तरमुत्पत्तिः सा ध्यानमुच्यते ॥ २ ॥

चरमं योगाङ्गम् समाधिमाह—

भो० वृ० का भा०—जिस स्थान में चित्त को धारण किया था उस में जो ज्ञान की एकतानता अर्थात् विसदृश परिणाम त्याग द्वारा जो धारणा में आलम्बन होता है उसे ध्यान कहते हैं ॥ २ ॥

अब अन्तिम योग के अङ्ग समाधि को कहते हैं—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

सूत्र का पदार्थ—(तदेव) वही ध्यान (अर्थमात्रनिर्भासम्) अर्थमात्र संस्कारमात्र रहजाय (स्वरूपशून्यमिव) स्वरूपशून्य सा प्रतीत हो (समाधिः) उसे समाधि कहते हैं ॥ ३ ॥

सूत्र का भा०—जिस में ध्यान का संस्कार मात्र रह जाय और स्वरूप शून्य के समान हो जाय उसे समाधि कहते हैं ॥ ३ ॥

व्या० दे० का भा०—इदमत्रबोध्यम्—ध्यातृध्येयध्यानकलनावत् ध्यानं तद्रहितं समाधिरिति । ध्यानसमध्योर्विभागः । अस्य च समाधिरूपस्याङ्गस्याङ्गिनियोगः सम्प्रज्ञातयोगादयं भेदो यदत्र चिन्तारूपतया निःशेषतो ध्येयस्वरूपं न भासते अङ्गिनि तु संप्रज्ञाते साक्षात्कारोदये समाध्यविषया अपि विषया भासन्त इति । तथा च साक्षात्कारयुक्तैकाग्रकाले सम्प्रज्ञातयोगः । अन्यदा तु समाधिमात्रमिति विभागः समाधिः । ध्यानमेव ध्येयाकार निर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते ॥ ३ ॥

भा० का प०—यहाँ ऐसा जानना चाहिये—ध्याता ध्यान करनेवाला, ध्येय-जिसका ध्यान किया जाय तथा ध्यान इन तीनों का प्रभेद

जिस में प्रतीत हो वह ध्यान कहाता है। उस भेद से रहित को समाधि कहते हैं। यही ध्यान और समाधि में भेद है। इस समाधि रूप योगाङ्ग का अङ्गी सम्प्रज्ञातयोग से यही भेद है कि समाधि में चिन्ता विनष्ट हो जाने के कारण ध्येय का स्वरूप प्रकाशित नहीं होता सम्प्रज्ञात में साक्षात्कार के उदय होने से समाधि के अगम्य विषय भी प्रतीत होते हैं तथा साक्षात्कार से युक्त एकाग्र अवस्था में सम्प्रज्ञात योग होता है और समय में तो समाधि योग होता है यही विभाग है। ध्यान ही ध्येय के आकार में परिणत होकर जब ज्ञान स्वरूप से शून्य के समान हो जाता है अर्थात् ध्याता में जब ध्येय के स्वभाव का आवेश हो जाता है तब समाधि होती है ॥ ३ ॥

भा० का भा०—पूर्व लिखे लक्षणों में सन्देह होता है कि ध्यान और समाधि में क्या भेद है.? इसका उत्तर यह है कि ध्यान में ध्यातृ, ध्येय, ध्यान की त्रिपुटि का ज्ञान बना रहता है, किन्तु समाधि में वह नहीं रहता। अब यह सन्देह हुआ कि पूर्व लिखित सम्प्रज्ञात योग और समाधि में क्या प्रभेद है? इस का उत्तर यह है कि समाधि में योगी निर्विकल्प हो जाता है इस से ध्येय का स्वरूप भान नहीं होता किन्तु सम्प्रज्ञात योग में साक्षात्कार के उदय होने से समाधि में जो विषय ज्ञात नहीं होते वे विषय भी प्रकाशित होते हैं। इस से यह सिद्ध हुआ कि साक्षात्कारयुक्त एकाग्र अवस्था में सम्प्रज्ञात योग और अन्य समय में समाधि योग होता है अर्थात् समाधि का लक्षण यही है कि ध्यान में ध्येय के स्वभाव का आवेश हो जाने को समाधि सिद्धि कहते हैं ॥ ३ ॥

तीसरा सूत्र "सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः।" विघ्नों को निवारण करके जिस में मन को एकाग्र किया जाय उसे समाधि कहते हैं ॥ ३ ॥

भो० वृ०—तदेवोक्तलक्षणं ध्यानं यत्रार्थमात्रनिर्भासमर्थाकार-समावेशादुद्भूतार्थरूपं न्यग्भूतज्ञानस्वरूपत्वेन स्वरूपशून्यतामिवाऽऽपद्यते स

समाधिरित्युच्यते । सम्यगाधीयते एकाग्री क्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः ॥ ३ ॥

उक्तलक्षणस्य योगाङ्गत्रयस्य व्यवहाराय स्वशास्त्रे तान्त्रिकीं संज्ञां कर्त्तुमाह—

भो० वृ० का भा०—जिस ध्यान का लक्षण पूर्व कह आये हैं वही ध्यान अर्थाकार अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से अर्थों का ज्ञान जिसमें हो और ध्यान का स्वरूप जिस में शून्य के समान हो जाय उसे समाधि कहते हैं । इस में ध्याता, ध्यान, ध्येय की त्रिपुटि का ज्ञान नहीं रहता है। समाधि का शब्दार्थ यह है कि भली भाँति धारण किया जाय मन को जिस में अर्थात् मन विक्षेपों को त्याग कर जिस में एकाग्र हो जाता है उसे समाधि कहते हैं ॥ ३ ॥ योग के जो यह तीन अङ्ग ध्यान, धारणा और समाधि हैं इन तीनों का एक शब्द से व्यवहार करने के लिये योगशास्त्र की तान्त्रिकी संज्ञा कहते हैं—

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

सूत्र का पदार्थ—(त्रयम्) तीनों का (एकत्र) एक जगह में होना (संयमः) संयम कहाता है ॥ ४ ॥

सूत्र का भा०—ध्यान, धारणा, समाधि इन तीनों के एक होने को संयम कहते हैं ॥ ४ ॥

व्या० दे० का भा०--तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः । एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते तदस्य त्रयस्य तांत्रिकी परिभाषा संयम इति ॥ ४ ॥

भा० का प०—सो यह ध्यान, धारणा, समाधि तीनों एकत्र होने से संयम कहलाता है । एक विषय वाले तीन साधनों को संयम कहते हैं सो इस शास्त्र में इन तीनों की संयम संज्ञा है ॥ ४ ॥

भा० का भा०—किसी एक ही ध्येय में धारणा, ध्यान और समाधि का करना संयम कहाता है ॥ ४ ॥

भो० वृ०—एकस्मिन् विषये धारणाध्यानसमाधित्रयं प्रवर्त्तमानं संयमसंज्ञया शास्त्रे व्यवह्रियते ॥ ४ ॥ तस्य फलमाह—

भो० वृ० का भा०—एक ही विषय में जो धारणा ध्यान समाधि की जाती है उसका नाम संयम है ॥ ४ ॥

आगे संयम का फल कहते हैं—

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

सू० का पदार्थ—(तज्जयात्) उस संयम के जय से (प्रज्ञालोकः) बुद्धि का प्रकाश होता है ॥ ५ ॥

सूत्र का भा०—संयम के जय से बुद्धि का प्रकाश होता है ॥५॥

व्या० दे० का भा०—तस्य संयमस्य जयात्समाधिप्रज्ञाया भवत्यालोको यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति ॥ ५ ॥

भा० का प०—उस संयम के जीतने से समाधिविषयिणी बुद्धि का प्रकाश होता है जैसे २ संयम स्थिर होता है तैसे २ ईश्वर की कृपा से समाधि विषयिणी बुद्धि निपुण होती जाती है ॥ ५ ॥

भा० का भा०—जैसे २ संयम स्थिर होता है वैसे २ समाधि-विषयिणी बुद्धि निर्मल होती जाती है ॥ ५ ॥

पाँचवाँ सूत्र—अर्थात् जो पदार्थ बुद्धि द्वारा जानने योग्य हैं उनका प्रकाश होता है। यहाँ पर यह शङ्का होती है कि योग के जो पूर्वपाद में आठ अङ्ग हैं उन सब का एक स्थल में वर्णन करके फिर भिन्न भिन्न स्थलों में वर्णन क्यों किया ? इसका उत्तर अगले सूत्र में लिखते हैं ॥ ५ ॥

भो० वृ०—तस्य संयमस्य जयादभ्यासेन सात्म्योत्पादनात् प्रज्ञाया विवेकख्यातेरालोकः प्रसवो भवति। प्रज्ञा ज्ञेयं सम्यगवभासयतीत्यर्थः॥ ५॥ तस्योपयोगमाह—

भो० वृ० का भा०—संयम के जय अर्थात् अभ्यास से प्रज्ञा अर्थात् विवेकख्याति का प्रकाश होता है अर्थात् बुद्धि से जानने योग्य जो पदार्थ वा विषय हैं वे अच्छी भाँति प्रकाशित हो जाते हैं॥ ५॥

संयम का उपयोग (लाभ) कहते हैं—

तस्य भूमिषु विनियोगः॥ ६॥

सूत्र का पदार्थ—(तस्य) उस संयम को (भूमिषु विनियोगः) योग की भूमियों में स्थिर किया जाता है॥६॥

सूत्र का भा०—संयम की स्थिरता योग की भूमियों में क्रमः करनी चाहिये॥ ६॥

व्या० दे० का भा०—तस्य संयमस्य जितभूमेर्याऽनन्तरा भूमिस्तत्र विनियोगः। न ह्यजिताधरभूमिरनन्तरभूमिं विलङ्घ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभते। तदभावाच्च कुतस्तस्य प्रज्ञालोकः। ईश्वरप्रसादाज्जितोत्तरभूमिकस्य च नाधरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्तः। कस्मात्, तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वात्। भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः। कथम्। एवं ह्युक्तम्-

"योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्" इति॥ ६॥

भा० का प०—पूर्वोक्त संयम का जीती हुई भूमि के अनन्तर जो भूमि है उस में विनियोग किया जाता है। नीचे की साढ़ियों को क्रम से बिना उल्लंघन किये प्रान्तभूमि में संयम प्राप्त नहीं होता बिना प्रान्त भूमि में संयम किये बुद्धि का प्रकाश कहाँ और जिस योगी ने ईश्वर

की कृपा से उत्तरभूमि को जीता है उसका नीची भूमि और परीचित ज्ञान में संयम करना युक्त नहीं है क्योंकि इस सीढ़ी के पश्चात् यह सीढ़ी है, इसका बनाने वाला उन विषयों को योगी स्वयं ही जानता है योग ही उपाध्याय है। जैसा कि कहा है—योग को योग से जानना चाहिए. योग से योग प्राप्त होता है, जो योग में अप्रमत्त है वही योग से चिरकाल तक रमण करता है ॥ ६ ॥

भा० का भा०—संयम को योग की भूमियों के द्वारा सिद्ध करे अर्थात् क्रमशः उसमें अभ्यास बढ़ाता जाय, उन सीढ़ियों को योगभूमि कहते हैं। बिना प्रथम भूमि के सिद्ध किये द्वितीय में कोई नहीं जा सकता। ईश्वर की कृपा से जिनको उत्तरभूमियों में संयम प्राप्त हुआ है उन्हें अधोभूमि में संयम करने की कोई आवश्यकता नहीं. क्योंकि उनको भूमियों का परिज्ञान हो जाता है। योग से योग प्रवृत्त होता है, जो योग में सावधान रहता है वही योग में चिरकाल तक आनन्द भोगता है। तात्पर्य यह है कि योग की जो चार कार्यविमुक्ति और तीन चित्तविमुक्ति, सप्त भूमिका कहीं थीं उन ही में योगी को क्रम से संयम करना चाहिये ॥ ६ ॥

भो० वृ०—तस्य संयमस्य भूमिषु स्थूलसूक्ष्मालम्बनभेदेन स्थितासु चित्तवृत्तिषु विनियोगः कर्त्तव्यः. अधरामधरां चित्तभूमिं जितां जितां ज्ञात्वोत्तरस्यां भूमौ संयमः कार्य्यः। न ह्यनात्मीकृताधरभूमिरुत्तरस्यां भूमौ संयमम् कुर्वाणः फलभाग्भवति ॥ ६ ॥

साधनपादे योगाङ्गानि अष्टौ उद्दिश्य पञ्चानां लक्षणं विधाय त्रयाणां कथं न कृतमित्याशङ्क्याऽऽह—

भो० वृ० का भा०—संयम का पूर्व कही भूमिकाओं में अभ्यास करने से, स्थिर हुई जो चित्त की वृत्ति है उसमें विनियोग अर्थात् अनुष्ठान करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि प्रथम योग सम्बन्धिनी नीची चित्तभूमि में पूरा अधिकार जमा के उससे ऊँची भूमि में संयम

करना चाहिए। क्योंकि नीची भूमि में बिना पूरा अधिकार प्राप्त किये जो ऊँची भूमि में संयम करता है वह योग के फल को प्राप्त नहीं होता ॥ ६ ॥

साधनपाद में योग के आठ अङ्गों का वर्णन करके पाँच के लक्षण कहे और तीन को क्यों छोड़ दिया ? इसका उत्तर अगले सूत्र से देते हैं—

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

सूत्र का पदार्थ—(त्रयम्) ध्यान, धारणा और समाधि (अन्तरङ्गम्) अन्तरङ्ग हैं (पूर्वेभ्यः) पहिले यमादिकों से ॥ ७ ॥

सू० का भा०—यमादिकों की अपेक्षा ध्यान, धारणा और समाधि अन्तरङ्ग हैं ॥ ७ ॥

व्या० दे० का भा०—तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरङ्गं सम्प्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वेभ्यो यमादिभ्यः पञ्चभ्यः साधनेभ्य इति ॥ ७ ॥

भा० का प०—सो यह धारणा, ध्यान, समाधि तीनों अन्तरङ्ग साधन हैं। सम्प्रज्ञात समाधि के पूर्वोक्त यमादिक पाँच साधनों से ॥ ७ ॥

भा० का भा०—धारणा, ध्यान समाधि, यह तीनों पूर्व कहे संप्रज्ञात योग के यमादि पाँच साधनों से अन्तरङ्ग साधन हैं, अर्थात् इनसे प्रत्यक्ष संप्रज्ञात योग की सिद्धि होती है ॥ ७ ॥

सातवें सूत्र का वि०-तात्पर्य यह है कि यमादि ५ अङ्ग सम्प्रज्ञात योग के बहिरङ्ग साधन हैं और धारणा, ध्यान, समाधि यह तीनों सम्प्रज्ञात योग के अन्तरङ्ग साधन हैं ॥ ७ ॥

भो० वृ०—पूर्वेभ्यो यमादिभ्यो योगाङ्गेभ्य: पारम्पर्य्येण समाधे-रुपकारकेभ्यो धारणादियोगाङ्गत्रयं सम्प्रज्ञातस्य समाधेरन्तरङ्गम् समाधि-स्वरूपनिष्पादनात् ॥ ७ ॥

तस्यापि समाध्यन्तरापेक्षया बहिरङ्गत्वमाह—

भो० वृ० का भा०—पूर्व कहे यम आदि योग के अङ्ग परम्परा अर्थात् हिंसादिवितर्कों को नाश करने से योग के सहायक हैं; परन्तु धारणा आदिक तीन सम्प्रज्ञात समाधि में साक्षात् सहायक हैं इस कारण वे योग के अन्तरङ्ग साधन हैं और यमादिक बहिरङ्ग हैं ॥ ७ ॥

निर्बीज समाधि के वे भी बहिरङ्ग हैं इस बात को अगले सूत्र में कहते हैं—

तदपि बहिरङ्गम् निर्बीजस्य ॥८॥

सूत्र का पदार्थ—(तदपि) यह धारणादिक तीन भी (बहिरङ्गम्) बहिरङ्ग साधन हैं (निर्बीजस्य) निर्बीज समाधि के ॥ ८ ॥

सूत्र का भा०—निर्बीज समाधि के ध्यानादिक भी बहिरंग साधन हैं ॥ ८ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—तदप्यन्तरङ्गम् साधनत्रयं निर्बीजस्य योगस्य बहिरङ्गम् भवति । कस्मात्, तदभावे भावादिति ॥ ८ ॥

अथ निरोधचित्तक्षणेषु चलं गुणवृत्तमिति कीदृशस्तदा चित्तपरिणाम: ?

भा० का प०— पूर्वोक्त तीनों अन्तरंग साधन निर्बीज योग के बहिरंग होते हैं क्योंकि उनके विना भी निर्बीज योग होता है ॥ ७ ॥

भा० का भा०—ध्यानादि असम्प्रज्ञात योग के बहिरंग साधन हैं, अन्तरंग नहीं ॥ ८ ॥

भो० वृ०—निर्बीजस्य निरालम्बनस्य शून्यभावनापरपर्यायस्य समाधेरेतदपि योगाङ्गत्रयं बहिरङ्गम् पारम्पर्येणोपकारकत्वात् ॥ ८ ॥

इदानीं योगसिद्धिराख्यातुकामः संयमस्य विषयपरिशुद्धिं कर्तुं क्रमेण परिणामत्रयमाह—

भो० वृ० का भा०—जो समाधि शून्य के समान निरालम्ब वा निर्बीज (असम्प्रज्ञात) होती है उसके धारणादि तीनों बहिरङ्ग साधन हैं, क्योंकि ये भी परम्परा से उसके सहायक हैं ॥ ८ ॥

योग से जो सिद्धि प्राप्त होती हैं उनका वर्णन करने के अभिप्राय से संयम के विषय को स्पष्ट करने के निमित्त तीन प्रकार के परिणाम कहते हैं—

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभव-प्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

सूत्र का पदार्थ—(व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः) चञ्चलता और एकाग्रता के संस्कारों का (अभिभवप्रादुर्भावौ) जो गुप्त और प्रकट होना (निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः) निरोध क्षण में जो चित्त का अन्वय उसे निरोधपरिणाम कहते हैं ॥ ९ ॥

सूत्र का भा०—क्षिप्तादिक चित्तकी चञ्चलता और निरोध वृत्तियों के जो संस्कार उन संस्कारों का जो प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है उस क्षण में निरोध के अनुसार जो चित्त का परिणाम होता है उसे निरोधपरिणाम कहते हैं ॥ ९ ॥

व्या० दे० कृ० भा०---व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धा निरोधसंस्कारा अपि चित्तधर्मास्तयोरभिभवप्रादुर्भावौ व्युत्थानसंस्कारा हीयन्ते निरोधसंस्कारा आधीयन्ते । निरोधक्षणं चित्तमन्वेति तदेकस्य चित्तस्य प्रतिक्षणमिदं संस्कारान्यथात्वं निरोधपरिणामः । तदा संस्कारशेषं चित्तमिति निरोधसमाधौ व्याख्यातम् ॥ ६ ॥

भा० का प०---व्युत्थानादिसंस्कार जो चित्त के धर्म हैं वे ज्ञानात्मक नहीं होते, ज्ञान के निरोध में नहीं रुकते हैं. अर्थात् परिणामी हैं। निरोधसंस्कार भी चित्त के धर्म हैं। वे जब गुप्त वा प्रकट होते हैं, तब व्युत्थान संस्कार नष्ट हो जाते हैं और निरोधसंस्कार धारण किये जाते हैं, निरोध का अनुयायी चित्त को मान कर उस एक चित्तका प्रतिक्षण संस्कार निर्णय निरोध का परिणाम है यह निरोधसमाधि में चित्तका व्याख्यान किया गया है ॥ ६ ॥

भा० का भा०---व्युत्थान संस्कार और निरोध संस्कार यह दोनों चित्त के धर्म हैं। व्युत्थान संस्कार अज्ञानकृत होता है जिस समय निरोध संस्कारों का उदय होता है उस समय व्युत्थान संस्कार अस्त हो जाता है, निरोध क्षण में जो चित्त का परिणाम होता है उसी संस्कार शेष चित्त को निरोधसंस्कृत चित्त कहते हैं ॥ ६ ॥

नवमे सूत्र का वि०-इस सूत्र का भावार्थ यह है कि यद्यपि चित्त का धर्म स्वाभाविक ही व्युत्थान अर्थात् चंचलता है तो भी जिस क्षण में व्युत्थान के धर्मों का तिरोभाव और निरोध के धर्मों का प्रादुर्भाव होता है, उस ही अवस्था को निरुद्धावस्था कहते हैं ॥ ६ ॥

भो० वृ०---व्युत्थानं क्षिप्तमूढविक्षिप्ताख्यं भूमित्रयम्। निरोधः प्रकृष्टसत्त्वस्याङ्गितया चेतसः परिणामः। ताभ्यां व्युत्थाननिरोधाभ्यां यौ जनितौ संस्कारौ तयोर्यथाक्रममभिभवप्रादुर्भावौ यदा भवतः। अभिभवो न्यग्भूततया कार्य्यकरणासामर्थ्येनावस्थानम्। प्रादुर्भावो वर्त्तमानेऽध्वनि

अभिव्यक्तरूपतया आविर्भावः । तदा निरोधक्षणे चित्तस्योभयलक्षणत्वादन्वयो यः स निरोधपरिणाम उच्यते । अयमर्थः—यदा व्युत्थानसंस्काररूपो धर्म्मस्तिरोभूतो भवति, निरोधसंस्काररूपश्च आविर्भवति धर्म्मिरूपतया च चित्तमुभयान्वयित्वेऽपि निरोधात्मनाऽवस्थितं प्रतीयते, तदा स निरोधपरिणामशब्देन व्यवह्रियते । चलत्वाद्गुणवृत्तस्य यद्यपि चेतसो निश्चलत्वं नास्ति तथाऽपि एवंभूतः परिणामः स्थैर्य्यमुच्यते ॥ ९ ॥

तस्यैव फलमाह—

भो० वृ० का भा०—व्युत्थान शब्द से क्षिप्त मूढ़ और विक्षिप्त इन तीन अवस्थाओं का ग्रहण होता है, निरोध शब्द से बुद्धि और चित्त के उत्तम परिणाम का ग्रहण होता है । इन दोनों व्युत्थान और निरोध से उत्पन्न हुए जो संस्कार उनके क्रम से अभिभव और प्रादुर्भाव जब होते हैं, अभिभव का अर्थ शिथिल होने से कार्य करने में असमर्थ होना है और प्रादुर्भाव का अर्थ यह है कि वर्त्तमान मार्ग में स्पष्ट रूप से प्रकाशित हो जाना, जब निरोध के लक्षण प्रकट होते हैं तब जो व्युत्थान से सम्बन्ध रहता है उसे निरोध परिणाम कहते हैं । अभिप्राय यह है कि जब व्युत्थान के संस्कार छिपते हैं और निरोध के संस्कार प्रकट होते हैं, तब चित्त दोनों संस्कारों से युक्त होने पर भी निरोधस्वरूप जान पड़ता है, चित्त की इस दशा को निरोधपरिणाम कहते हैं । यद्यपि चित्त गुणों के प्रभाव से कभी अचल नहीं होता तो भी निरोधपरिणाम चित्त का स्थिर भाव कहाता है ॥ ९ ॥ निरोध परिणाम के फल को कहते हैं—

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

सूत्र का पदार्थ—(संस्कारात्) उत्तम संस्कारों से (तस्य) चित्त का (प्रशान्तवाहिता) शान्त प्रवाह होता है ॥ १० ॥

सूत्र का भा०—उत्तम संस्कारों से चित्त का शान्त प्रवाह होता है ॥ १० ॥

व्या० दे० कृ० भा०—निरोधसंस्कारान्निरोधसंस्काराभ्यासपाटवापेक्षा प्रशान्तवाहिता चित्तस्य भवति। तत्संस्कारमान्द्ये व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण निरोधधर्मसंस्कारोऽभिभूयत इति ॥ १० ॥

भा० का प०—निरोध संस्कार से निरोध संस्कारों के अभ्यास की पटुता की अपेक्षा चित्त की प्रशान्तवाहिता होती है निरोधसंस्कार के मन्द होने पर व्युत्थान संस्कारों के द्वारा निरोधधर्म वाला संस्कार तिरोभूत अर्थात् दबा हुआ रहता है ॥ १० ॥

भा० का भा०—चित्त की वृत्तियों को निरोध करने वाले संस्कार के अभ्यास से चित्त की प्रशान्तवाहिता अर्थात् निर्मलता स्थिरता होती है और उस के पूर्व चित्त में चञ्चलता रहती है ॥ १० ॥

भो० वृ०—तस्य चेतसो निरुक्तान्निरोधसंस्कारात् प्रशान्तवाहिता भवति। परिहृतविक्षेपतया सदृशप्रवाहपरिणामि चित्तं भवतीत्यर्थः ॥१०॥

निरोधपरिणाममभिधाय समाधिपरिणाममाह—

भो० वृ० का भा०—चित्त की उक्त निरोधसंस्कार से प्रशान्तवाहिता अर्थात् विघ्न वा चञ्चलता रहित स्थिति होती है फलितार्थ यह है कि चित्त के विक्षेप दूर हो जाने के कारण सदृश परिणाम प्रवाह वाला चित्त हो जाता है ॥ १० ॥ निरोधपरिणाम का वर्णन करके समाधि परिणाम का वर्णन करते हैं—

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

सूत्र का पदार्थ—(सर्वार्थतैकाग्रतयोः) सर्वार्थता अर्थात् अनेक विषयों के विचार से चञ्चल रहना और एकाग्रता का जो (क्षयोदयौ) क्षय और उदय होता है (चित्तस्य समाधिपरिणामः) वह चित्त की समाधि का परिणाम है ॥ ११ ॥

सूत्र का भा०—चित्त की सर्वार्थता का क्षय और एकाग्रता का जो उदय है वह चित्त की समाधि का परिणाम है । फलितार्थ यह हुआ कि क्षिप्त अवस्था का त्याग देना और एकाग्रता का उदय होना यही समाधि का फल है ॥ ११ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—सर्वार्थता चित्तधर्मः । एकाग्रताऽपि चित्तधर्मः । सर्वार्थतायाः क्षयस्तिरोभाव इत्यर्थः । एकाग्रताया उदय आविर्भाव इत्यर्थः । तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तं, तदिदं चित्तमपायोपजनयोः स्वात्मभूतयोर्धर्मयोरनुगतं समाधीयते स चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

भा० का प०— सर्वार्थता चित्त का गुण है और एकाग्रता भी चित्त का धर्म है । सर्वार्थता का क्षय अर्थात् विलीन होजाना और एकाग्रता का उदय अर्थात् प्रकट होना इन धर्मों से युक्त चित्त है । पूर्वोक्त चित्त अपाय अर्थात् पुनः उत्पन्न होना तद्रूप दो धर्मों में प्राप्त हुआ स्थिर होता है वह चित्त की समाधि का परिणाम है ॥ ११ ॥

भा० का भा०—सर्वार्थता और एकाग्रता दोनों चित्त के धर्म हैं जब चित्त क्षिप्त और विक्षिप्त अवस्थाओं को त्याग कर एकाग्र अवस्था में स्थिर होता है तब वही समाधि का परिणाम है ॥ ११ ॥

भो० वृ०—सर्वार्थता चलत्वान्नानाविधार्थग्रहणं चित्तस्य विक्षेपो धर्म्मः । एकस्मिन्नेवाऽऽलम्बने सदृशपरिणामितैकाग्रता, साऽपि

चित्तस्य धर्मः । तयोर्यथाक्रमं क्षयोदयौ सर्वार्थतालक्षणस्य धर्मस्य क्षयोऽत्यन्ताभिभव एकाग्रतालक्षणस्य धर्मस्य प्रादुर्भावोऽभिव्यक्तिश्चित्तस्योद्रिक्तसत्त्वस्यान्वयितयाऽवस्थानं समाधिपरिणाम इत्युच्यते । पूर्वस्मात्परिणामादस्यायं विशेषः—तत्र संस्कारलक्षणयोर्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ पूर्वस्य व्युत्थानसंस्काररूपस्य न्यग्भावः । उत्तरस्य निरोधसंस्काररूपस्योद्भवोऽनभिभूतत्वेनावस्थानम् । इह तु क्षयोदयाविति सर्वार्थतारूपस्य विक्षेपस्यात्यन्ततिरस्काराद‌नुत्पत्तिरतीतेऽध्वनि प्रवेशः क्षय एकाग्रतालक्षणस्य धर्मस्योद्भवो वर्त्तमानेऽध्वनि प्रकटत्वम् ॥ ११ ॥

तृतीयमेकाग्रतापरिणाममाह—

भो० वृ० का भा०—चित्त के चंचल होने से अनेक विषयों को एक साथ ग्रहण करना सर्वार्थता कहलाती है और यही विक्षेप कहलाता है इससे विक्षेप चित्त का स्वभाव है एक ही विषय के आलम्बन में रहना अर्थात् सदृशपरिणाम एकाग्रता है वह भी चित्तका धर्म है । इन दोनों धर्मों का क्रम से क्षय और उदय अर्थात् सर्वार्थता रूप धर्म का क्षय अत्यन्त तिरस्कार और एकाग्रता रूप धर्म का प्रादुर्भाव अर्थात् प्रकाशित होना चित्त के साथ स्थिर भाव से रहना समाधिपरिणाम कहाता है । पूर्वोक्त परिणाम से इस परिणाम में यही भेद है कि उसमें संस्कार और लक्षण का तिरोभाव और प्रादुर्भाव होता है अर्थात् पहले व्युत्थान रूप संस्कार का तिरोभाव होता है पुनः निरोध संस्कार का प्रादुर्भाव । और इस समाधिपरिणाम में सर्वार्थता के अत्यन्त तिरस्कार से फिर उसका उत्पन्न न होना अर्थात अतीत मार्ग में प्रविष्ट होना और एकाग्रता रूप धर्म का उद्भव अर्थात् वर्त्तमान मार्ग में वर्त्तना सिद्ध है ॥११॥

शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

सूत्र का पदार्थ—(शान्तोदितौ) शान्त और उदित (तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्य) चित्त के समान ज्ञान हैं (एकाग्रतापरिणामः) यह एकाग्रता का परिणाम है ॥ १२ ॥

सूत्र का भा०—शान्त प्रत्यय और उदित प्रत्यय चित्त के समान ज्ञान हैं यही एकाग्रता का परिणाम है ॥ १२ ॥

व्या० दे० का भा०—समाहितचित्तस्य पूर्वप्रत्ययः शान्त उत्तरस्तत्सदृश उदितः, समाधिचित्तमुभयोरनुगतं पुनस्तथैवाऽऽसमाधिभ्रेषादिति । स खल्वयं धर्मिणश्चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

भा० का प०—जिस योगी का चित्त सावधान हो गया है उसका जो प्रथम ज्ञान है, उसे शान्त प्रत्यय कहते हैं । ऐसे ही उत्तर ज्ञान को उदित प्रत्यय कहते हैं । समाधिस्थ चित्त जब दोनों प्रत्ययों से युक्त होता है और समाधि के छूटने तक फिर वैसा ही हो जाता है उस उक्त धर्म वाले चित्त की जो एकाग्रता है उसे एकाग्रता का परिणाम कहते हैं ॥ १२ ॥

भा० का भा०—चित्त के दो गुण हैं एक शान्तप्रत्यय और दूसरा उदित प्रत्यय । जब मनुष्य इन दोनों गुणों से ऊद्धवंगत होता है, तब इस के चित्त की एकाग्रता होती है और वही एकाग्रता का परिणाम है ॥ १२ ॥

भो० वृ०—समाहितस्यैव चित्तस्यैकप्रत्ययो वृत्तिविशेषः शान्तोऽतीतमध्वानं प्रविष्टः । अपरस्तूदितो वर्तमानेऽध्वनि स्फुरितः । द्वावपि समाहितचित्तत्वेन तुल्यावेकरूपालम्बनत्वेन सदृशौ प्रत्ययावुभयत्रापि समाहितस्यैव चित्तस्यान्वयित्वेनावस्थानं, स एकाग्रतापरिणाम इत्युच्यते ॥ १२ ॥ चित्तपरिणामोक्तम् रूपमन्यत्राप्यतिदिशन्नाह—

ओ० वृ० का भा०---सावधान चित्त की ही एकाग्र वृत्ति होती है, शान्त पूर्व बीते हुवे मार्ग में प्रविष्ट होता है, उदित वर्त्तमान मार्ग में लगा हुआ है; परन्तु यह दोनों समाधान चित्त को होते हैं इस कारण दोनों समान हैं क्योंकि इन दोनों का आश्रय एक है इन दोनों में जो चित्त की स्थिति होती है वह एकाग्रता परिणाम कहाता है ॥ १२ ॥

चित्त का परिणाम कह कर ऐसा ही परिणाम औरों में भी होता है। यही अगले सूत्र में कहेंगे---

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्था-परिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

सूत्र का पदार्थ---(एतेन) पूर्वसूत्रोक्त उपाय से (भूतेन्द्रियेषु) इन्द्रियों में (धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः) धर्म्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्था-परिणाम कहे गये हैं ॥ १३ ॥

सू० का भा०---पूर्वोक्त चित्तपरिणाम के कथन से इन्द्रियों के जो धर्म्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम होते हैं, उनका कथन भी समझना योग्य है ॥ १३ ॥

व्या० दे० कृ० भा०---एतेन पूर्वोक्तेन चित्तपरिणामेन धर्म्मलक्षणावस्थारूपेण भूतेन्द्रियेषु धर्म्मपरिणामो लक्षणपरिणामोऽवस्थापरिणामश्चोक्तो वेदितव्यः। तत्र व्युत्थाननिरोधयोर्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ धर्मिणि धर्म्मपरिणामः। लक्षणपरिणामश्च निरोधस्त्रिलक्षणस्त्रिभिरध्वभिर्युक्तः। स खल्वनागतलक्षणमध्वानं प्रथमं हित्वा धर्म्मत्वमनतिक्रान्तो वर्तमानलक्षणम्

प्रतिपन्नः । यत्रास्य स्वरूपेणाभिव्यक्तिः । एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा। न चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तः ।

तथा व्युत्थानं त्रिलक्षणं त्रिभिरध्वभिर्युक्तम् वर्तमानलक्षणं हित्वा धर्म्मत्वमनतिक्रान्तमतीतलक्षणं प्रतिपन्नम् । एषोऽस्य तृतीयोऽध्वा । न चानागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तम्। एवं पुनर्व्युत्थानमुपसंपद्यमानमनागतलक्षणं हित्वा धर्म्मत्वमनतिक्रान्तं वर्तमानलक्षणं प्रतिपन्नम् । यत्रास्य स्वरूपाभिव्यक्तौ सत्यां व्यापारः । एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा । न चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तमिति । एवं पुनर्निरोध एवं पुनर्व्युत्थानमिति।

तथाऽवस्थापरिणामः । तत्र निरोधक्षणेषु निरोधसंस्कारा बलवन्तो भवन्ति दुर्बला व्युत्थानसंस्कारा इति । एष धर्माणामवस्थापरिणामः। तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो धर्माणां त्र्यध्वनां लक्षणैः परिणामो लक्षणानामप्यवस्थाभिः परिणाम इति। एवं धर्म्मलक्षणावस्थापरिणामैः शून्यं न क्षणमपि गुणवृत्तमवतिष्ठते। चलं च गुणवृत्तम् । गुणस्वाभाव्यं तु प्रवृत्तिकारणमुक्तं गुणानामिति । एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्म्मधर्म्मिभेदात् त्रिविधः परिणामो वेदितव्यः ।

परमार्थतस्त्वेक एव परिणामः । धर्म्मिस्वरूपमात्रो हि धर्मो धर्मिविक्रियैवैषा धर्म्मद्वारा प्रपञ्च्यत इति । तत्र धर्म्मस्य धर्मिणि वर्तमानस्यैवाध्वस्वतीतानागतवर्तमानेषु भावान्यथात्वं भवति न तु द्रव्यान्यथात्वम् । यथा सुवर्णभाजनस्य भित्त्वाऽन्यथाक्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वमिति । अपर आह—धर्मानभ्यधिको धर्मी पूर्वतत्त्वानतिक्रमात् । पूर्वापरावस्थाभेदमनुपतितः कौटस्थ्येनैव परिवर्तेत, यद्यन्वयी स्यादिति। अयमदोषः । कस्मात् । एकान्ततानभ्युपगमात् तदेतत्त्रैलोक्यं

व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात् । अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात् । संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यं, सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिरिति ।

लक्षणपरिणामो धर्मोऽध्वसु वर्तमानोऽतीतोऽतीतलक्षण-युक्तोऽनागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः । तथाऽनागतोऽना-गतलक्षणयुक्तो वर्त्तमानातीताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः । तथा वर्त्तमानोवर्त्तमानलक्षणयुक्तोऽतीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्त इति । यथा पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तो न शेषासु विरक्तो भवतीति । अत्र लक्षणपरिणामे सर्वस्य सर्वलक्षणयोगादध्वसंकरः प्राप्नोतीति परैर्दोषश्चोद्यत इति । तस्य परिहारः—धर्माणां धर्मत्वमप्रसाध्यम् । सति च धर्मत्वे लक्षणभेदोऽपि वाच्यो न वर्त्तमानसमय एवास्य धर्मत्वम् । एवं हि न चित्तं रागधर्मकं स्यात् क्रोधकाले रागस्या-समुदाचारादिति ।

किञ्च त्रयाणां लक्षणानां युगपदेकस्यां व्यक्तौ नास्ति सम्भवः । क्रमेण तु स्वव्यञ्जकाञ्जनस्य भावो भवेदिति । उक्तं च रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च विरुध्यन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते । तस्मादसंकरः । यथा रागस्यैव क्वचित्समुदाचार इति न तदानीमन्यत्राभावः, किन्तु केवलं सामान्येन समन्वागत इत्यस्ति तदा तत्र तस्य भावः । तथा लक्षणस्येति । न धर्मी त्र्यध्वा धर्मास्तु त्र्यध्वानस्ते लक्षिता अलक्षिताश्च तां तामवस्थां प्राप्नुवन्तोऽन्यत्वेन प्रतिनिर्दिश्यंतेऽवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः । यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशैकं चैकस्थाने । यथा चैकत्वेऽपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च स्वसा चेति ॥

अवस्थापरिणामे कौटस्थ्यप्रसंगदोषः कैश्चिदुक्तः । कथम् । अध्वनो व्यापारेण व्यवहितत्वात् । यदा धर्मः स्वव्यापारं न करोति तदाऽनागतो यदा करोति तदा वर्त्तमानो यदा कृत्वा निवृत्त-

स्तदाऽतीत इत्येवं धर्म्मधर्मिणोर्लक्षणानामवस्थानां च कौटस्थ्यं प्राप्नोतीति परैर्दोष उच्यते। नासौ दोषः। कस्मात्? गुणिनित्यत्वेऽपि गुणानां विमर्दवैचित्र्यात्। यथा संस्थानमादिमद्धर्ममात्रं शब्दादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनामेवं लिङ्गमादिमद्धर्ममात्रं सत्त्वादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनां तस्मिन् विकारसंज्ञेति।

तत्रेदमुदाहरणं मृद्धर्मी पिंडाकाराद्धर्माद्धर्मान्तरमुपसम्पद्यमानो धर्म्मतः परिणमते घटाकारो इति। घटाकारोऽनागतं लक्षणं हित्वा वर्त्तमान लक्षणं प्रतिपद्यत इति लक्षणतः परिणमते। घटो नवपुराणतां प्रतिक्षणमनुभवन्नवस्थापरिणामं प्रतिपद्यत इति। धर्मिणोऽपि धर्मान्तरमवस्था धर्म्मस्यापि लक्षणान्तरमवस्थेत्येक एव द्रव्यपरिणामो भेदेनोपदर्शित इति।

एवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यमिति। त एते धर्मलक्षणावस्थापरिणामा धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ता इत्येक एव परिणामः सर्वानमून्विशेषानभिप्लवते। अथ कोऽयं परिणामः? अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्म्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणाम इति॥ १३॥ तत्र—

भा० का पदार्थ—पूर्व कहे हुए चित्त के परिणाम से धर्म, लक्षण और अवस्था रूप से भूतेन्द्रिय अर्थात् नेत्रादि इन्द्रियों में धर्म परिणाम लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम समझने योग्य हैं। इन तीनों में से धर्मपरिणाम उसे कहते हैं, जिसमें धर्म्मी अर्थात् इन्द्रियों में व्युत्थान अर्थात् चंचलता और निरोध अर्थात् स्थिरता रूप दो धर्मों का तिरोभाव और प्रादुर्भाव होता है और लक्षण परिणाम वह है जिसमें इन्द्रियनिरोध तीन मार्गों से युक्त होता है वह निरोध प्रथम अनागत लक्षणवाले मार्ग को परित्याग कर गुणता को ग्रहण किये हुए वर्तमान लक्षण को प्राप्त होता है जिस में अपने रूप का प्रकाश होता है यह चित्त का दूसरा मार्ग है जो कि अतीत और अनागत (भूत और भविष्य) के लक्षणों से भिन्न नहीं हैं।

ऐसे ही व्युत्थान भी त्रिलक्षण अर्थात् तीन मार्गों से युक्त है। वर्तमान लक्षण को त्याग कर धर्म भावको ग्रहण किये हुए अतीत अर्थात् भूत लक्षण को प्राप्त हुआ यह चित्त का तीसरा मार्ग है। भविष्य और वर्त्तमान के लक्षणों से युक्त नहीं है. इस ही प्रकार से फिर चञ्चल हुआ चित्त भविष्य लक्षण को परित्याग करके धर्म भाव को ग्रहण किये हुए वर्त्तमान लक्षण को प्राप्त होकर जिस लक्षण में चित्त के स्वरूप का प्रकाश होने से व्यवहृत होता है वह चित्त का दूसरा मार्ग है। जो भूत और भविष्य के लक्षणों से परित्यक्त नहीं होता है। इस रीति से चित्त की फिर एकाग्रता वा निरोध होता है (पुनः व्युत्थानमिति) और फिर चञ्चलता होती है।

इस ही रीति से अवस्था परिणाम है। अवस्था परिणाम में जिस समय में चित्त का निरोध होता है तब निरोध के संस्कार बलवान् होते हैं। चञ्चलता के संस्कार बलहीन हो जाते हैं, इस रीति से चित्त के धर्मों का अवस्था-परिणाम है, उस में धर्मी अर्थात् चित्त का इन धर्मों से परिणाम उक्त तीन मार्ग के आश्रय वाले धर्म्म का लक्षणों से परिणाम और लक्षणों का अवस्थाओं से परिणाम अर्थात् अवस्थान्तर होता है। इस रीति से धर्म, लक्षण और अवस्थाकृत परिणामों से रहित क्षणमात्र भी चित्त नहीं रहता क्योंकि गुण की वृत्तियां स्थिर नहीं रहतीं गुणों का स्वभाव ही चित्त की प्रवृत्ति में कारण कहा है अतएव इन्द्रियों में धर्म और धर्म्मों के भेद से तीन प्रकार का परिणाम जानना चाहिये।

परमार्थ में तो एक ही परिणाम है, क्योंकि धर्म्मों का स्वरूप मात्र ही धर्म है। धर्मी का विकार ही धर्म द्वारा कहा जाता अर्थात् धर्मी के विकार को ही धर्म रूप से कहते हैं (धर्मस्य वर्तमानस्यैवाध्वसु) धर्मी में वर्तमान जो धर्म है वही भूत, भविष्य और वर्तमान कालों में अन्यभाव को प्राप्त होता है, नकि धर्मी द्रव्य अर्थात् गुणी में कुछ वैपरीत्य नहीं होता। जैसे सुवर्ण के पात्र को तोड़ कर दूसरी रीति का

पात्र बनाने से केवल उसके भाव को विकार होता है, नकि सुवर्ण के द्रव्य को।

कोई कहते हैं, धर्म ही पदार्थ है, क्योंकि उसी से धर्मों की अभिव्यक्ति होती है। यदि धर्मों में मिलावट हो तो वे पूर्वापर अवस्था के भेद को प्राप्त होकर बदल जाँय ?

यह दोष नहीं है एकान्तता के न होने से। यदि चिच्छक्ति के समान द्रव्य की भी नित्यतामानी जावे तो ये तीनों लोक व्यक्ति से रहित हो जायँ क्योंकि व्यक्ति में नित्यत्व नहीं है। जब व्यक्ति ही न रही तो फिर विनाश किसका ? इस दशा में यह जगत् कारण में लीन होने से सदा सूक्ष्म और सूक्ष्म होने से अग्राह्य हो जाय। इस लिए धर्मी चिच्छक्ति के समान कूटस्थ नित्य नहीं है, किन्तु प्रवाह से नित्य परिणामी है।

लक्षणपरिणाम धर्म तीनों कालों में रहता है, भूतलक्षण युक्त भविष्य और वर्तमान के लक्षणों से वियुक्त नहीं होता, भविष्य लक्षण युक्त वर्तमान और भूत के लक्षणों से वियुक्त नहीं होता। ऐसे ही वर्तमान लक्षणयुक्त भूत और भाविष्य के लक्षणों से युक्त होता है। जैसे कोई पुरुष एक स्त्री में रक्त होकर औरों से विरक्त नहीं होता।

इस लक्षण परिणाम में सब लक्षणों का योग होने से तीनों मार्गों में सङ्करता प्राप्त होती है।

दूसरे लोग दोष का उद्घाटन करते हैं, उसका उत्तर यह है कि धर्मों का धर्म होना असाध्य है यदि धर्म का धर्म हो तो लक्षण का भेद कहना भी योग्य है। वर्तमान काल में धर्मत्व नहीं होता इस रीति से चित्त रागधर्म वाला सिद्ध नहीं होगा क्योंकि क्रोध के समय में राग समुदाय का आविर्भाव नहीं होता तीनों लक्षणों का एक समय में एक ही व्यक्ति में होना असम्भव है। क्रम से तो ये एक दूसरे के व्यंजक

हो सकते हैं अन्यत्र भी लिखा है रूपातिशय और वृत्ति की अधिकता ये परस्पर विरुद्ध हो सकते हैं और सामान्यतः अतिशयों से मिलकर रहते भी हैं इससे कहीं मार्गसङ्कर नहीं है जैसे राग ही का अधिकार होता है; किन्तु उस राग का दूसरे स्थल में अभाव नहीं केवल सामान्य रूप से दूसरे स्थल में वह है इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय में भी राग की उस स्थल में सत्ता है ऐसे ही लक्षण की भी सत्ता है।

धर्म्मी तीन मार्ग का नहीं है, किन्तु धर्म के ही तीन मार्ग हैं। वे लक्षित और अलक्षित तीन अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं और वही धर्म भिन्न भिन्न नामों से कहे जाते हैं। किन्तु भिन्न भिन्न अवस्थाओं से, द्रव्यान्तर से नहीं। जैसे एक ही रेखा शत के स्थान में शत, दश के स्थान में दश और एक के स्थान में एक ही होती है। जैसे एक ही स्त्री माता पुत्री, भगिनी कहाती है। अवस्था के परिणाम में कूटस्थता दोष आवेगा, यह कोई कहते हैं। मार्ग के व्यवहार से निरुद्ध होने से दोष कैसे होगा जब धर्म्म अपना कार्य्य नहीं करता तब वह अनागत है जब अपने कार्य्य को करता है तब वर्तमान है। जब अपने कार्य्य को करके निवृत्त हो जाता है तब उसे अतीत कहते हैं। इस रीति से धर्म्म और धर्म्मी के लक्षण और अवस्थाओं को कूटस्थता प्राप्त होती है अन्य लोग दोष देते हैं। यह दोष नहीं आसकता। गुणों के रहते भी गुणों के विमर्दन अर्थात् प्रादुर्भाव और तिरोभाव की विचित्रता से जैसे संस्थान अर्थात् अपने स्वरूप से स्थिति, विनाशी और अविनाशी शब्दादि गुणों का पहिला धर्म है, ऐसे ही लिङ्ग अर्थात् लक्षण विनाशी और अविनाशी सत्वादि गुणों का पहिला धर्म है उसमें ही विकार संज्ञा है।

उसमें यह उदाहरण है—मिट्टी पिण्ड के आकार से दूसरे घटादि धर्म को प्राप्त होकर मिट्टी धर्म से ही घटाकार में परिणत होती है। उसका घटाकार भविष्य लक्षण को त्याग कर वर्तमान लक्षण को प्राप्त होता है यह लक्षण का परिणाम प्रतिक्षण में नवीनता और

प्राचीनता को प्राप्त होता हुआ घड़ा अवस्थाकृत परिणाम को प्राप्त होता है। इसी रीति से धर्मी का भी धर्मान्तर अवस्था धर्म का भी लक्षणान्तर अवस्था है। किन्तु द्रव्य परिणाम एक ही है जो भेद से दिखलाया गया है। इस ही क्रम से अन्य पदार्थों में भी युक्त करना योग्य है। ये धर्म, लक्षण और अवस्था के परिणाम धर्मी के स्वरूप को अतिक्रमण नहीं करते, इस लिये एक ही परिणाम इन सब विशेषों में प्रवाहित होता है। यह परिणाम क्या है ? उपस्थित द्रव्य का पूर्वधर्म को त्यागकर अन्य धर्मको ग्रहण करना ही परिणाम है ॥ १३ ॥

भा० का भा०—पूर्व सूत्र में जो चित्त परिणाम का वर्णन किया था उस से इन्द्रियों में लक्षणपरिणाम, धर्म्म परिणाम और अवस्था-परिणाम समझने योग्य हैं। उनमें से जिसमें चित्त का उत्थान और निरोध धर्मों का प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है उसे धर्मपरिणाम कहते है। लक्षणपरिणाम तीन मार्ग युक्त होता है अर्थात् भूतलक्षण परिणाम, भविष्य लक्षणपरिणाम और वर्तमान लक्षणपरिणाम। भूत लक्षणपरिणाम वह है कि जिसमें अनागतलक्षण को परित्याग करके केवल अतीत लक्षण का अनुसरण करता है। किन्तु अतीत लक्षणपरिणाम अन्य परिणामों से नितान्त भिन्न नहीं है, क्योंकि वर्तमान लक्षणपरिणाम, तथा अनागत लक्षणपरिणाम का अंश भी उसमें रहता है, इस ही रीति से वर्तमान लक्षणपरिणाम और अनागत-लक्षणपरिणाम को भी समझना। इनका अभिप्राय यह है कि जब योगी का चित्त समाधि वा निरोध दशा को प्राप्त हो जाता है तब यदि फिर चञ्चलता को धारण कर ले तो उसकी कैसी दशा होगी ? जो तीन प्रकार के परिणाम होते हैं उनमें से एक लक्षणपरिणाम भूत, भविष्य और वर्तमान लक्षण भेद से तीन प्रकार का है। वर्त्तमान परिणाम का अभिप्राय यह है कि जिस दशा में योगी का चित्त परिणत हो उसही दशा में रहेगा, किन्तु अन्य दोनों परिणामो का धर्म भी उसके चित्त में

बना रहेगा और लघूपाय से ही पुनः चित्त स्थिर हो जायगा। यदि फिर चंचलता को धारण करेगा तो अतीत लक्षणपरिणाम को प्राप्त होगा, यद्वा पुनरुत्थान में अनागत लक्षणपरिणाम को धारण करेगा। यद्वा योगाभ्यास से जब उत्तम परिणाम को प्राप्त होगा तो प्रथम अतीत-लक्षणपरिणाम को धारण करता है अर्थात् पूर्व के कुसंस्कार नष्ट हो जाते हैं। द्वितीय वर्तमान परिणाम है और इसके अनन्तर अनागत लक्षण परिणाम होता है। ऐसे ही धर्मपरिणाम तीन मार्गयुक्त होता है इसमें धर्मी में धर्म अर्थात् गुणों का परिणाम होता है इस में धर्मी अर्थात् चित्त व्युत्थान धर्म को त्याग कर निरोध धर्म को धारण करता है। इसके अनन्तर अवस्था परिणाम है, इसमें जिस क्षण में निरोध संस्कारों का उदय होता है उसमे व्युत्थान संस्कारों का बल क्षीण हो जाता है इस रीति से धर्मी में धर्मपरिणाम, और अवस्था परिणाम होते हैं; किन्तु इन तीनों परिणामों से शून्य चित्त नहीं होता क्योंकि गुण कभी स्थायी नहीं रहते किन्तु यथार्थ में परिणाम एक ही है क्योंकि धर्म और धर्मी के भेद से वह सब प्रपञ्च होता है अर्थात् धर्म ही रूपान्तर को प्राप्त होता है जैसे सुवर्ण पात्र को तोड़ कर यदि कोई अन्य अलंकार बनाया जाय तो उस परिणाम से केवल पात्र का रूपान्तर होगा किन्तु सुवर्ण का रूपान्तर नहीं होगा। अब इसमें शंका होती है कि एक ही व्यक्ति में भूत भविष्य और वर्तमान लक्षणों का होना असम्भव है। यदि सम्भव भी हो तो अध्वसंकरता दोष आवेगा ?

इसका उत्तर यह है कि एक काल में सब परिणाम नहीं होते किन्तु यथा क्रम होने में कोई दोष नहीं है जैसे किसी व्यक्ति में राग होता है तो उस से यह नहीं कह सकते हैं कि इस मनुष्य में क्रोध नहीं है किन्तु राग और क्रोध एक समय में नहीं होते जैसे एक मनुष्य किसी स्त्री में अनुरक्त होता है तो वह अन्य स्त्रियों में विरक्त नहीं होता

किन्तु उस समय उस स्त्री में लब्धवृत्ति कहा जायगा, इससे उक्त परिणामों में संकरदोष नहीं आता। इस सब कथन का अभिप्राय यह है कि परिणाम केवल गुणी में होता है, किन्तु गुणों में नहीं। परिणाम का अर्थ है कि पूर्वगुण को परित्याग कर दूसरे गुण को धारण करना ॥१३॥

भो० वृ०—एतेन त्रिविधेनोक्तेन चित्तपरिणामेन भूतेषु स्थूलसूक्ष्मेषु इन्द्रियेषु बुद्धिकर्मान्तःकरणभेदेनावस्थितेषु धर्मलक्षणावस्थाभेदेन त्रिविधः परिणामो व्याख्यातोऽवगन्तव्यः। अवस्थितस्य धर्मिणः पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरापत्तिः धर्मपरिणामः। यथा—मृल्लक्षणस्य धर्मिणः पिण्डरूपधर्मपरित्यागेन घटरूपधर्मान्तरस्वीकारो धर्मपरिणाम इत्युच्यते। लक्षणपरिणामो यथा—तस्यैव घटस्यानागताध्वपरित्यागेन वर्तमानाध्वस्वीकारः। तत्परित्यागेन चातीताध्वपरिग्रहः। अवस्थापरिणामो यथा—तस्यैव घटस्य प्रथमद्वितीययोः सदृशयोः काललक्षणयोरन्वयित्वेन। यतश्च गुणवृत्तिर्नापरिणममाना क्षणमप्यस्ति ॥ १३ ॥

ननु कोऽयं धर्मीत्याशंक्य धर्मिणो लक्षणमाह—

भो० वृ० का भा०—चित्त सम्बन्धी तीन परिणामों के कहने से स्थूल भूत और सूक्ष्मभूत, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय तथा अन्तःकरण में धर्म, लक्षण और अवस्थाभेद से तीन प्रकार के परिणाम सिद्ध हुए समझने चाहियें। धर्मपरिणाम उसे कहते हैं जिसमें धर्मी तो यथास्थित रहे किन्तु पूर्व धर्म निवृत्त होकर उसमें दूसरे धर्म की उत्पत्ति होजाव। जैसे मृत्तिका धर्मी है उसमें पिण्डरूप धर्म के निवृत्त होने से घट रूप धर्मान्तर की उत्पत्ति हो जाती है इसको ही धर्मपरिणाम कहते हैं। लक्षणपरिणाम का अर्थ यह है कि वही घड़ा जब अनागत अर्थात् भविष्य मार्ग को परित्याग करके वर्तमान मार्ग के ग्रहण करने को उद्यत होता है, उसे लक्षणपरिणाम कहते हैं इनके परित्याग से जो पुनः अपने पूर्वमार्ग (रूप) को ग्रहण करना है उसे अवस्थापरिणाम कहते हैं ॥१३॥

अगले सूत्र में धर्मी के लक्षण कहते हैं—

शान्तोदिताऽव्यपदेश्यधर्म्मानुपाती धर्म्मी ॥१४॥

सूत्र का पदार्थ—(शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी) शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्म से युक्त धर्मी होता है ॥ १४ ॥

सूत्र का भा०—शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्मों का धर्मी अनुसरण करता है ॥ १४ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः। स च फलप्रसवभेदानुमितसद्भाव एकस्यान्योऽन्यश्च परिदृष्टः। तत्र वर्तमानः स्वव्यापारमनुभवन्धर्मी धर्मान्तरेभ्यः शान्तेभ्यश्चाव्यपदेश्येभ्यश्च भिद्यते। यदा तु सामान्येन समन्वागतो भवति तदा धर्मिस्वरूपमात्रत्वात् कोऽसौ केन भिद्येत।

तत्र ये खलु धर्मिणो धर्माः शान्ता उदिता अव्यपदेश्याश्चेति, तत्र शान्ता ये कृत्वा व्यापारानुपरताः सव्यापारा उदितास्ते चानागतस्य लक्षणस्य समनन्तरा वर्तमानस्यानन्तरा अतीताः। किमर्थमतीतस्यानन्तरा न भवन्ति वर्तमानाः, पूर्वपश्चिमताया अभावात्। यथाऽनागतवर्तमानयोः पूर्वपश्चिमता नैवमतीतस्य। तस्मान्नातीतस्याऽस्ति समनन्तरः। तदनागत एव समनन्तरो भवति वर्तमानस्येति।

अथाव्यपदेश्याः के ? सर्वम् सर्वात्मकमिति। यत्रोक्तम्-जलभूम्योः पारिणामिकं रसादिवैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टम्। तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेष्वित्येवं जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकमिति।

देशकालाकारनिमित्तापबन्धान्न खलु समानकालमात्मनामभिव्यक्तिरिति। य एतेष्वभिव्यक्तानभिव्यक्तेषु धर्मेष्वनुपाती सामान्यविशेषात्मा सोऽन्वयी धर्मी। यस्य तु धर्ममात्रमेवेदं निरन्वयं तस्य भोगाभावः। कस्मात् ? अन्येन विज्ञानेन कृतस्य कर्मणोऽन्यत्कथं भोक्तृत्वेनाधिक्रियेत। तत्स्मृत्यभावश्च नान्यदृष्टस्य स्मरणमन्यस्यास्तीति। वस्तुप्रत्यभिज्ञानाच्च स्थितोऽन्वयी धर्मी यो धर्मान्यथात्वमभ्युपगतः प्रत्यभिज्ञायते। तस्मान्नेदं धर्ममात्रं निरन्वयमिति ॥ १४ ॥

भा० का प०—धर्मी की योग्यता के अनुसार जो शक्ति है उसही को धर्म कहते हैं और उस धर्म की सत्ता भिन्न भिन्न फलों की उत्पत्ति से अनुमान की जाती है एक धर्म का सद्भाव दूसरों में दीखता है उनमें से वर्तमान धर्म अपने व्यापार का अनुभव करता हुआ अन्य शान्त और अव्यपदेश्य धर्मों से भिन्न हो जाता है और जब सामान्य भाव को प्राप्त होता है तब धर्मी स्वरूपमात्र होने से कौन और किस से भिन्न हो ?

उनमें जो धर्मी के धर्म शान्त, उदित और अव्यपदेश्य हैं इन तीनों धर्मों में से शान्त वे धर्म्म कहाते हैं जो व्यापारों को करके निवृत्त हो गये हों और जो व्यापार से युक्त हैं वे उदित कहाते हैं वे अनागतलक्षणपरिणाम के समीपवर्त्ती होते हैं और वर्तमान के सहचर अतीत होते हैं। भूत के अनन्तर वर्तमान क्यों नहीं होते ? पूर्वता और पश्चिमता के अभाव से जैसे अनागत और वर्तमान की पूर्व पश्चिमता है वैसे अतीत की नहीं (तस्मान्नातीतस्यास्ति समनन्तरः) इस लिए अतीत की अनन्तरता नहीं है इससे अनागत ही वर्तमान का समनन्तर कहाता है।

अव्यपदेश्य कितने और कौन हैं ? सब सब के अन्तर्गत होते हैं, जिसमें यह कहा जाता है जल और भूमि के परिणाम से उत्पन्न हुए

रस आदि का विषम रूप स्थावरों में देखा गया है ऐसे ही स्थावरों का जङ्गमों में और जङ्गमों का स्थावरों में। इस रीति से जाति के अनुच्छेद से सब का परस्पर सम्बन्ध है। देश, काल और निमित्त के बन्धन से एक समय में प्रकाशित नहीं होते। इन अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष धर्म्मों में जो अनुपतन करता है वह सामान्य और विशेष रूप से धर्म्मी कहाता है। जिसका धर्म्म ही सम्बन्ध रहित है उसको भाग का अभाव है क्योंकि दूसरे के ज्ञान से किये हुए कर्म्म का अन्य क्योंकर भोक्ता हो सकता है क्योंकि उसमें उसकी स्मृति का अभाव है अन्य के देखे हुए का दूसरे को स्मरण नहीं हो सकता पदार्थों की प्रत्यभिज्ञा से धर्मी सिद्ध होता है, जो धर्मों के परिणाम को प्राप्त होता भान होता है इस कारण से धर्ममात्र अन्वयरहित नहीं है ॥ १४ ॥

भा० का भा०—वे धर्म्म और धर्मी भिन्न भिन्न फल की उत्पत्ति से जाने जाते हैं और सब धर्म अन्योन्याश्रय होते हैं जैसे वर्तमान धर्म अपने कार्य्यों को करता हुआ अव्यपदेश्य और शान्त धर्मों से परिवर्त्तित हो जाता है जब वर्तमान धर्म सामान्यरूप से रहता है तब उसमें धर्मी अर्थात् आत्मा अपने यथास्थित रूप में रहता है। अब यहां पर प्रश्न होता है कि जो परिवर्त्तित होता है उसका लक्षण क्या है? और किनसे वह परिवर्त्तित होता है। इसका उत्तर यह है कि शान्त धर्म वे कहाते हैं जो अपने कार्य्य को करके निवृत्त हो गये हों और जिनका कार्य्य समाप्त न हुआ हो वे उदित कहाते हैं एवं अव्यपदेश्य व्यापार-रहित होते हैं अर्थात् इनके व्यापार में कभी परिवर्त्तन नहीं होता। उदित धर्म अनागत के समीपवर्त्ती होते हैं क्योंकि वे अवश्यम्भावी होते हैं और वर्तमान के समनन्तर अर्थात् अवश्यम्भावी भूतधर्म होते हैं किन्तु अतीत के समनन्तर वर्तमान नहीं होते क्योंकि उनमें अवश्यम्भाविता (अर्थात् ज़रूर ही यह होंगे) नहीं होती। प्रश्न—अव्यपदेश्य कौन से धर्म्म हैं? उत्तर—जो धर्म सब चराचर में पाये जाते हैं वे अव्यपदेश्य हैं जैसे जल

और पृथिवी के पारिणामिक रसादि गुण सब स्थावर और जङ्गम में होते हैं और इन धर्मों में जो वर्तमान है वही सर्वान्वयी धर्मी आत्मा है अन्यथा अतीत धर्मों का स्मरण करना असम्भव होगा क्योंकि जिसने अपने आप से कर्म किया था वह जब कोई न होगा तब अन्य के कर्म का आश्रय एक धर्मी अवश्य ही मानना योग्य है। इस में यह भी सिद्ध हुआ कि कोई धर्म सम्बन्ध रहित नहीं है ॥ १४ ॥

चौदहवें सूत्र का वि०---इसका तात्पर्य यह है कि शान्त अर्थात् जिनका कार्य समाप्त हो गया ऐसे पीछे बीते हुए धर्म उदित अर्थात् जो इस समय वर्तमान हैं, अव्यपदेश्य अर्थात् जो शक्तिरूप से स्थित है इन तीनों प्रकार के धर्मों का जो धर्मी है उसे शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी कहते हैं ॥ १४ ॥

भो० वृ०--शान्ता ये कृतस्वस्वव्यापारा अतीतेऽध्वनि अनुप्रविष्टाः, उदिता येऽनागतमध्वानं परित्यज्य वर्त्तमानेऽध्वनि स्वव्यापारं कुर्वन्ति, अव्यपदेश्या ये शक्तिरूपेण स्थिता व्यपदेष्टुम् न शक्यंते तेषां यथास्वं सर्वात्मकमित्येवमादयो नियतकार्य्यकारणरूपयोग्यतयाऽवच्छिन्ना शक्तिरेवेह धर्मशब्देनाभिधीयते। तं त्रिविधमपि धर्मं योऽनुपतति अनुवर्त्ततेऽन्वयित्वेन स्वीकरोति स शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मीत्युच्यते। यथा सुवर्णं रुचकरूपधर्मपरित्यागेन स्वस्तिकरूपधर्मान्तरपरिग्रहे सुवर्णरूपतया अनुवर्त्तमानं तेषु धर्मेषु कथञ्चिद्भिन्नेषु धर्मिरूपतया सामान्यात्मना धर्मरूपतया विशेषात्मना स्थितमन्वयित्वेनावभासते ॥ १४ ॥

एकस्य धर्मिणः कथमनेके धर्मा इत्याशङ्कामपनेतुमाह--

भो० वृ० का भा०---शान्त उनको कहते हैं, जो अपने कार्य को करके अतीत अर्थात् भूतमार्ग में प्रविष्ट हो चुके हैं न वे वर्त्तमान काल में कुछ करते हैं और न भविष्य में उनको कुछ कर्त्तव्य है। उदित उनको कहते हैं भविष्य मार्ग में अभी प्रविष्ट नहीं हुए और वर्तमान मार्ग में अपने व्यापार को कर रहे हैं। अव्यपदेश्य वे हैं

जो शक्तिरूप से स्थित हैं जो व्यापार करने के योग्य नहीं हैं जैसे रक्खा हुआ धन होता है नियमित कार्य्यकारण रूप से संयुक्त शक्ति ही धर्म कहाती है। इन तीनों धर्मों को जो ग्रहण करे उसे शान्तोदिताव्यपदेश्य-धर्मानुपाती धर्मी कहते हैं। जैसे सुवर्ण डले के आकार को परित्याग करके अलंकार के रूप को धारण करके सामान्य और विशेष रूप से भी सोना ही प्रतीत होता है ॥ १४ ॥

एक ही धर्मी अनेक धर्मों का आधार क्योंकर हो सकता है इस शङ्का का उत्तर अगले सूत्र में दिया है—

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

सूत्र का पदार्थ—(क्रमान्यत्वम्) क्रम का परिवर्त्तन (परिणामान्यत्वे हेतुः) परिणाम के परिवर्त्तन में कारण है ॥ १५ ॥

सू० का भा०—उक्त परिणामों का हेतु क्रम का परिणाम है॥१५॥

व्या० दे० कृ० भा०—एकस्य धर्मिण एक एव परिणाम इति प्रसक्तेः क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुर्भवतीति। तद्यथा—चूर्णमृत्पिण्डमृद्घटमृत्कपालमृत्कणमृदिति च क्रमः। यो यस्य धर्मस्य समनन्तरो धर्मः स तस्य क्रमः। पिण्डः प्रच्यवते घट उपजायत इति धर्मपरिणामक्रमः। लक्षणपरिणामक्रमो घटस्यानागतभावाद्वर्त्तमानभावः क्रमः। तथा पिण्डस्य वर्तमानभावादतीतभावः क्रमः। नातीतस्यास्ति क्रमः। कस्मात्? पूर्वपरतायां सत्यां समनन्तरत्वं, सा तु नास्त्यतीतस्य। तस्मात् द्वयोरेव लक्षणयोः क्रमः। तथाऽवस्थापरिणामक्रमोऽपि घटस्याभिनवस्य प्रान्ते पुराणता दृश्यते। सा च क्षणपरम्परानु-पातिना क्रमेणाभिव्यज्यमाना परां व्यक्तिमापद्यत इति। धर्म-

लक्षणाभ्यां च विशिष्टोऽयं तृतीयः परिणाम इति। त एते क्रमा धर्मधर्मिभेदे सति प्रतिलब्धस्वरूपाः। धर्मोऽपि धर्मी भवत्यन्यधर्मस्वरूपापेक्षयेति। यदा तु परमार्थतो धर्मिण्यभेदोपचारद्वारेण स एवाभिधीयते धर्मस्तदाऽयमेकत्वेनैव क्रमः प्रत्यवभासते। चित्तस्य द्वये धर्माः परिदृष्टाश्चापरिदृष्टाश्च। तत्र प्रत्ययात्मकाः परिदृष्टा वस्तुमात्रात्मका अपरिदृष्टाः। ते च सप्तैव भवन्त्यनुमानेन प्रापितवस्तुमात्रसद्भावाः।

"निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम्।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः इति॥"

अतो योगिन उपात्तसर्वसाधनस्य बुभुत्सितार्थप्रतिपत्तये संयमस्य विषय उपक्षिप्यते॥ १५॥

भा० का पदार्थ—एक धर्मी का एक ही परिणाम होता है ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं कि कर्मों का अदल बदल -परिणामों के अदल बदल का कारण है क्रमान्यत्व का अर्थ करते हैं जैसे मट्टी का पिण्डा, मट्टी का घड़ा, मट्टी का कपाल अर्थात् कढ़ल मट्टी का कण और मट्टी यह क्रम कहाता है जो धर्म जिसके पश्चात् व्यवधान रहित होता है वह उसका क्रम है।

पिण्ड नष्ट होता है और घट उत्पन्न होता है यह धर्मपरिणाम का क्रम है। लक्षणपरिणाम का क्रम यह है—घट के अनागत भाव से वर्तमानभाव का क्रम तथा पिण्ड के वर्तमानभाव से अतीत भाव का क्रम, अतीत भाव का क्रम नहीं है। क्योंकि पूर्वता और परता के होने से अनन्तरत्व धर्म होता है। सो अतीत की पूर्वता और परता नहीं है। इसलिए दो ही लक्षणों का क्रम है। ऐसे ही अवस्थापरिणाम क्रम भी नवीन घट के किसी प्रान्त में पुराणता देख कर अनुमान किया जाता है. वह पुराणता क्षणिक क्रम से प्रकट होती हुई व्यक्तित्व को प्राप्त

होती है। धर्मपरिणाम और लक्षणपरिणाम से भिन्न यह तीसरा परिणाम है।

ये क्रम धर्म और धर्मी का भेद होने पर अवभासित होते हैं। अन्य धर्म की अपेक्षा से धर्म भी कहीं पर धर्मी हो जाता है। जब परमार्थ से धर्मी, भेद का उपचार नहीं होता, तभी वह धर्म कहलाता है, तब यह एक ही क्रम मालूम पड़ता है।

चित्त के दो धर्म हैं—१—परिदृष्ट और २—अपरिदृष्ट। उनमें जो ज्ञानरूप होते हैं, वे परिदृष्ट धर्म हैं और जो धर्म वस्तु मात्र ही हैं वे अपरिदृष्ट धर्म कहाते हैं। वे अपरिदृष्ट धर्म सात प्रकार के होते हैं जो अनुमान से प्राप्त हुई वस्तु के सद्भाव से जाने जाते हैं। निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा, शक्ति, ये सात ज्ञानरहित चित्त के धर्म हैं॥ १५॥

इस हेतु से जिस योगी को योग के साधन प्राप्त हो गये हैं उसकी साधन भोगने की इच्छाको सिद्ध करने के वास्ते संयम का विषय कहते हैं--

भा० का भा०—पूर्व सूत्र में यह शङ्का उत्पन्न होती है कि एक धर्मी का एक ही परिणाम होता है? अथवा सब परिणाम एक ही काल में होते हैं? इस सूत्र में उसका समाधान करते हैं कि क्रम का अदल बदल परिणामों के परिवर्तन का हेतु है। जैसे प्रथम मिट्टी का चूर्ण होता है, उससे पिण्ड बनता है, पिण्ड से घड़ा फूट कर फिर कपाल होता है, कपाल से कणके और कणकों से फिर मिट्टी होती है। जो जिसका नियतपूर्ववर्त्ती होता है वह पूर्ववर्त्ती उत्तरवर्त्ती का क्रम कहाता है। जैसे मिट्टी के पिण्ड अर्थात् लूंदा बिगड़ता है तब घड़ा बनता है। यह धर्म-परिणामक्रम और लक्षणपरिणामक्रम है। घड़े का अनागतभाव से वर्तमान-भाव क्रम कहाता है और वर्तमानभाव से अतीतभाव क्रम कहा जाता है।

किन्तु अतीतभाव का कोई भी क्रम नहीं है, क्योंकि क्रम को पूर्वापर अपेक्षित है इस से अनागत और वर्तमान का ही क्रम हो सकता है। ऐसे ही अवस्थापरिणाम समझना योग्य है अर्थात् घड़े में जो नयापन और पुरानापन होता है वह क्षण मुहूर्त्तादि की परम्परा के क्रम से होता है यह जितने परिणाम हैं वे सब धर्म और धर्मी के भेद में ही हो सकते हैं, परन्तु अन्य धर्म का प्रतिधर्मी भी धर्म हो सकता है। वस्तुतः तो परिणाम एक ही है चित्त के दो धर्म हैं—एक परिदृष्ट और दूसरा अपरिदृष्ट। परिदृष्ट वह है जो केवल ज्ञानात्मक है और अपरिदृष्ट वस्तुमात्र ज्ञानशून्य है। वे अपरिदृष्ट सात प्रकार के हैं—निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा और शक्ति ये ज्ञानरहित चित्त के धर्म हैं ॥ १५ ॥

अब जिस योगी को भोग के साधन प्राप्त हुए हैं उसको योग के सब साधन प्राप्ति की इच्छा से विषयों के त्याग का वर्णन करते हैं—

पन्द्रहवें सूत्र का वि०—इसका नाम क्रमवाद है, उक्त धर्म जो बदल जाते हैं उसका कारण क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर भगवान् सूत्रकार ने इसमें दिया है कि उक्त परिणाम के अदल बदल का हेतु क्रम का परिणाम है अर्थात् जैसे मिट्टीका परिणाम मृत्पिण्ड और मृत्पिंडका परिणाम कपाल तथा कपालद्वयका परिणाम घड़ा होता है अर्थात् घड़ा मिट्टी का साक्षात् परिणाम नहीं है किन्तु ऊपर लिखा क्रम परिणाम ही घड़े का महापरिणाम का हेतु है। ऐसे ही प्रथम सूत्र में कहे अतीतादि परिणाम का हेतु क्रमपरिणाम है, जगत् के जितने भाव हैं वे सब क्रम से बदलते रहते हैं। चित्त के सुख, दुःखादि जितने धर्म हैं वे भी इस ही क्रम से बदलते रहते हैं ॥ १५ ॥

भो० वृ०—धर्माणामुक्तलक्षणानां यः क्रमस्तस्य यत् प्रतिक्षण-मन्यत्वं परिदृश्यमानं तत् परिणामस्योक्तलक्षणस्यान्यत्वे नानाविधत्वे

हेतुर्लिङ्गम् ज्ञापकं भवति । अयमर्थः—योऽयं नियतः क्रमो मृच्चूर्णान्मृत्पिण्डस्ततः कपालानि तेभ्यश्च घट इत्येवं रूपः परिदृश्यमानः परिणामस्यान्यत्वमावेदयति । तस्मिन्नेव धर्मिणि यो लक्षणपरिणामस्यावस्थापरिणामस्य च क्रमः सोऽपि अनेनैव न्यायेन परिणामान्यत्वे गमकोऽवगन्तव्यः । सर्व एव भावा नियतेनैव क्रमेण प्रतिक्षणं परिणममानाः परिदृश्यन्ते । अतः सिद्धं क्रमान्यत्वात्परिणामान्यत्वम् । सर्वेषां चित्तादीनां परिणममानानां केचिद्धर्माः प्रत्यक्षेणैवोपलभ्यन्ते । यथा सुखादयः संस्थानादयश्च । केचिच्चैकान्तेनानुमानगम्याः । यथा—धर्मसंस्कारशक्तिप्रभृतयः । धर्मिणश्च भिन्नाभिन्नरूपतया सर्वत्रानुगमः ॥ १५ ॥ इदानीमुक्तस्य संयमस्य विषयप्रदर्शनद्वारेण सिद्धीः प्रतिपादयितुमाह—

भो० वृ० का भा०—ऊपर जिनका वर्णन कर चुके हैं, उन धर्मों का जो क्रम है वह प्रतिक्षण बदलता दीखता है वही उस परिणाम के परिवर्त्तन का हेतु है जिसका पूर्व वर्णन कर चुके हैं अर्थात् धर्म्मपरिणाम से परिणामों का भेद जान पड़ता है । अभिप्राय यह है कि जो यह नियतक्रम है कि मिट्टी के चूर्ण से पिण्ड होता है, उससे कपाल (खपरा) बनाया जाता है, कपाल से फिर घड़ा बन जाता है । यह जो क्रम दीखता है यही दूसरे परिणाम का दिखाने वाला है, अर्थात् क्रम से ही मिट्टी घड़े के रूप में परिणत हो गई यह दूसरा परिणाम हुआ । जैसे यह धर्म्मपरिणाम का क्रम कहा ऐसे ही लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम का क्रम भी दूसरे परिणाम का हेतु समझना । सम्पूर्ण पदार्थ वा भाव क्रम से प्रतिक्षण परिणत होते दीखते हैं इससे सिद्ध हुआ कि क्रम से भेद होता है और वही भेद पदार्थों में अन्य परिणामों को उत्पन्न करता है । समस्त चित्तादिक पदार्थ जो परिणामको प्राप्त होते रहते हैं कोई धर्म्म प्रत्यक्ष पाये जाते हैं जैसे सुख और स्थिति प्रत्यक्ष परिणामी जान पड़ते हैं । कोई धर्म अनुमान से जाने जाते हैं । धर्म्म (गुणविशेष)

संस्कार और शक्ति आदि परन्तु धर्मी का सर्वत्र सम्बन्ध रहता है ॥१५॥

आगे उक्त संयम के विषय (जिनमें संयम किया जाता है) और उसके फल अर्थात् सिद्धियों का वर्णन किया जायगा—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६॥

सूत्र का पदार्थ—(परिणामत्रयसंयमात्) उक्त तीन परिणामों के संयम से (अतीतानागतज्ञानम्) भूत और भविष्य का ज्ञान होता है ॥ १६ ॥

सूत्र का भा०—तीन परिणामों के संयम से भूत और भविष्य काल का ज्ञान होता है ॥ १६ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—धर्मलक्षणावस्थापरिणामेषु संयमा-द्योगिनां भवत्यतीतानागतज्ञानम् । धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयम उक्तः । तेन परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणमतीतानागतज्ञानम् तेषुं सम्पादयति ॥ १६ ॥

भा० का पदार्थ—धर्म परिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्था-परिणामों में संयम से योगियों को भूत और भविष्यकाल का ज्ञान होता है । संयम का लक्षण प्रथम लिख आये हैं कि ध्यान, धारणा और समाधि की एकता को संयम कहते हैं साक्षात् किये हुये उक्त तीनों परिणाम योगी में भूत और भविष्य के ज्ञान को सम्पादन करते हैं ॥ १६ ॥

भा० का भावा०—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्था-परिणाम के संयम से योगी को भूत और भविष्य काल का ज्ञान होता है. संयम का अर्थ पूर्व ही लिख चुके हैं अर्थात् ध्यान, धारणा और समाधि के एकत्र होने को संयम कहते हैं । इससे सिद्ध हुआ कि उक्त परिणामों के संयम से भूत और भविष्य काल का ज्ञान होता है ॥ १६ ॥

सोलहवें सूत्र का वि० — उपर्युक्त दोनों सूत्रों में लिखे परिणामों के वर्णन का फल अब आगे लिखते हैं—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम इन तीनों परिणामों में संयम करने से योगी को भूत, भविष्य और वर्तमानकाल का ज्ञान होता है अभिप्राय यह है कि योगी क्रमपरिणाम के तत्त्व को समझ कर जान जाता है कि अब ऐसी अवस्था देश की वा अमुक मनुष्य की अथवा मेरी भविष्य में होने वाली है। यदि योगी उक्त संयम से जान जाता है कि ऐसी दशा होने वाली है तो उसका प्रतीकार भी अर्थात् विघ्ननिवारण उचित उपायों से कर लेता है ॥ १६ ॥

भो० वृ०—धर्मलक्षणावस्थाभेदेन यत्परिणामत्रयमुक्तम् तत्र संयमात्तस्मिन् विषये पूर्वोक्तसंयमस्य कारणादतीतानागतज्ञानं योगिनः समाधेराविर्भवति। इदमत्र तात्पर्य्यम्—अस्मिन् धर्मिणि अयं धर्म इदम् लक्षणमियमवस्था चानागतादध्वनः समेत्य वर्त्तमानेऽध्वनि स्वंव्यापारं विधायातीतमध्वानं प्रविशतीत्येवं परिहृतविक्षेपतया यदा संयमं करोति तदा यत्किञ्चिदनुत्पन्नमतिक्रान्तं वा तत्सर्वं योगी जानाति। यतश्चित्तस्य शुद्धसत्त्वप्रकाशरूपत्वात्सर्वार्थग्रहणसामर्थ्यमविद्यादिभिर्विक्षेपैरपक्रियते। यदा तु तैस्तैरुपायैर्विक्षेपाः परिह्रियन्ते तदा निवृत्तमलस्येवाऽऽदर्शस्य सर्वार्थग्रहणसामर्थ्यमेकाग्रताबलादाविर्भवति ॥ १६ ॥

भो० वृ० का भा०—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम जो पूर्व कहे उनमें संयम करने से योगी को समाधि में भूत और भविष्यकाल का ज्ञान होता है। इस सूत्रका तात्पर्य यह है इस धर्मी में वह धर्म्म रहता है इसका यह लक्षण है यह अवस्था है यह अनागत भावको त्याग कर वर्त्तमान मार्ग में अपने कार्य्य को करने अपने पूर्वमार्ग अर्थात् उपादान करण में जाने को उत्सुक है। इन्हीं मार्गों में विघ्न रहित होकर संयम करने से योगी को अनुत्पन्न हुए और व्यतीत हुए सबका ज्ञान होजाता है क्योंकि शुद्धचित्त हो जाने से सब विषयों का

ग्रहण करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है और अविद्यादि मल दूर हो जाते हैं तब मलरहित दर्पण के समान सब विषयों को ग्रहण करने की शक्ति चित्तमें उत्पन्न हो जाती है ॥ १६ ॥

दूसरी सिद्धि का वर्णन करते हैं—

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकर-स्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥१७॥

सूत्र का पदार्थ—(शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सङ्करः) शब्द, अर्थ और ज्ञानके एक दूसरे में मिले रहने से सङ्कर अर्थात् घनिष्ठ मेल है (तत्प्रविभाग संयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्) उसके विभाग में संयम करने से सब प्राणियों की वाणी का ज्ञान होता है ॥ १७ ॥

सू० का भा०–शब्द अर्थ और ज्ञानमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होने से शब्दसंकरता है और उनके विभाग में संयम करने से प्राणी मात्रकी भाषाका ज्ञान होता है ॥ १७ ॥

व्या० दे० कृ० भा०–तत्र वाग्वर्णेष्वेवार्थवती । श्रोत्रञ्च ध्वनि-परिणाम मात्रविषयम् । पदं पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति । वर्णा एकसमयासम्भवित्वात् परस्परनिरनुग्रहात्मानस्ते पदमसंस्पृश्यानुपस्थाप्याऽऽविर्भूतास्तिरोभूताश्चेति प्रत्येकंपदस्वरूपा उच्यन्ते। वर्णः पुनरेकैकः पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचितः सहकारिवर्णान्तर-प्रतियोगित्वाद्वैश्वरूप्यमिवाऽऽपन्नः पूर्वश्चोत्तरेणोत्तरश्च पूर्वेण विशेषेऽवस्थापित इत्येवं बहवो वर्णाः क्रमानुरोधिनोऽर्थ संकेतेना-वच्छिन्ना इयं त एते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृता गकारौकार-विसर्जनीयाः सास्नादिमन्तमर्थम् द्योतयन्तीति । तदेतेषामर्थसंकेते-नावच्छिन्नानामुपसंहृतध्वनिक्रमाणां य एको बुद्धिनिर्भासस्तत्पदं

वाचकं वाच्यस्य संकेत्यते । तदेकं पदमेकबुद्धिविषय एकप्रयत्नाक्षिप्तमभागमक्रमसवर्णम् बौद्धमन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोपस्थापितं परत्र प्रतिपिपादयिषया वर्णैरेवाभिधीयमानैः श्रूयमाणैश्च श्रोतृभिरनादिवाग्व्यवहारवासनानुविद्धया लोकबुद्ध्या सिद्धवत्सम्प्रतिपत्त्याप्रतीयते। तस्य संकेतबुद्धितः प्रविभाग एतावतामेवं जातीयकोऽनुसंहार एकस्यार्थस्य वाचक इति । संकेतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मको योऽयं शब्दः सोऽयमर्थो योऽयमर्थः सोऽयं शब्द इति । एवमितरेतराध्यासरूपः संकेतो भवतीति एवमेते शब्दार्थप्रत्यया इतरेतराध्यासात्सङ्कीर्णा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरितिज्ञानम् । य एषां प्रविभागज्ञः स सर्ववित् । सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिर्वृक्ष इत्युक्तेऽस्तीति गम्यते । न सत्तांपदार्थो व्यभिचरतीति । तथा नह्यसाधना क्रियाऽस्तीति । तथा च पचतीत्युक्ते सर्वकारकाणामाक्षेपो नियमार्थोऽनुवादः कर्तृकरणकर्मणां चैत्राग्नितण्डुलानामिति । दृष्टञ्च वाक्यार्थे पदरचनं श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते, जीवति प्राणान् धारयति । तत्र वाक्ये पदपदार्थाभिव्यक्तिस्ततः पदं प्रविभज्य व्याकरणीयं क्रियावाचकं वा कारकवाचकं वा । अन्यथा भवत्यश्वोऽजापय इत्येवमादिषु नामाख्यातसारूप्यादनिर्ज्ञातं कथं क्रियायां कारके वा व्याक्रियेतेति तेषां शब्दार्थप्रत्ययानां प्रविभागः । तद्यथा—श्वेतते प्रासाद इति क्रियार्थः, श्वेतः प्रासाद इति कारकार्थः शब्दः, क्रियाकारकात्मा तदर्थः प्रत्ययश्च । कस्मात् । सोऽयमित्यभिसम्बन्धादेकाकार एव प्रत्ययः संकेत इति । यस्तु श्वेतोऽर्थः स शब्दप्रत्यययोरालम्बनीभूतः । स हि स्वाभिरवस्थाभिर्विक्रियमाणो न शब्दसहगतो न बुद्धिसहगतः । एवं शब्द एवं प्रत्ययो नेतरेतरसहगत इत्यन्यथा शब्दोऽन्यथाऽर्थोऽन्यथाप्रत्यय इति विभागः । एवं तत् प्रविभागसंयमाद्योगिनः सर्वभूतरुतज्ञानं सम्पद्यत इति ॥ १७ ॥

भा० का प०—शब्द, अर्थ और प्रत्ययके विचारमें वाणी अक्षरों में ही अर्थयुक्त होती है। कान तो केवल ध्वनि के परिणाम को ही ग्रहण करने वाले होते हैं। नाद अर्थात् ध्वनि के विनाश होने से जो बुद्धि से ग्रहण किया जाता है उसे पद कहते हैं। अक्षरों का एक समय में उच्चारण होना असम्भव है, वे आपस में एक दूसरे के सहायक नहीं हैं और वर्णपद के सम्बन्ध को त्याग कर स्थिर नहीं रहते अर्थात् वर्ण कभी प्रकट होते हैं और कभी लुप्त हो जाते हैं। उसी कारण से एक २ वर्ण की पदसंज्ञा नहीं है। फिर एक एक वर्ण ही पद स्वरूप है। सम्पूर्ण अर्थ के प्रकाश करने की शक्ति से युक्त है, क्योंकि अपने समीप दूसरे अक्षर के समान धर्म्मयुक्त हैं। पूर्व वर्ण अगले से और अगला अक्षर पिछले से विशेष अर्थ में स्थापित करता है अर्थात् पिछले अक्षर के अर्थ का आभास अगले पर पड़ता है और अगले अक्षर का आभास पिछले अक्षर के अर्थ को प्रकाशित करता है। इस प्रकार से अनेक अक्षर क्रम के अनुसार अर्थ के संकेत से युक्त होते हैं। गौः इस पद में ग्, औ और विसर्ग सांकेतिक अर्थ से भरे अर्थात् उच्चवर्ण समुदाय के अर्थ को बोध कराने वाली शक्ति से पूर्ण हैं। गौ के गले में जो मांस लटकता है उसे सास्ना कहते हैं। ग्, औ और विसर्ग सास्नायुक्त अर्थ को प्रकाश करते हैं। अर्थ से युक्त अक्षरों का उपसंहार की ध्वनि के क्रम से जो बुद्धि का निर्भास अर्थात् प्रकाश है वही पदवाचक है और वाच्य का संकेत करता है। अब यह शङ्का होती है कि एक पद एक ही बुद्धि का विषय है, उस से सब को ज्ञान क्यों न हो? यह संकेत भी एक ही के प्रयत्न से हुआ है दूसरे को बोध कराने की इच्छा से, कहे हुये अक्षरों से, सुनने वालों के द्वारा वचन के व्यवहार की वासना से युक्त सांसारिक बुद्धि के द्वारा सिद्ध के समान प्रतीत होता है। उसका संकेतबुद्धि से विभाग होता है। इतने शब्दों का अनुसंहार एक अर्थ का बोधक है। यह संकेत पद और अर्थ के परस्पर

अभ्यास से होता है । स्मृति रूप है अर्थात् शब्द का अर्थ जो प्रथम स्मृतिवृत्ति में आरूढ़ हो चुका है वही फिर वाणी के द्वारा प्रत्यक्ष होता है । यह जो शब्द है वही अर्थ है, जो अर्थ है, वही शब्द है। इस रीति से शब्द और अर्थ दोनों परस्पर अध्यस्त अर्थात् एक दूसरे से मिले हैं यही संकेत कहाता है । यह शब्द, अर्थ और ज्ञान एक दूसरे में भान होने से सङ्कीर्ण हैं । गौः यह शब्द गौ यह अर्थ, गौ यह ज्ञान (य एषां प्रविभागज्ञः) जो इन के विभाग को जानने वाला है वह सब का जानने वाला है । सब पदों में वाक्य शक्ति विद्यमान है, "वृक्षः" ऐसा कहने पर उसकी सत्ता का बोध होता है। कोई पदार्थ सत्ता अर्थात् भाव को त्याग नहीं करता है । ऐसे ही साधन हीन कोई क्रिया नहीं होती है जैसे " पकाता है " ऐसा कहने पर सम्पूर्ण कारकों का अर्थात् कर्त्ता करण और कर्म (चैत्र, अग्नि और तण्डुल) इन सब का अध्याहार हो जाता है । वाक्यार्थ में पदों की रचना देखी जाती है "श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते" 'जीवति प्राणान्धारयति" इन दोनों वाक्यों में जैसे पहिले वाक्य में ' छन्दोऽधीते" पद से बोध होता है वैसा ही केवल श्रोत्रिय पद से भी ज्ञान होता है । दूसरे वाक्य में "प्राणान् धारयति" इस वाक्य के स्थान में 'जीवति' पद का प्रयोग होता है, अतएव वाक्य में पद और पद के अर्थों का प्रकाश है अर्थात् वाक्य में कर्ता कर्म्म और क्रिया आदि जुदे २ दीखते हैं उससे पद का विभाग करके प्रकट करना चाहिये कि यह पद क्रियावाचक हैं वा कारकवाचक है। यदि ऐसा न होगा तो (भवति) शब्द के प्रयोग में यह ज्ञान न होगा कि यह क्रिया है वा स्त्री प्रत्ययान्त 'भवति' शब्द का सम्बोधन में ह्रस्वान्त रूप है । इसी प्रकार ' अश्वः ' घोड़ा वाचक पुल्लिङ्ग प्रथमा विभक्तिके एक वचनका रूप है वा 'श्वस्' अव्ययका नञ् समासान्त रूप है । ऐसे ही 'अजापयः' पद का अर्थ कारक मान के बकरी का दूध होता है और क्रिया मान के तू पहुंचादे वा जीत अर्थ होता है

इत्यादि पदों में सुबन्त और तिङन्त का एक ही रूप होने से ठीक नहीं होता है। क्रियामें वा कारक में कैसे इनका निरूपण होगा, शब्दार्थ प्रत्ययोंका विभाग होना चाहिये जैसे अटारी सफेद हो रही है यह क्रियार्थक है। रंग से सफेद अटारी है—यह कारकार्थ पद है। शब्द क्रिया और कारक रूप है और प्रत्यय उसका अर्थ है। क्योंकि यह है इस सम्बन्ध से प्रत्यय तदाकार ही प्रतीत होता है। जिसका श्वेतार्थ है वह शब्द और प्रत्यय के आधीन है क्योंकि वह अपनी अवस्थाओं द्वारा विकार को प्राप्त हुवा न शब्द से साथ है, न बुद्धि से शब्द भिन्न है, अर्थ भिन्न है, प्रत्यय भिन्न है। यह विभाग है इस विभाग में संयम करने से योगी को सब प्राणियों की ध्वनि का ज्ञान है ॥ १७ ॥

भा० का भा०—वाणी अक्षरों में ही अर्थयुक्त रहती है क्योंकि बिना अक्षर की योजना के किसी शब्द का अर्थ नहीं होता है, कान केवल ध्वनि के गुञ्जार को ग्रहण करते हैं और बुद्धि वर्णों के क्रम को ग्रहण करती है क्योंकि शब्द के अक्षर एक समय में उत्पन्न नहीं हो सकते हैं वरन् जब पहिला अक्षर अपने बोध को उत्पन्न करके नष्ट होजाता है तब दूसरा अक्षर उत्पन्न होता है इसही प्रकार से प्रत्येक अक्षर का आविर्भाव होता है परन्तु अपने सहकारी अक्षर के धर्म से सम्बन्ध रखते हैं। जैसे गौः शब्द में गकार, औकार और विसर्ग क्रम से उच्चारित होकर सास्नावाली व्यक्ति का बोध कराते हैं इसमें वर्णों का उपसंहार, ध्वनि, क्रम और सङ्केत ही कारण हैं। जो शब्द दूसरे को ज्ञान उत्पन्न कराने की इच्छा से बोला जाता है उसके बोध में सङ्केत अनादिकाल से चला आता है। तात्पर्य्य यह है कि गौ शब्द, गौ अर्थ और गौ ज्ञान एक ही जान पड़ते हैं। हर एक शब्द में बोधक शक्ति होती है, साधनहीन कोई क्रिया नहीं होती है, जैसे 'पकाता है' कहने से चैत्र कर्त्ता अग्नि करण और चावल कर्म का अध्याहार होता है। कहीं वाक्य के स्थान में एक पद का प्रयोग भी देखा जाता है; जैसे वेद पढ़ता

है इस वाक्यार्थ में श्रोत्रिय पद का, प्राणों को धारण करता है, इस वाक्य के स्थानमें जीवित पद का प्रयोग होता है। कहीं पर नाम और क्रिया में भी एकता जान पड़ती है। जैसे 'भवति' क्रिया भी है और 'भवती' शब्द का सम्बोधन से 'भवति' रूप होता है। एवं शब्दों के संकेत में जो संयम करता है वह सब प्राणियों के शब्दों को समझता है॥ १७॥

सत्तरहवें सूत्र का वि०—शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होता है, और उसके वर्ण तथा अर्थों का क्रम भी नियत है, यदि स्फोटवाद की रीति से वर्णादि क्रम को न माना जाय तो यह अवश्य ही मानना पड़ेगा कि अमुक शब्द की अमुक अर्थ के बोध करने में शक्ति है। यद्यपि स्फोटवाद में अर्थ, जाति, गुण, आदि शब्दार्थ ज्ञान में एक शब्द का दूसरे शब्द में अध्यास रहता है, इससे शब्दज्ञान में संकर दोष आता है। जैसे किसी ने कहा कि गौ को लाओ, इस वाक्य को सुन के खुर और सींग युक्त पशु विशेष को ले आता है। परन्तु गौ को लाने वाले से यदि पूछा जाय कि गौ शब्द के कौन से वर्ण वा मात्रा ने कर्ण द्वारा तुम्हारे हृदय में प्रवेश करके तुम्हारे गौ विषयक ज्ञान को चैतन्य किया तो वह कुछ भी उत्तर नहीं दे सकता है इससे ही जाना जाता है कि शब्द के भागों का तथा उनके अर्थों का ज्ञान संसारी लोगों को नहीं है। अतएव योगी जब शब्द के भागों में संयम करता है तब उसे जान पड़ता है कि अमुक प्राणी ने अमुक शब्द का उच्चारण किया और उन शब्दों के अर्थों को भी योगी समझने लगता है।

भो० वृ०—शब्दः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यो नियतक्रमवर्णात्मा नियतैकार्थप्रतिपत्त्यवच्छिन्नः। यदि वा क्रमरहितः स्फोटात्मा शास्त्रसंस्कृतबुद्धिग्राह्यः। उभयथाऽपि पदरूपो वाक्यरूपश्च तयोरेकार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यात्। अर्थो जातिगुणक्रियादिः। प्रत्ययो ज्ञानं विषयाकारा बुद्धिवृत्तिः। एषां शब्दार्थज्ञानानां व्यवहारे इतरेतराध्यासात् भिन्नानामपि बुद्ध्येकरूपतासम्पादनात्सङ्कीर्णत्वम्। तथाहि—गामानयेत्युक्ते कश्चित् गोलक्षणमर्थं गोत्वजात्य-

वच्छिन्नं सास्नादिमत्पिण्डरूपं शब्दञ्च तद्वाचकं ज्ञानञ्च तद्ग्राहकमभेदेनैवाध्यवस्यति। न त्वस्य गोशब्दो वा त्र कोऽयं गोशब्दस्य वाच्यस्तयोर्ग्राहकं ज्ञानमिति भेदेन व्यवहरति। तथाहि—कोऽयमर्थः कोऽयं शब्दः किमिदं ज्ञानमिति पृष्टः सर्वत्रैकरूपमेवोत्तरं ददाति गौरिति। स यद्येकरूपतां न प्रतिपद्यते कथमेकरूपमुत्तरं प्रयच्छति? एकस्मिन् स्थिते योऽयं प्रविभाग इदं शब्दस्य तत्त्वं यद्वाचकत्वं नाम, इदमर्थस्य यद्वाच्यत्वमिदं ज्ञानस्य यत् प्रकाशकत्वमिति प्रविभागं विधाय तस्मिन् प्रविभागे यः संयमं करोति तस्य सर्वेषां भूतानां मृगपक्षिसरीसृपादीनां यद्रुतं यः शब्दस्तत्र ज्ञानमुत्पद्यतेऽनेनैवाभिप्रायेणैतेन प्राणिनाऽयं शब्दः समुच्चारित इति सर्वम् जानाति ॥ १७ ॥ सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—शब्द कर्ण इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य है और उसका क्रम तथा वर्ण नियत है और अर्थज्ञान भी उसका नियत है, यदि क्रमरहित स्फोटरूप शब्द को माना जाय और संस्कृत बुद्धि द्वारा उसका ग्रहण माना जाय तो भी (अर्थात् दोनों प्रकार से) पद रूप और वाक्य रूप दोनों को ही अर्थबोधक शक्तियुक्त मानना होगा। अर्थ, जाति, गुण और क्रिया इनके ज्ञान में जो विषय रूप बुद्धि है वह एक ही है। इस कारण अर्थादिकों के भिन्न होने पर भी वह अर्थादिक सब एकरूप प्रतीत होते हैं। जैसे किसी ने कहा कि गौ को लाओ। इस कहने से सुनने वाला गोत्वजातिविशिष्ट सास्नावाली व्यक्ति जो गौ शब्द की वाच्य है, उसका वाचक ज्ञान और उसकी ग्राहक वृत्ति इन सब को भिन्न भिन्न ग्रहण नहीं करता है। अर्थात् सुनने वाला यह नहीं समझता है कि गौ शब्द वाचक है, यह व्यक्ति उसकी वाच्य है और यह उसका ग्राहक ज्ञान है। यदि उससे पूछा जाय गौ शब्द जो तुमने सुना उसका वाचक क्या है, वाच्य क्या है और ज्ञान क्या है तो वह गौ के अतिरिक्त और कुछ भी उत्तर नहीं दे सकता है। यदि शब्दादि तीनों एक रूप न होते तो एक ही उत्तर क्योंकर होता? इसही अभेद भाव में अर्थादि को भिन्न २ समझ कर अर्थात् शब्द में जो वाचक शक्ति है, अर्थ में जो वाच्य शक्ति

है और ज्ञान में जो प्रकाशक शक्ति है इन में भेद जान के जो भेद में संयम करता है उसको मृग, पक्षी और सरीसृप आदि प्राणियों की ध्वनि का ज्ञान होता है अर्थात् वह जान जाता है कि इस प्राणी ने इस अभिप्राय से यह ध्वनि की ॥ १७ ॥ आगे दूसरी सिद्धि का वर्णन करेंगे--

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥१८॥

सूत्र का पदार्थ—(संस्कारसाक्षात्करणात्) संस्कारों के प्रत्यक्ष होने से (पूर्वजातिज्ञानम्) पूर्वजन्म का ज्ञान होता है ॥ १८ ॥

सू० का भा०--संस्कारों के प्रत्यक्ष होने से पूर्वजन्मों का ज्ञान होता है ॥ १८ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—द्वये खल्वमी संस्काराः स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपा विपाकहेतवो धर्माधर्मरूपाः। ते पूर्वभवाभिसंस्कृताः परिणामचेष्टानिरोधशक्तिजीवनधर्मवदपरिदृष्टाश्चित्तधर्माः। तेषु संयमः संस्कारसाक्षात्क्रियायै समर्थः। नच देशकालनिमित्तानुभवैर्विना तेषामस्ति साक्षात्करणम्। तदित्थं संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः। परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात्परजातिसंवेदनम्।

अत्रेदमाख्यानं श्रूयते-भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणाद्दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभूत्। अथ भगवानावटयस्तनुधरस्तमुवाच-दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन त्वया नरकतिर्यग्गर्भसम्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन सुखदुःखयो किमधिकमुपलब्धमिति। भगवन्तमावट्यं जैगीषव्य उवाच-दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया

नरकतिर्य्यग्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन यत्किंचिदनुभूतं तत् सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि । भगवानावट्य उवाच—यदिदमायुष्मतः प्रधानवशित्वमनुत्तमं च सन्तोषसुखं किमिदमपि दुःखपक्षे निःक्षिप्तमिति । भगवान्जैगीषव्य उवाच—विषयसुखापेक्षयैवेदमनुत्तमं सन्तोषसुखमुक्तम् । कैवल्यसुखापेक्षया दुःखमेव । बुद्धिसत्त्वस्यायं धर्मस्त्रिगुणः त्रिगुणश्च प्रत्ययो हेयपक्षे न्यस्त इति । दुःखरूपस्तृष्णातंतुः । तृष्णा दुःखसन्तापापगमात्तु प्रसन्नमबाधं सर्वानुकूलं सुखमिदमुक्तम् इति ॥ १८ ॥

भा० का प०—संस्कार दो प्रकार के होते हैं स्मृति और पंच क्लेशों के कारण एक वासनारूप संस्कार होते हैं और दूसरे संस्कार वे हैं जिन का कारण विपाक अर्थात् फल है और वे धर्माधर्म रूप होते हैं। ये संस्कार पूर्वजन्म के कर्मों के होते हैं । परिणाम, चेष्टा, शक्ति, जीवन, गुणों के समान चित्त के अप्रत्यक्ष धर्म हैं । उन में संयम करने से योगी संस्कारों के प्रत्यक्ष करने में समर्थ होता है । देश, काल, निमित्त और अनुभव के विना उनका साक्षात् नहीं होता । इस रीति से संस्कारों के प्रत्यक्ष होने से योगी को पूर्व जन्म का ज्ञान होता है । ऐसे ही पर जन्म का भी संस्कारों के प्रत्यक्ष अर्थात् स्मरण होने से परजन्म अर्थात् भविष्य जन्म का ज्ञान होता है ।

इस विषय में यह इतिहास सुनते हैं कि भगवान जैगीषव्य ऋषि को संस्कारों के प्रत्यक्ष करने से दश सृष्टियों में जन्म के परिणाम और क्रम भली भाँति प्रत्यक्ष करने से विवेक ज्ञान उत्पन्न हुआ था । इस के अनन्तर भगवान् आवट्य ऋषि ने जैगीषव्य से प्रश्न किया कि आप इन दश सृष्टियों में योग बल से बुद्धि और बल की स्थिर दशा में नरक, स्वर्ग और तिर्य्यक् आदि योनियों में देवता और मनुष्यादि शरीरों में भ्रमण करते रहे उन सब में आप ने कौन कौन से विशेष सुख और

दुःख सहे उनका वर्णन कीजिये। उन आवट्य ऋषि से जैगीषव्य बोले कि दश सृष्टियों में बारम्बार जन्म लेकर योग बल से अव्याहत ज्ञान और बुद्धि के द्वारा नरक, स्वर्ग, देव और मनुष्यादि शरीरों में जो कुछ भोगा उस सब को मैं दुःख ही समझता हूं। फिर आवट्य ऋषि बोले जो मनुष्य इन्द्रियों का निरोध करना और सन्तोषरूपी महोत्तमसुख है उसको भी आपने दुःख की श्रेणी में ही प्रविष्ट किया ? भगवान् जैगीषव्य ऋषि बोले सन्तोष को विषय सुख की अपेक्षा अनुत्तम सुख कहा जाता है. किन्तु कैवल्य सुख की अपेक्षा तो वह दुःख ही है। बुद्धि का धर्म तीन गुणयुक्त होता है और ज्ञान भी त्रिगुणात्मक होता है जो कि हेय अर्थात् सांसारिक विषय के पक्ष में नियुक्त है। तृष्णा दुःखरूप है, योगी को तृष्णारूप दुःख प्रसन्नता युक्त होने से छोड़ देता है और सब के अनुकूल जो सुख है वह प्राप्त होता है।

भा० का भा०—पूर्व कर्म के दो प्रकार के संस्कार होते हैं—एक वासनारूप, दूसरे विपाक रूप। वासनारूप वे संस्कार कहाते हैं जो पूर्व कर्मों के फल धर्म व अधर्म हैं। योगी को समाधि द्वारा जब यह संस्कार प्रत्यक्ष होते हैं तब उसे पूर्वजन्म का ज्ञान होता है। जब योगी को पर संस्कारों का परिज्ञान होता है तब उसे पर जन्म का भी परिज्ञान होता है। इसमें एक दृष्टान्त है कि जैगीषव्य ऋषि को योगाभ्यास करते हुए दश कल्पों के जन्मों का स्मरण हुआ था उनसे एक समय आवट्य ऋषि ने यह प्रश्न किया था कि योग के प्रताप से आपकी बुद्धि और ज्ञान विनष्ट नहीं हुआ था ऐसी ज्ञानमय अवस्था में आपने अनेक योनियों में गमनागमन किया उनमें आपको जो सुख वा दुःख प्राप्त हुआ उसका मुझ से वर्णन कीजिये ? इस प्रश्न के उत्तर में जैगीषव्य ऋषि ने कहा कि मैंने इन दश कल्पों में जितने जन्म धारण किये उन सब में मुझे दुःख ही दुःख मिले सुख का लेश भी प्राप्त न हुआ। फिर आवट्य ऋषि ने प्रश्न किया कि सन्तोषादि जो पूर्ण सुख कहे जाते हैं उनको आपने दुःख किस

रीति से कहा ? जैगीषव्य ऋषि ने इसका उत्तर दिया कि सन्तोषादि जो सुख कहाते हैं वे केवल सांसारिक दुःख की अपेक्षा ही सुख हैं, किन्तु कैवल्य सुख की अपेक्षा वे भी दुःख ही हैं। जीव के धर्म त्रिगुणात्मक हैं और सांसारिक विषयों में त्रिगुणात्मक ज्ञान भी होता है तृष्णा दुःख रूप है। जब कि दुःख रूप तृष्णा योगी के चित्त से दूर हो जाती है तब उसका चित्त प्रसन्न हो जाता है तब योगी को परिचित का ज्ञान भी हो जाता है ॥ १८ ॥

भोज वृ०—द्विविधाश्चित्तस्य वासनारूपाः संस्काराः। केचित् स्मृतिमात्रोत्पादनफलाः केचित् जात्यायुर्भोगलक्षणविपाकहेतवः, यथाधर्माधर्माख्याः। तेषु संस्कारेषु यदा संयमं करोति, एवं मया सोऽर्थोऽनुभूत एवं मया सा क्रिया निष्पादितेति पूर्ववृत्तमनुसन्दधानो भावयन्नेव प्रबोधकमन्तरेण उद्बुद्धसंस्कारः सर्वमतीतं स्मरति। क्रमेण साक्षात् कृतेषु उद्बुद्धेषु संस्कारेषु पूर्वजन्मानुभूतानपि जात्यादीन् प्रत्यक्षेण पश्यति ॥१८॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

भोज वृ० का भा०—चित्त के वासना रूप संस्कार दो प्रकार के होते हैं, कोई स्मृति मात्र से फल देते हैं और कोई जन्म, आयु और भोगरूप फल के हेतु हैं जैसे धर्म और अधर्म इन संस्कारों में योगी जब संयम करता है अर्थात् मैंने इस प्रकार से यह अनुभव किया था या कार्य किया था ऐसे पूर्व कार्यों को समाधि में विचार ने से उसके ज्ञान का उदय होता है तब उसे भूत क्रियाओं का स्मरण होता है और क्रम से वह स्मरण इतना बढ़ता है कि वह पूर्वजन्म के जात्यादि सब विषयों को जान जाता है ॥ १८ ॥ अब और सिद्धि कहते हैं—

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

सूत्र का पदार्थ—(प्रत्ययस्य) प्रत्यय में संयम करने से (परचित्तज्ञानम्) दूसरों के मन की बात जानी जाती है॥१९॥

सूत्र का भा०—ज्ञान का संयम करने से दूसरों के मन की बात जानी जाती है ॥ १६ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—प्रत्यये संयमात्प्रत्ययस्य साक्षात्करणात्ततः परचित्तज्ञानम् ॥ १६ ॥

भा० का प०—प्रत्यय में संयम करने से अर्थात् ज्ञान का साक्षात्कार होने से परचित्त ज्ञान होता है ॥ १६ ॥

भा० का भा०—ज्ञान का साक्षात्कार होने से योगी दूसरों के मन की बात जान लेते हैं ॥ १६ ॥

भो० वृ०—प्रत्ययस्य परचित्तस्य केनचिन्मुखरागादिना लिंगेन गृहीतस्य यदा संयमं करोति तदा परकीयचित्तस्य ज्ञानमुत्पद्यते सरागमस्य चित्तंविरागं वेत्ति । परचित्तगतानपि धर्मान् जानातीत्यर्थः ॥ १६ ॥

भो० वृ० का भा०—जब योगी मुखरागादि बाह्य चिह्नों के द्वारा दूसरों के भाव को जानने का अभ्यास करता है, तब इसको सराग व विराग परचित्त का ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् दूसरों के हृद्गत भावों को भी यह जान लेता है ॥ १६ ॥

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २०

सूत्र का पदार्थ—(तत् सालम्बनम् न) यह अवलम्बन सहित नहीं है (तस्य, अविषयी भूतत्वात्) उसके विषयीभूत न होने से ॥ २० ॥

सूत्र का भा०—यह परचित्त ज्ञान अवलम्बन सहित नहीं है, क्योंकि योगी के चित्त में उसका केवल ज्ञान होता है, आलम्बन नहीं ॥ २० ॥

व्या० दे० कृ० भा०—रक्तं प्रत्ययं जानात्यमुष्मिन्नालम्बने रक्तमिति न जानाति । परप्रत्ययस्य यदालम्बनं तद्योगिचित्तेन नाऽऽलम्बनीकृतं परप्रत्ययमात्रं तु योगिचित्तस्याऽऽलम्बनीभूतमिति ॥२०॥

भा० का प०—राग का ज्ञान होता है, पर किस आलम्बन से राग है यह नहीं जानता केवल परचित्त के भाव का ज्ञान उस को होता है, उसका आलम्बन क्या है, इससे उसे कुछ प्रयोजन नहीं ॥ २० ॥

भो० वृ०—तस्य परस्य यच्चित्तं तत्सालम्बनं स्वकीयेनाऽऽलम्बनेन सहितं न शक्यते ज्ञातुमालम्बनस्य केनचिल्लिङ्गेनाविषयीकृतत्वात्। लिङ्गाद्धि चित्तमात्रं परस्यावगतं न तु नीलविषयमस्य चित्तं पीतविषयमिति वा। यच्च न गृहीतं तत्र संयमस्य कर्त्तुमशक्यत्वान्न भवति परचित्तस्य यो विषयस्तत्र ज्ञानम्। तस्मात्परकीयचित्तं नाऽऽलम्बनसहितं गृह्यते, तस्याऽऽलम्बनस्यागृहीतत्वात्। चित्तधर्माः पुनर्गृह्यन्त एव। यदा तु किमनेनालम्बितमिति प्रणिधानं करोति तदा तत्संयमात्तद्विषयमपि ज्ञानमुत्पद्यत एव ॥ २० ॥

भो० वृ० का भा०—पर का जो चित्त है उसके आलम्बन को योगी ग्रहण नहीं करता। लिङ्ग से चित्त का ज्ञानमात्र होता है न कि उसके विषय का – नील है वा पीत है। जो ग्रहण ही नहीं होता उसमें संयम नहीं हो सकता। इसलिए परकीय चित्त निरालम्ब ही ग्रहण किया जाता है। जब वह इसका ध्यान करता है कि इसने किस विषय का आलम्बन किया है, तब आलम्बन के संयम से विषय का भी ज्ञान उसको होता है ॥ २० ॥

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ २१ ॥

सूत्र का पदार्थ—(कायरूपसंयमात्) कायगत रूप के संयम से (तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे) उसकी ग्राह्य-शक्ति का स्तम्भ होने पर (चक्षुष्प्रकाशासम्प्रयोगे)

नेत्र के प्रकाश का संयोग न होने पर (अन्तर्धानम्) अन्तर्धान होता है ॥ २१ ॥

सू० का भा०—कायगत रूप में संयम करने से उसकी शक्ति का स्तम्भ होता है और शक्तिस्तम्भ होने से नेत्र के प्रकाश का संयोग नहीं होता और उससे योगी को अन्तर्धान सिद्ध होता है ॥ २१ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—कायस्य रूपे संयमाद्रूपस्य या ग्राह्या शक्तिस्तां प्रतिष्टभ्नाति। ग्राह्यशक्तिस्तम्भे सति चक्षुष्प्रकाशासंयोगेऽन्तर्धानमुत्पद्यते योगिनः। एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम् ॥२१

भा० का प०—काया के रूप में संयम करने से रूप की जो ग्राह्यशक्ति है उसका निरोध होता है। ग्राह्य शक्ति के स्तम्भ होने पर नेत्रों में जो देखने का प्रकाश है उसके संयोग न होने से अन्तर्धान अर्थात् दूसरे को न दिखाई देना उत्पन्न होता है। योगी का इस से शब्दान्तर्धान आदि पांच प्रकार का अन्तर्धान समझना योग्य है।

भा० का भा०—जब योगी शरीर के रूप में संयम करता है तब उसके शरीर के रूप की ग्राह्यशक्ति स्तम्भित हो जाती है तब किसी के नेत्रों का प्रकाश उस के शरीर को स्पर्श नहीं कर सकता, इस कारण से योगी का शरीर अन्तर्हित हो जाता है ॥ २१ ॥

विशेष—यह एक स्वाभाविक बात है कि नेत्र-इन्द्रिय की शक्ति जब किसी कारण से प्रतिबन्धित हो जाती है तब उसके सम्मुख रक्खा पदार्थ भी नहीं दीखता। जैसे इन्द्रजाल का खेल करने वाले लोग अनेक पदार्थों के संयोग और क्रियाकौशल से दर्शकों के नेत्रों को स्तम्भित कर देते हैं, ऐसे ही ऐन्द्रजालिक लोगों के परम गुरु योगियों का अन्तर्धान होना कुछ आश्चर्यजनक नहीं है ॥ २१ ॥

भो० वृ०—कायः शरीरं तस्य रूपं चक्षुर्ग्राह्यो गुणस्तस्मिन्नस्त्यस्मिन्काये रूपमिति संयमात्तस्य रूपस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वरूपा या शक्तिस्तस्याः

स्तम्भे भावनावशात् प्रतिबन्धे चक्षुष्प्रकाशासंयोगे चक्षुषः प्रकाशः सत्त्वधर्मस्तस्यासंयोगे तद्ग्रहणव्यापाराभावे योगिनोऽन्तर्धानं भवति । न केनचिदसौ दृश्यत इत्यर्थः । एतेनैव रूपाद्यन्तर्धानोपायप्रदर्शनेन शब्दादीनां श्रोत्रादिग्राह्याणामन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम् ॥ २१ ॥

ओ० वृ० का भा०—काया शरीर को कहते हैं, उसका रूप नेत्रों से ग्रहण करने योग्य एक गुण है। उस काया के रूप ज्ञान में जो संयम किया जाता है उससे नेत्रों की ग्रहण करने वाली शक्ति का स्तम्भ हो जाता है अर्थात् भावना के प्रभाव से नेत्र की शक्ति का स्तम्भ हो जाता है, अर्थात् नेत्र का प्रकाश रुक जाता है क्योंकि देखना मन का और बुद्धि का गुण है और उसके अभाव से योगी अन्तर्धान हो जाता है तब कोई भी योगी को नहीं देख सकता है ॥ २१ ॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

सूत्र का पदार्थ—(सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म्म) सोपक्रम और निरुपक्रम जो दो प्रकार के कर्म्म हैं (तत् संयमात्) उन में संयम करने से (अपरान्तज्ञानम्) मृत्युका ज्ञान होता है (वा अरिष्टेभ्यः) अथवा दुःखों से मृत्युका ज्ञान होता है ॥ २२ ॥

सू० का भा०—सोपक्रम और निरुपक्रम कर्मों में संयम करने से दुःखों से योगी को मृत्यु का ज्ञान होता है ॥ २२ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्र यथाऽऽर्द्रं वस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत् तथा सोपक्रमम् । यथा च तदेव सम्पिण्डितम् चिरेण संशुष्येत् एवम् निरुपक्रमम् । यथा वाऽग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो

युक्तः द्राघीयसा कालेन दहेत्तथा सोपक्रमम्। यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत्तथा निरुपक्रमम्। तदैकभविकमायुष्करं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत् संयमादपरान्तस्य प्रायणस्य ज्ञानं। अरिष्टेभ्यो वेति। त्रिविधमरिष्टमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं चेति। तत्राऽऽध्यात्मिकं घोषं स्वदेहे पिहितकर्णो न शृणोति, ज्योतिर्वा नेत्रेऽवष्टब्धे न पश्यति। तथाऽऽधिभौतिकं यमपुरुषान्पश्यति, पितॄनतीतानकस्मात्पश्यति। तथाऽऽधिदैविकं स्वर्गमकस्मात् सिद्धान्वा पश्यति। विपरीतं वा सर्वमिति। अनेन वा जानात्यपरान्तं मरणमुपस्थितमिति ॥ २२ ॥

भा० का प०—आयु अर्थात् जीवन जिसका फल है वह कर्म दो प्रकार का है—सोपक्रम और निरुपक्रम। उन दोनों में जैसे जल से भीगे वस्त्र को निचोड़ कर फैलाने से बहुत ही थोड़े काल में वस्त्र सूख जाता है ऐसे ही सोपक्रम कर्म बहुत शीघ्र फलजनक होता है और जैसे वही वस्त्र तह करके रख देने से अधिक समय में सूखता है ऐसे ही निरुपक्रम कर्म विलम्ब से अधिक समय में फल देता है। अथवा जैसे अग्नि सूखे तृणसमूह में डालने और वायु की सहायता से शीघ्र दाहक हो जाता है ऐसे ही सोपक्रम शीघ्र फलदायक होता है। वही अग्नि तृणसमूह के किसी भाग में थोड़ी २ डालने से विलम्ब से जलावेगी ऐसे ही निरुपक्रम कर्म फल देता है। इस रीति से एक जन्म के दो प्रकार के कर्म होते हैं-एक सोपक्रम और दूसरे निरुपक्रम। उन कर्मों में संयम करने से अथवा अरिष्टों से मृत्यु का ज्ञान होता है। अरिष्ट तीन प्रकार के हैं। १—आध्यात्मिक, २—आधिभौतिक और ३—आधिदैविक। उनमें से आध्यात्मिक अरिष्ट उसे कहते हैं जिसमें कान बन्द करने से शरीर के भीतर शब्द सुनाई नहीं देता, नेत्रों के रुक जाने से शरीर के भीतर प्रकाश को नहीं देखता, आधिभौतिक अरिष्ट का लक्षण यह है कि

यम के दूतों को और पितरों को देखता है आधिदैविक अरिष्ट वह है जिसमें अचानक अधिक सुख वाले लोकों को सिद्धों को देखना अथवा विपरीत सब पदार्थों को देखता है। इससे जानता है कि मृत्यु समीप है ॥ २२ ॥

भा० का भा०—पहिले जन्मों में किये वह कर्म जिनसे वर्तमान जन्म की आयु वनी है दो प्रकार के हैं-एक सोपक्रम दूसरे निरुपक्रम सोपक्रम कर्म वे हैं जिनका फल वर्त्तमान समय में मनुष्य भोगता है जैसे घाम में गीले वस्त्र पसारने से शीघ्र सूखते हैं और वही छाया में करके रखने से बहुत विलम्ब में सूखते हैं, इन्हीं दोनों प्रकार के कर्मों में संयम करने से अर्थात् दृढ़ता के साथ यह चिन्तन करने से कि मेरे कर्म शीघ्र फल देने वाले हैं या विलम्ब में फल देंगे ऐसा संयम करने से योगी को अपनी मृत्यु का ज्ञान हो जाता है। अथवा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखों से योगी के अपनी मृत्यु का ज्ञान हो जाता है ॥ २२ ॥

भो० वृ०—आयुर्विपाकं यत्पूर्वकृतं कर्म तद्द्विप्रकारं सोपक्रमं निरुपक्रमञ्च। तत्र सोपक्रमं यत् फलजननायोपक्रमेण कार्य्यकरणाभिमुख्येन सह वर्त्तते। यथोष्णप्रदेशे प्रसारितमार्द्रं वासः शीघ्रमेव शुष्यति। उक्तरूपविपरीतं निरुपक्रमं यथा तदेवाऽऽर्द्रं वासः संवर्तितमनुष्णदेशे चिरेण शुष्यति। तस्मिन् द्विविधे कर्मणि यः संयमं करोति किं मम कर्म शीघ्रविपाकं चिरविपाकं वा एवं ध्यानदार्ढ्यादपरान्तज्ञानमस्योत्पद्यते। अपरान्तः शरीरवियोगस्तस्मिन् ज्ञानममुष्मिन् कालेऽमुष्मिन् देशे मम शरीरवियोगो भविष्यतीति निःसंशयं जानाति। अरिष्टेभ्यो वा। अरिष्टानि त्रिविधानि आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदेन। तत्राऽऽध्यात्मिकानि पिहितकर्णः कोष्ठयस्य वायोर्घोषं न शृणोतीत्येवमादीनि। आधिभौतिकानि अकस्माद्विकृतपुरुषदर्शनादीनि। आधिदैविकानि अकाण्ड एव द्रष्टुमशक्यस्वर्गादिपदार्थदर्शनादीनि। तेभ्यः शरीरवियोगकालं जानाति।

यद्यपि अयोगिनामप्यरिष्टेभ्यः प्रायेण तज्ज्ञानमुत्पद्यते तथाऽपि तेषां सामान्याकारेण तत्संशयरूपं, योगिनां पुनर्नियतदेशकालतया प्रत्यक्षवदव्यभिचारि ॥ २२ ॥

परिकर्मनिष्पादिताः सिद्धीः प्रतिपादयितुमाह—

भो० वृ० का भा०—आयु का विपाक जो पूर्व किया हुआ कर्म है वह दो प्रकार का है एक सोपक्रम और दूसरा निरुपक्रम। सोपक्रम कर्म उन्हें कहते हैं जो वर्तमान काल में फल देने के वास्ते उद्यत हैं जैसे गर्मी भरे स्थान में गीले (भीगे) वस्त्र को पसारने से शीघ्र सूखता है इससे विपरीत अर्थात् जो उल्टा है उसे निरुपक्रम कर्म्म कहते हैं। जैसे शीत प्रधान देश में रक्खा हुआ वस्त्र विलम्ब से सूखता है। इन दो प्रकार के कर्म्मों में जो संयम करता है अर्थात् विचारता है कि मेरे कर्म शीघ्र फल देने वाले हैं वा विलम्ब से फल देने वाले हैं इस दृढ़ ध्यान से अपरान्त ज्ञान उत्पन्न होता है। अपरान्त मरने को कहते हैं अर्थात् योगी निश्चयपूर्वक जान जाता है कि अमुक समय में और अमुकदेश में मेरा मरण होगा अथवा तीन प्रकार के दुःखों से जो ज्ञान छिपा हुआ है वह प्रकाशित हो जाता है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक यही तीन प्रकार के दुःख हैं. इन में से आध्यात्मिक दुःख द्वारा अन्तःकरण घिरा रहता है इस कारण अन्तर्गत वायु का शब्द सुनाई नहीं देता है उस दुःख के दूर होने से वह शब्द सुन पड़ता है। आधिदैविक दुःख से भयङ्कर पुरुष का दर्शन होता है। आधिभौतिक दुःख से अकाल में स्वर्गादि का दर्शन होता है उस से अपनी मृत्यु का समय जाना जाता है यद्यपि यह बात अयोगी को भी होती है किंतु अयोगी को नियतज्ञान नहीं होता अर्थात् उस ज्ञान में संशय बना रहता है और योगी को निश्चयपूर्वक देश, काल का प्रत्यक्ष के समान ज्ञान हो जाता है ॥२२॥ कर्मों का वर्णन किया, आगे सिद्धियों का वर्णन करेंगे।

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

सूत्र का पदार्थ—(मैत्र्यादिषु) मैत्री आदि में संयम करने से (बलानि) बल प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

सू० का भा०—मैत्री, मुदिता और करुणा में संयम करने से बल की वृद्धि होती है ॥ २३ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—मैत्री करुणा मुदितेति तिस्रो भावनास्तत्र भूतेषु सुखितेषु मैत्रीं भावयित्वा मैत्रीबलं लभते। दुःखितेषु करुणां भावयित्वा करुणाबलं लभते। पुण्यशीलेषु मुदितां भावयित्वा मुदिताबलं लभते। भावनातः समाधिर्यः स संयमस्ततो बलान्यवन्ध्यवीर्याणि जायन्ते। पापशीलेषूपेक्षा न तु भावना। ततश्च तस्यां नास्ति समाधिरिति अतो न बलमुपेक्षातस्तत्र संयमाभावादिति ॥ २३ ॥

भा० का प०—मैत्री, मुदिता और करुणा यह तीन प्रकार की भावना हैं। उनमें से सुखी प्राणियों में मित्रता की भावना करके मित्रता के बल को पाता है। दुःखी प्राणियों में करुणा अर्थात् दया की भावना करने से दयाबल को पाता है। धर्मात्माओं में प्रसन्नता की भावना करने से मुदिताबल को पाता है। भावना से समाधि होती है समाधि से संयम बल प्राप्त होता है और वे अनिवार्य्य बल होते हैं अर्थात् उन शक्तियों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रह सकता। पाप करने का स्वभाव है जिनका उनमें त्याग होता है। इससे उनमें भावना नहीं होती। इस हेतु से उपेक्षा में समाधि भी नहीं होती। इस ही कारण से उपेक्षा का बल भी नहीं होता क्योंकि उसमें संयम होना असम्भव है ॥ २३ ॥

भा० का भा०—पूर्व कही हुई मैत्री, मुदिता और करुणा, भावनाओं में संयम करने से मैत्रीबल, करुणाबल और मुदिताबल की वृद्धि होती है अर्थात् जब योगी सब सुखी प्राणियों को अपना मित्र समझता है तब उसको भी सब अपना मित्र समझने लगते हैं, जब योगी दुःखी

प्राणियों पर कृपा करता है तब उस पर भी सब कृपालु होते हैं और जब योगी मुदिता में संयम करता है अर्थात् पुण्यशीलों को देखकर प्रसन्न होता है तब उसको भी देख कर सब प्रसन्न होते हैं। अब यहां पर शङ्का होती है कि पूर्वपाद में चार प्रकार की भावना कहीं थीं। किंतु इस सूत्र में उपेक्षा का परित्याग क्यों किया इसका उत्तर भाष्यकार यह देते हैं कि पापी लोगों की जो उपेक्षा अर्थात् त्याग किया जाता हैं इससे उपेक्षा भावना नहीं कहला सकती, इस से उसमें समाधि ही नहीं हो सकती और समाधि के अभाव से उसमें संयम भी नहीं हो सकता और जब संयम ही न हुआ तो उसका बल कैसे हो सकता है ॥ २३ ॥

भो० वृ०—मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षासु यो विहितसंयमस्तस्य बलानि मैत्र्यादीनां सम्बन्धीनि प्रादुर्भवन्ति। मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षास्तथाऽस्य प्रकर्षं गच्छन्ति यथा सर्वस्य मित्रत्वादिकमयं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का अ०—मैत्री, करुणा मुदिता और उपेक्षा में जो संयम किया जाता है उससे मैत्री आदि का बल प्राप्त होता है अर्थात् योगी की मैत्री आदि वृद्धि को प्राप्त होती हैं जिससे योगी सब का मित्र बन जाता है ॥ २३ ॥

आगे दूसरी सिद्धि कहते हैं—

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

सूत्र का पदार्थ—(बलेषु) बलों में संयम करने से (हस्तिबलादीनि) हस्तिबलादि प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

सू० का भा०—योगी जिसके बल में संयम करता है उसी के समान योगी को बल प्राप्त होता ॥ २४ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—हस्तिबले संयमाद्धस्तिबलो भवति। वैनतेयबले संयमाद्वैनतेयबलो भवति। वायुबले संयमाद्वायुबलो भवतीत्येवमादि ॥ २४ ॥

आ० का भा०—हस्ति के बल में संयम करने से हस्ति के समान बल वाला होता है, बलवान् पक्षियों के बल में संयम करने से उनके समान बलवान् होता है, वायु के बल में संयम करने से वायु के समान बलवान् होता है इत्यादि अन्य बल भी ऐसे ही समझने चाहिए॥२४॥

भा० का भा०—योगी समाधि समय में जिसके बल में संयम करेगा उसके समान ही बलवान् हो जायगा ॥ २४ ॥

चौबीसवें सूत्र का वि०—योगी को जो बल वृद्धि आदि सिद्धि प्राप्त होती हैं उसमें कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं दिया जासकता है क्योंकि चिकित्सा शास्त्र, ज्योतिष और योगविषय ऐसे नहीं हैं जिनमें शब्दप्रमाण पर विश्वास करके श्रद्धा करली जाय वरन् यह सब विषय ऐसे हैं कि जिन पर विना प्रत्यक्ष देखे कदापि विश्वास न करना चाहिये क्योंकि यदि किसी मूर्ख वैद्य के वचन पर विश्वास करके कोई अहितकारी औषधि खाले तो मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। ऐसे ही किसी कच्चे योगी के कहने से यदि अयुक्ति से प्राणों का निरोध कर बैठे तो मनुष्य के प्राण-नाश में कोई सन्देह नहीं रहता है। इस से जो योगी योग क्रिया में व्युत्पन्न और सुचतुर हो उस ही की बात पर विश्वास करके योग की सिद्धियों को प्रत्यक्ष करके देखना चाहिये। तब ही इन सिद्धियों का मनुष्य पूरा पता पा सकता है, अन्यथा नहीं ॥ २४ ॥

भो० वृ०—हस्त्यादिसम्बन्धिषु बलेषु कृतसंयमस्य तद्बलानि हस्त्यादिबलानि आविर्भवन्ति । तदयमर्थः—यस्मिन् हस्तिबले वायुवेगे सिंहवीर्य्ये वा तन्मयीभावेनायं संयमं करोति तत्तत्सामर्थ्ययुक्तं सत्त्वमस्य प्रादुर्भवतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—हस्ती आदि के बल में संयम करने से हस्ती आदि का बल प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि हाथी के बल,

वायु-वेग वा सिंहवीर्य्य में तन्मयभाव से जब योगी संयम करता है तब योगी के प्राण भी वैसे ही बलयुक्त होजाते हैं ॥२४॥ और सिद्धि कहते हैं-

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितवि-प्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

सूत्र का पदार्थ—(प्रवृत्त्यालोकन्यासात्) प्रवृत्ति का जो आलोक अर्थात् प्रकाश उसके न्यास अर्थात् ज्ञान के साथ संयोग करने से (सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्) सूक्ष्म, गुप्त और उत्तम अर्थों का ज्ञान होता है ॥ २५ ॥

सूत्र का भा०—पूर्वोक्त ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का प्रकाश संयुक्त करने से योगी सूक्ष्म, व्यवहित और उत्तमोत्तम अर्थों को जान सकता है ॥२५॥

व्या० दे० कृ० भा०—ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरुक्ता मनसस्त-स्या य आलोकस्तं योगी सूक्ष्मे वा व्यवहिते वा विप्रकृष्टे वाऽर्थे विन्यस्य तमर्थमधिगच्छति ॥ २५ ॥

भा० का प०—पूर्वपाद में जो ज्योतिष्मती प्रवृत्ति मन की कही थी उसका जो प्रकाश उसको योगी सूक्ष्म, गुप्त वा उत्तमोत्तम अर्थ में लगा कर उस अर्थ को जान लेता है ॥ २५ ॥

भा० का भा०—पूर्वपाद में मन की जो ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कही थी उसको ज्योति के अर्थों के साथ सम्बन्ध करने से योगी सब प्रकार के अर्थों को जान लेता है ॥ २५ ॥

भो० वृ०—प्रवृत्तिर्विषयवती ज्योतिष्मती च प्रागुक्ता तस्या योऽसा-वालोकः सात्त्विकप्रकाशप्रसरस्तस्य निखिलेषु विषयेषु न्यासात् तद्वासितानां विषयाणां भावनातोऽन्तःकरणेषु इन्द्रियेषु च प्रकृष्टशक्तिमापन्नेषु

सुसूक्ष्मस्य परमाण्वादेर्व्यवहितस्य भूम्यन्तर्गतस्य निधानादेर्विप्रकृष्टस्य मेर्वपरपार्श्ववर्त्तिनो रसायनादेर्ज्ञानमुत्पद्यते ॥ २५ ॥

एतत् समानवृत्तान्तं सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—ज्योतिष्मती और विषयवती जो प्रवृत्ति पहिले कही थीं उन से जो सात्त्विक प्रकाश फैलता है उस प्रकाश से जो सम्पूर्ण विषय प्रकाशित होते हैं उन में संयम करने से योगी की इन्द्रियाँ शुद्ध और बलवान् हो जाती हैं इस कारण अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु आदि भूमि के भीतर जो छिपे हुए पदार्थ हैं और बड़े पदार्थ मेरु पर्वत से परलीपार जो रसातल आदि देश हैं उन सब का ज्ञान होता है ॥ २५ ॥ और भी सिद्धि कहते हैं—

भुवनज्ञानं सूर्य्ये संयमात् ॥ २६ ॥

सूत्र का पदार्थ—(सूर्य्ये संयमात्) सूर्य्य में संयम करने से (भुवनज्ञानम्) जगत् का यथार्थ ज्ञान होता है ॥ २६ ॥

सूत्र का भा०—सूर्य्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है ॥२६॥

व्या० दे० कृ० भा०—तत्प्रस्तारः सप्त लोकाः। तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूर्लोकः। मेरुपृष्ठादारभ्य-आध्रुवाद् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः। ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः। चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः। त्रिविधो ब्राह्मः। तद्यथा—जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति।

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः ॥ इति संग्रह श्लोकः॥

तत्रावीचेरुपर्य्युपरि निविष्टाः षण्महानरकभूमयो घन-सलिलानलानिलाकाशतमःप्रतिष्ठा महाकालाम्बरीषरौरवमहारौरवकालसूत्रान्धतामिस्राः। यत्र स्वकर्म्मोपार्ज्जित दुःखवेदनाः

प्राणिनः कष्टमायुर्दीर्घमाक्षिप्य जायन्ते। ततो महातलरसातलातलसुतलवितलातलातलपातालाख्यानि सप्त पातालानि। भूमिरियमष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती, यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनः। तस्य राजतवैदूर्य्यस्फटिकहेममणिमयानि शृङ्गाणि। तत्र वैदूर्य्यप्रभानुरागान्नीलोत्पलपत्रश्यामो नभसो दक्षिणो भागः, श्वेतः पूर्वः स्वच्छः पश्चिमः, कुरुण्डकाभ उत्तरः। दक्षिणपार्श्वे चास्य जम्बूर्यतोऽयं जम्बूद्वीपः। तस्य सूर्य्यप्रचाराद्रात्रिंदिवं लग्नमिव वर्त्तते। तस्य नीलश्वेतशृङ्गवन्त उदीचीनास्त्रयः पर्वता द्विसहस्रायामाः। तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नव नव योजनसहस्राणि रमणकं हिरण्मयमुत्तराः कुरव इति। निषधहेमकूटहिमशैला दक्षिणतो द्विसहस्रायामाः। तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नव नव योजनसहस्राणि हरिवर्षम् किम्पुरुषं भारतमिति। सुमेरोः प्राचीना भद्राश्वमाल्यवत् सीमानः प्रतीचीनाः केतुमाला गन्धमादनसीमानः। मध्येवर्षमिलावृतम्। तदेतद्योजनशतसहस्रम् सुमेरोर्दिशि दिशि तदर्धेन व्यूढम्।

स खल्वयंशतसाहस्रायामो जम्बूद्वीपस्ततो द्विगुणेन लवणोदधिना वलयाकृतिना वेष्टितः। ततश्च द्विगुणा द्विगुणाः शाककुशक्रौंचशाल्मलगोमेध (प्लक्ष) पुष्करद्वीपाः, समुद्राश्च सर्षपराशिकल्पाः सविचित्रशैलावतंसा इक्षुरससुरासर्पिर्दधिमण्डक्षीरस्वादूदकाः। सप्त समुद्र परिवेष्टिता वलयाकृतयो लोकालोकपर्वतपरिवाराः पञ्चाशद्योजनकोटिपरिसंख्याताः। तदेतत् सर्वं सुप्रतिष्ठित संस्थानमण्डमध्ये व्यूढम्। अण्डञ्च प्रधानस्याणुरवयवो यथाऽऽकाशे खद्योत इति।

तत्र पाताले जलधौ पर्वतेष्वेतेषु देवनिकाया असुरगन्धर्वकिन्नरकिम्पुरुषयक्षराक्षसभूतप्रेतपिशाचापस्मारकाप्सरोब्रह्मराक्ष–

सकूष्माण्डविनायकाः प्रतिवसन्ति। सर्वेषु द्वीपेषु पुण्यात्मानो देवमनुष्याः।

सुमेरुस्त्रिदशानामुद्यानभूमिः। तत्र मिश्रवनं नन्दनं चैत्ररथं सुमानसमित्युद्यानानि। सुधर्म्मा देवसभा। सुदर्शनं पुरम्। वैजयन्तः प्रासादः। ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्धा वायुविक्षेपनियमेनोपलक्षितप्रचाराः सुमेरोरुपर्युपरि सन्निविष्टा दिवि विपरिवर्त्तन्ते।

माहेन्द्रनिवासिनः षड्देवनिकायाः—त्रिदशा अग्निष्वात्ता याम्यास्तुषिता अपरिनिर्मितवशवर्त्तिनः परिनिर्मितवशर्तिनश्चेति। सर्वे सङ्कल्पसिद्धा अणिमाद्यैश्वर्य्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिन औपपादिकदेहा उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिचाराः।

महति लोके प्राजापत्ये पञ्चविधो देवनिकायः—कुमुदा ऋभवः प्रतर्दना अञ्जनाभाः प्रचिताभा इति। एते महाभूतवशिनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्रायुषः। प्रथमे ब्रह्मणो जनलोके चतुर्विधो देवनिकायो ब्रह्मपुरोहिता ब्रह्मकायिका ब्रह्ममहाकायिका अमरा इति। ते भूतेन्द्रियवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः।

द्वितीये तपसि लोके त्रिविधो देवनिकायः आभास्वरा महाभास्वराः सत्यमहाभास्वरा इति। ते भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः सर्वे ध्यानाहारा ऊर्ध्वरेतस ऊर्ध्वमप्रतिहतज्ञाना अधरभूमिष्वनावृतज्ञानविषयाः। तृतीये ब्रह्मणः सत्यलोके चत्वारो देवनिकाया अकृतभवनन्यासाः स्वप्रतिष्ठा उपर्युपरि स्थिताः प्रधानवशिनो यावत् सर्गायुषः।

तत्राच्युताः सवितर्कध्यानसुखाः, शुद्धनिवासाः सविचारध्यानसुखाः, सत्याभा आनन्दमात्रध्यानसुखाः, संज्ञासंज्ञिनश्चास्मितामात्रध्यानसुखाः। तेऽपि त्रैलोक्यमध्ये प्रतितिष्ठन्ति। त एते सप्तलोकाः सर्व एव ब्रह्मलोकाः। विदेहप्रकृतिलयास्तु

मोक्षपदे वर्त्तन्त इति न लोकमध्ये न्यस्ता इति । एतद्योगिना साक्षात्कर्त्तव्यं सूर्य्यद्वारे संयमं कृत्वा ततोऽन्यत्रापि एवं तावदभ्यसेद्यावदिदं सर्वं दृष्टमिति ॥ २६ ॥

भा० का प०—भुवन का प्रस्तार अर्थात् विस्तार यों है—सात लोक हैं उनमें से ध्रुव से लेकर मेरुपृष्ठ पर्यन्त भूर्लोक कहाता है । मेरुपृष्ठ से ध्रुवपर्यन्त सूर्य्यादि ग्रह अश्विनी आदि नक्षत्र और अरुन्धती आदि तारा से पूर्ण जो लोक है उसे अन्तरिक्ष लोक कहते हैं इसके परे पाँच प्रकार का स्वर्लोक है तीसरा लोक माहेन्द्र कहाता है चौथा प्राजापत्य महर्लोक है । तदनन्तर तीन प्रकार का ब्रह्मलोक, तपोलोक और सत्यलोक । ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है—तीन प्रकार का ब्रह्मलोक है प्राजापत्य महर्लोक है माहेन्द्र स्वर्लोक है, अन्तरिक्ष में तारा और पृथ्वी में प्रजा रहती है, इत्यादि ॥ २६ ॥

भा० का भा०—महर्षि व्यासदेव के भाष्य का अभिप्राय यह है कि सूर्य्य में संयम करने से ब्रह्मलोकादि ऊर्ध्वलोक और रसातल आदि अधःस्थित लोकों का योगी को ज्ञान होता है । इस भाष्य में संग्रह श्लोक के पूर्व जो इति शब्द है वहीं तक भाष्य की समाप्ति प्रतीत होती है और उससे आगे का भाष्य प्रक्षिप्त जान पड़ता है क्योंकि इस भाष्य में जो द्वीप तथा समुद्रों का विस्तार लिखा है वह ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्तग्रन्थों के विरुद्ध है इसके अतिरिक्त दो दो और तीन तीन सहस्र वर्षों की अवस्था भी इसमें लिखी है और वेदों में सबकी अवस्था का प्रमाण १०० वर्ष लिखा है यद्यपि योग से अवस्था की वृद्धि हो सकती है परन्तु वह इतनी अधिक नहीं हो सकती है । वेदविरुद्ध होने से इति के पश्चात् का भाष्य माननीय नहीं हो सकता है इस ही कारण भाष्य के पदार्थ में इति पर्यन्त भाष्य का ही ग्रहण किया है ।

विशेष—सूर्य चन्द्र इन शब्दों से योगशास्त्र में बाहर के सूर्यादि का ग्रहण नहीं है किंतु शरीरस्थ ही सूर्यादि का ग्रहण होता है क्यों—

कि बाह्य सूर्यादिकों में संयम करने का कोई नियम नहीं लिखा तो विभूतिपाद में उस के द्वारा सिद्धि की प्राप्ति कैसे कह सकते हैं, इस लिये शरीरस्थ इड़ा नाड़ी जो दक्षिण भाग से चलती है उसे सूर्य और वाम ओर से पिंगला नाड़ी वहती है उसे चन्द्र एवम् मध्यस्थ सुषुम्ना नाड़ी को ध्रुव कहते हैं और जो सूत्र के भाष्य में सप्तलोक कहे हैं वे योग की सप्तभूमिका हैं। महाराज भोज विरचित वृत्तियों से जान पड़ता है कि वह पूर्वसूत्र में आन्तरिक प्रकाश और इस सूत्र में बाह्य प्रकाश ग्रहण मानते हैं तो इस से यह भी सिद्ध होता है कि बाह्य विषय अर्थात् प्रत्यक्ष लौकिक सूर्यादि में संयम करने का ही उनका अभिप्राय है परन्तु भगवान् भाष्यकार ने सूर्य शब्द से शरीर की उस नाड़ी का ग्रहण किया है जो पीठ के मेरुदण्ड की दाहिनी ओर से चलती है और उस में संयम होना भी सम्भव है ऐसे ही चन्द्रमा के और ध्रुव के संयम को भी जानना भृकुटि के मध्य में जो तारे के समान एक प्रकाश है उसे तारा कहते हैं ॥ २६ ॥

भो० वृ०—सूर्यप्रकाशमये यः संयमं करोति तस्य सप्तसु भूर्भुवःस्वःप्रभृतिषु लोकेषु यानि भुवनानि तत्तत्सन्निवेशभाञ्जि स्थानानि तेषु यथावदस्य ज्ञानमुत्पद्यते। पूर्वस्मिन् सूत्रे सात्त्विक प्रकाश आलम्बनतयोक्त इह तु भौतिक इति विशेषः ॥ २६ ॥

भौतिकप्रकाशालम्बनद्वारेणैवसिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—प्रकाश के निमित्त जो सूर्य में संयम करता है उसको भूर्लोक भुवर्लोक और स्वर्लोक में जितने भुवन हैं और उनमें सन्निवेश रखने वाले जो स्थान हैं उन सब के विषय में संयमी को यथार्थ ज्ञान होता है। पहिले सूत्र में सात्विक प्रकाश का वर्णन किया था और इस सूत्र में भौतिक प्रकाश का वर्णन किया है यही इन दोनों सूत्रों में भेद है ॥ २६ ॥

भौतिक प्रकाश में संयम करने से और सिद्धि का वर्णन करते हैं :—

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

सूत्र का पदार्थ—(चन्द्रे) चन्द्रमा में संयम करने से (ताराव्यूहज्ञानम्) नक्षत्रों के समूह का ज्ञान होता है ॥२७॥

व्या० दे० कृ० भा०—चन्द्रे संयमं कृत्वा ताराव्यूहं विजानीयात् ॥

भा० का प०—चन्द्रमा में चित्तवृत्ति को लगा कर ताराओं की राशि को जाने ॥ २७ ॥

भा० का भा०—स्पष्ट है ॥ २७ ॥

भो० वृ०—ताराणां ज्योतिषां यो व्यूहो विशिष्टः सन्निवेशस्तस्य चन्द्रे कृतसंयमस्य ज्ञानमुत्पद्यते । सूर्य्यप्रकाशेन हततेजस्कत्वात्ताराणां सूर्य्यसंयमात्तज्ज्ञानं न शक्नोति भवितुमिति पृथगुपायोऽभिहितः ॥२७॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—तारागण का जो समूह उसका विशेष ज्ञान चन्द्रमा में संयम करने से उत्पन्न होता है। तारागण का तेज सूर्य्य के प्रकाश से विनष्ट हो जाता है इसलिए सूर्य्य में संयम करने से उनका ज्ञान नहीं हो सकता है इस कारण यह दूसरा उपाय उनके ज्ञान का कहा है ॥ २८ ॥ दूसरी सिद्धि कहते हैं—

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

सूत्र का पदार्थ—(ध्रुवे) ध्रुव नामक नक्षत्र में संयम करने से (तद्गतिज्ञानम्) तारागण की गति का ज्ञान होता है ॥ २८ ॥

सू० का भा०—ध्रुव में संयम करने से तारों की गति का ज्ञान होता है ॥ २८ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—ततो ध्रुवे संयमं कृत्वा ताराणां गतिं विजानीयात्। उर्ध्वविमानेषु कृतसंयमस्तानि विजानीयात् ॥२८॥

भा० का प०—इस के पश्चात् ध्रुव नामक तारे में संयम करके नक्षत्रों की चाल को जाने ऊर्ध्व गमन करने वाले जो विमान हैं उन में संयम करके विमानों को जाने ॥ २८ ॥

भा० का भा०—योगी को उचित है कि ध्रुव में संयम कर के तारों की गति को जाने और ऊर्ध्वगामी विमानों में संयम कर के विमानों को भी जानले ॥ २८ ॥

भोज वृ०—ध्रुवे निश्चले ज्योतिषां प्रधाने कृतसंयमस्य तारा ताराणां या गतिः प्रत्येकं नियतकाला नियतदेशा च तस्या ज्ञानमुत्पद्यते। इयं ताराऽयं ग्रह इयता कालेनामुंराशिमिदं नक्षत्रं यास्यतीति सर्वं जानाति। इदं कालज्ञानमस्य फलमित्युक्तं भवति ॥ २८ ॥

वाह्याः सिद्धीः प्रतिपाद्याऽऽन्तराः सिद्धीः प्रतिपादयितुमुपक्रमते—

भोज वृ० का भा०—तारागण में जो प्रधान और निश्चल ध्रुव है उस में संयम करने से तारों की जो गति है अर्थात् किस ध्रुव के आश्रय से किस तारा की कितने समय में गति होती है यह ज्ञान होता है। फलितार्थ यह है कि योगी निश्चयपूर्वक जान जाता है कि यह तारा और यह ग्रह इतने काल में अमुक राशि वा अमुक नक्षत्र पर पहुंचेगा, यह योगी को काल ज्ञान होता है ॥ २८ ॥

वाह्य सिद्धियों का वर्णन करके आगे आन्तरिक सिद्धियों का वर्णन करेंगे—

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

सूत्र का पदार्थ—(नाभिचक्रे) चक्राकार नाभि में (कायव्यूहज्ञानम्) शरीर के समुदाय का ज्ञान होता है ॥ २९ ॥

सू० का भा०—नाभिचक्र में संयम करने से शरीरस्थ सब पदार्थों का ज्ञान होता है ॥ २६ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—नाभिचक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं विजानीयात् । वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयो दोषाः । धातवः सप्त त्वग्लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि पूर्वं पूर्वमेषां बाह्यमित्येष विन्यासः ॥ २६ ॥

भा० का प०—नाभिचक्र में चित्त की वृत्ति को स्थिर करने से काया के समूह को जाने । वात, पित्त और कफ यह तीन दोष शरीर में रहते हैं और सात धातु हैं चर्म, रुधिर, मांस, नस, हड्डी, चर्बी और वीर्य इन में जो २ पूर्व हैं वह क्रमशः बाह्य हैं यह इनकी स्थिति का क्रम है ॥ २६ ॥

भा० का भा०—नाभि में शरीर के व्यूह का ज्ञान होता है शरीर में वातादि तीन दोष और त्वगादि सात धातु हैं । धातुओं की स्थिति का नियम यह है कि उत्तरोत्तर अन्तरङ्ग हैं इन्हीं से सब का शरीर रहता है ॥ २६ ॥

भो० वृ०—शरीरमध्यवर्त्ति नाभिसंज्ञकं यत् षोडशाकारं चक्रम् तस्मिन् कृतसंयमस्य योगिनः कायगतो योऽसौ व्यूहो विशिष्टरसमलधातुनाड्यादीनामवस्थानं तत्र ज्ञानमुत्पद्यते । इदमुक्तं भवति-नाभिचक्रं शरीरमध्यवर्त्ति सर्वतः प्रसृतानां नाड्यादीनां मूलभूतमतस्तत्र कृतावधानस्य समग्रसन्निवेशो यथावदाभाति ॥ २६ ॥ सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—शरीर के भीतर जो नाभिचक्र १६ आकार का है उस में जो योगी संयम करता है उस को कायव्यूह अर्थात् विशेष रस, मल, धातु और नाड़ी आदियों के स्थान का ज्ञान उत्पन्न होता है, अभिप्राय यह है कि नाभिचक्र शरीर के मध्य में है और शरीर में जितनी नाड़ियाँ फैली हुई हैं उन सबका मूल नाभिचक्र है अतएव उस में जो संयम करता है उसे सब नाड़ियों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है ॥ २६ ॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

सूत्र का पदार्थ—(कण्ठकूपे) कण्ठ के नीचे (क्षुत्पिपासानिवृत्तिः) क्षुधा और प्यास की निवृत्ति होजाती है ॥३०॥

सू० का भा०—कण्ठ के नीचे कूप में संयम करने से भूख और प्यास निवृत्त हो जाती है ॥ ३० ॥

व्या० दे० कृ० भा०—जिह्वाया अधस्तात् तन्तुस्तन्तोरधस्तात्कण्ठस्ततोऽधस्तात् कूपस्तत्र संयमात् क्षुत्पिपासे न बाधेते ॥३०॥

भा० का प०—जिह्वा के नीचे सूत्र के समान एक नस है उस तन्तु के अघोभाग में कण्ठस्थान है कण्ठ के अधोभाग में कूप अर्थात् गम्भीर छिद्र है उस कूपमें संयम से क्षुधा और तृषा दुःख नहीं देती हैं॥३०॥

भा० का भा०—जिह्वा के अधोभाग में तन्तु. तन्तु के अधोभाग में कण्ठ और कण्ठ के नीचे कूप है उस कूप में जब योगी संयम करता है तब उसे क्षुधा और पिपासा नहीं सतातीं ॥ ३० ॥

भो० वृ०— कण्ठे गले कूपः कण्ठकूपः, जिह्वामूले जिह्वातन्तोरधस्तात् कूप इव कूपो गर्त्ताकारः प्रदेशः प्राणादेर्यत्संस्पर्शात्क्षुत्पिपासादयः प्रादुर्भवन्ति तस्मिन् कृतसंयमस्य योगिनः क्षुत्पिपासादयो निवर्त्तन्ते। घण्टिकाधस्तात् स्रोतसा धार्य्यमाणे तस्मिन् भाविते भवत्येवंविधा सिद्धिः ॥३०॥

सिद्धयन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—कण्ठ में जिह्वा की जड़ में जिह्वा तन्तु के नीचे जो गढ़े के आकार का कण्ठकूप है इस ही में प्राणों के सम्पर्क से भूख और प्यास लगती है, उस में संयम करने से योगी को भूख प्यास का दुःख प्रतीत नहीं होता। यह सिद्धि जिह्वा के मूल में घांटी नामक संयम करने से होती है ॥ ३० ॥ और सिद्धि कहते हैं—

कूर्म्मनाड्यां स्थैर्य्यम् ॥ ३१ ॥

सूत्र का पदार्थ—(कूर्म्मनाड्याम्) कूर्म्म नाड़ी में (स्थैर्यम्) स्थिरता होती है ॥ ३१ ॥

सू० का भा०—कूर्मनाड़ी में संयम करने से योगी के चित्त की स्थिरता होती है ॥ ३१ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—कूपादध उरसि कूर्माकारा नाडी, तस्यां कृतसंयमः स्थिरपदं लभते। यथा सर्पो गोधा वेति ॥ ३१ ॥

भा० का प०—कूप के नीचे वक्षःस्थल में कच्छप के शरीराकार के समान एक नाड़ी है उस में संयम करने से अचल पद की प्राप्ति होती है जैसे सर्प अथवा गोह ॥ ३१ ॥

भा० का भा०—पूर्व सूत्र में कहे कूपके नीचे वक्षःस्थल में कछुए के शरीर के समान एक नाड़ी है जिसे कूर्मनाड़ी कहते हैं, उस में संयम करने से योगी को स्थिरपद की प्राप्ति होती है जैसे सर्प वा गोह अपने घर में जाकर चञ्चलता वा क्रूरता को त्याग देते हैं ऐसे ही योगी का चित्त इस नाड़ी में आकर स्थिर हो जाता है ॥ ३१ ॥

भो० वृ०-कण्ठकूपस्याधस्ताद्या कूर्माख्या नाडी तस्यां कृतसंयमस्य चेतसः स्थैर्यमुत्पद्यते। तत्स्थानमनुप्रविष्टस्य चञ्चलता न भवतीत्यर्थः। यदि वा कायस्य स्थैर्यमुत्पद्यते न केनचित्स्पन्दयितुं शक्यत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ सिद्ध्यन्तरमाह-

भो० वृ० का भा०—कण्ठकूप के नीचे जो कूर्मनाड़ी है उसमें संयम करने से चित्त की स्थिरता होती है अर्थात् उस स्थान में जब चित्त जाता है तब चंचलता को त्याग देता है यदि काया में स्थिरता प्राप्त हो जाय तो कोई भी चल फिर नहीं सकता। दूसरी सिद्धि फिर कहते हैं—

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

सूत्र का पदार्थ—(मूर्धज्योतिषि) कपाल की ज्योति में (सिद्धदर्शनम्) सिद्धों का दर्शन होता है ॥ ३२ ॥

सूत्र का भा०—कपालस्थ ज्योति में संयम करने से सिद्धों का दर्शन होता है ॥ ३२ ॥

व्या० दे० कृ० भा०- शिरःकपालेऽन्तश्छिद्रं प्रभास्वरं ज्योतिस्तत्र संयमात्सिद्धानां द्यावापृथिव्योरन्तरालचारिणां दर्शनं भवति ॥३२॥

भा० का प०—शिर के कपाल के भीतर एक छिद्र होता है उस में अत्यन्त प्रकाशमान एक ज्योति है उस में संयम करने से जो सिद्ध पृथिवी और अन्तरिक्ष के मध्य में फिरा करते हैं उनके दर्शन होते हैं ॥३२॥

भा० का भा०—कपाल के मध्य में एक छिद्र है उसमें अत्यन्त प्रकाशयुक्त जो ज्योति है उसमें संयम करने से अन्तरिक्ष में विचरने वाले महात्माओं के दर्शन होते हैं ॥ ३२ ॥

बत्तीसवें सूत्र का विशेष—सिर अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में प्रकाश का आधार है जैसे अन्तरिक्ष स्थित सूर्यादि ग्रहों का भूमि में प्रकाश फैलता है ऐसे ही मूर्द्धा की ज्योति का प्रकाश हृदय में फैलता है। यद्वा हृदय का सात्त्विक प्रकाश सिर में जाकर पुष्ट होता है, उस प्रकाश में संयम करने से पृथिवी में घूमने वाले सिद्ध पुरुषों का दर्शन होता है। यह सिद्धजन और लोगों को नहीं दीखते हैं ॥ ३२ ॥

भो० वृ०—शिरःकपाले ब्रह्मरन्ध्राख्यं छिद्रम् प्रकाशाधारत्वात् ज्योतिः। यथा गृहाभ्यन्तरस्थस्य मणेः प्रसरन्ती प्रभा कुञ्चिताकारेव सर्वप्रदेशे संघटते तथा हृदयस्थः सात्त्विकः प्रकाशः प्रसृतस्तत्र संपिण्डितत्वं भजते। तत्र कृतसंयमस्य ये द्यावापृथिव्योरन्तरालवर्तिनः सिद्धा दिव्याः पुरुषास्तेषामितरप्राणिभिरदृश्यानां तस्य दर्शनं भवति। तान्पश्यति तैश्च स सम्भाषत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥ सर्वज्ञत्व उपायमाह—

भो० वृ० का भा०—सिर के कपाल में जो ब्रह्मरन्ध्र नामक छिद्र है उस में प्रकाश रूप ज्योति है जैसे घर के भीतर रक्खी मणि का प्रकाश सब घर में फैलता है ऐसे ही हृदय के भीतर सात्त्विक प्रकाश जो सब

शरीर में फैला है वह ब्रह्मरंध्र में इकट्ठा रहता है उस प्रकाश में जो संयम करता है उसे पृथिवी और अंतरिक्ष के मध्य में रहने वाले सिद्ध अर्थात् दिव्य पुरुष जो दूसरे प्राणियों को नहीं दीखते हैं वे योगी को दीखते हैं और योगी से उन का वार्त्तालाप भी होता है ॥ ३२ ॥

सर्वज्ञत्व का उपाय कहते हैं--

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

सूत्र का पदार्थ---(प्रातिभाद्वा) अथवा प्रातिभ नामक तारा जो हृदय में है उसके ज्ञान से (सर्वम्) सम्पूर्ण ज्ञान होता है ॥ ३३ ॥

सूत्र का भा०-प्रातिभ के ज्ञान से योगी को सब ज्ञान होता है ॥ ३३ ॥

व्या० दे० कृ० भा०---प्रातिभं नाम तारकं तद्विवेकजस्य ज्ञानस्य पूर्वरूपम्। यथोदये प्रभा भास्करस्य। तेन वा सर्वमेव जानाति योगी प्रातिभस्य ज्ञानस्योत्पत्ताविति ॥ ३३ ॥

भा० का प०---प्रातिभ नामक एक तारा है उसका ज्ञान विवेक द्वारा उत्पन्न हुए सत्य ज्ञान का पूर्वरूप अर्थात् लक्षण है। जैसे अरुणोदय सूर्योदय का लक्षण है इस प्रातिभ ज्ञान से योगी को सम्पूर्ण ज्ञान होता है ॥ ३३ ॥

भा० का भा०-पूर्वोक्त कपालस्थ ज्योति के अन्तर्गत एक प्रातिभ नामक तारा है इस तारे का नाम प्रातिभ इस लिये है कि यह समस्त प्रतिभाओं (बुद्धियों) का मूल है, उसमें संयम करने से जो ज्ञान होता है वह प्रातिभ ज्ञान कहाता है। यह प्रातिभज्ञान होने से योगी को सम्पूर्ण ज्ञानों का उदय होता है क्योंकि यही ज्ञान प्रभाजन्य ज्ञान का पूर्वरूप है ॥ ३३ ॥

इकत्तीसवें सूत्र का विशेष—इस सूत्र के भाष्य में भगवान्

व्यासदेव ने मूर्द्धा में स्थित एक विलक्षण प्रातिभ नामक तारा माना है (इस तारे का स्थान दोनों भौंहों के बीच में लिखा है) और उस में संयम करने से सब सिद्धि मिलती हैं, किन्तु महाराज भोज ने किसी निमित्त की अपेक्षा न करके जो स्वाभाविक ज्ञान मन में उत्पन्न होता है उसको प्रतिभा माना है, उस प्रतिभा में संयम करने से सब सिद्धि प्राप्त होती हैं, भाष्य में लिखी प्रभा का अर्थ यथार्थज्ञान है। सूत्र में सब शब्द है, उससे कितने ही पण्डित अनुमान करते हैं कि महर्षि पतञ्जलि ने इस ही सूत्र तक योगसिद्धि वर्णन की है वे लोग सर्व शब्द में "सामान्ये नपुंसकम्" इस निर्देश से सिद्धि अर्थ लेने पर भी नपुंसकता को शुद्ध समझते हैं परन्तु दूसरे लोग "सर्वम्" से विशेष ज्ञान को मानते हैं; प्रातिभ का अर्थ भी ज्ञान ही है तब सारार्थ यह होगा कि ज्ञान में संयम करने से सब ज्ञानों की प्राप्ति होती है ॥ ३३ ॥

भो० वृ०—निमित्तानपेक्षं मनोमात्रजन्यमविसंवादकं द्रागुत्पद्यमानं ज्ञानं प्रतिभा । तस्यां संयमे क्रियमाणे प्रातिभं विवेकख्यातेः पूर्वंभावि तारकं ज्ञानमुदेति । यथोदेष्यति सवितरि पूर्वं प्रभा प्रादुर्भवति तद्वद्विवेकख्यातेः पूर्वंवितारकं सर्वविषयं ज्ञानमुत्पद्यते । तस्मिन् सति संयमान्तरानपेक्षः सर्वं जानातीत्यर्थः ॥ ३३ ॥ सिद्ध्यन्तरमाह-

भोज वृ० का भा०—किसी कारण की अपेक्षा न रखने वाला केवल मन से उत्पन्न हुआ बिना झगड़े का ज्ञान प्रतिभा कहाता है, उस प्रतिभा में संयम करने से प्रातिभ ज्ञान जो विवेकख्याति का पूर्वरूप है उत्पन्न होता है जैसे सूर्य्य के उदय होने से पूर्व प्रभा फैल जाती है ऐसी ही विवेकख्याति के पूर्व सब विषयों का ज्ञान योगी को उत्पन्न होता है। उसके उत्पन्न होने से योगी को और संयमों की आवश्यकता नहीं रहती ॥ ३० ॥ दूसरी सिद्धि कहते हैं-

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

सूत्र का पदार्थ—(हृदये) हृदय में (चित्तसंवित्) चित्त का ज्ञान होता है ॥ ३४ ॥

सूत्र का भा०—हृदय में संयम करने से योगी को चित्त का ज्ञान होता है ॥ ३४ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तस्मिन् संयमात् चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

भा० का प०—यह जो ब्रह्मपुर अर्थात् हृदयस्थल में दहर अर्थात् जो तड़ाग के समान स्थल है उसमें कमल स्थानापन्न ज्ञान रहता है उसमें संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है ॥ ३४ ॥

भा० का भा०—हृदय का मध्यस्थान एक तड़ाग के तुल्य है उसमें संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है ॥ ३४ ॥

चौंतीसवें सूत्र का विशेष-हृदय शरीर का एक अङ्ग है उसमें नीचे को मुखवाला एक कमल है उस ही में चारों अन्तःकरण हैं अन्तःकरण में संयम करने से योगी को अपने और पराये चित्त का ज्ञान होता है अर्थात् अपने चित्त की सम्पूर्ण वासनाओं को और पराये चित्त के रागादिकों को योगी जान लेता है ॥ ३४ ॥

भो० वृ०—हृदयं शरीरस्य प्रदेशविशेषस्तस्मिन्नधोमुखस्वल्प-पुण्डरीकाभ्यन्तरेऽन्तःकरणसत्त्वस्य स्थानं तत्र कृतसंयमस्य स्वपरचित्त-ज्ञानमुत्पद्यते । स्वचित्तगताः सर्वा वासनाः परचित्तगतांश्च रागादीन् जानातीत्यर्थः ॥ ३४ ॥ सिद्ध्यन्तरमाह—

भोज वृ० का भा०—शरीर का विशेष स्थान हृदय है उस में अधो मुख कमल के भीतर अन्तःकरण का स्थान है उस में संयम करने से अपने और दूसरे के चित्त का ज्ञान योगी को होता है अर्थात् अपने चित्त के सम्पूर्ण विषयों को और दूसरे चित्त के रागादि को योगी जान जाता है ॥ ३४ ॥ आगे और सिद्धि कहेंगे—

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

सूत्र का पदार्थ—(सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः) बुद्धि और पुरुष जो अत्यन्त भिन्न हैं (प्रत्ययाविशेषो भोगः) उनकी एकता का ज्ञान भोग कहा है (परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात् पुरुष ज्ञानम्) परार्थ के विचार से और स्वार्थ के संयम से पुरुष का ज्ञान होता है ॥ ३५ ॥

सूत्र का भा०—बुद्धि जो पुरुष से अत्यंत भिन्न है, किंतु अज्ञान से जो उनकी एकता मानी जाती है उसे भोग कहते हैं अतएव स्वार्थ संयम से योगी को पुरुषज्ञान अर्थात् जीव का ज्ञान होता है ॥ ३५ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—बुद्धिसत्त्वं प्रख्याशीलं समानसत्त्वोपनिबन्धने रजस्तमसी वशीकृत्य सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययेन परिणतम्। तस्माच्च सत्त्वात् परिणामिनोऽत्यन्तविधर्म्मा विशुद्धोऽन्यश्चितिमात्ररूपः पुरुषः। तयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः पुरुषस्य दर्शितविषयत्वात् । स भोगप्रत्ययः सत्त्वस्य परार्थत्वाद्दृश्यः।

यस्तु तस्माद्विशिष्टश्चितिमात्ररूपोऽन्यः पौरुषेयः प्रत्ययस्तत्र संयमात् पुरुषविषया प्रज्ञा जायते। न च पुरुषप्रत्ययेन बुद्धिसत्त्वात्मना पुरुषो दृश्यते। पुरुष एव तं प्रत्ययं स्वात्मावलम्बनं पश्यति। तथा ह्युक्तम् "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" (बृ० २।४।१४) इति ॥ ३५ ॥

भा० का प०—बुद्धि विचाररूप ज्ञान है जीव में अज्ञान से उसका आरोप करने से बुद्धि जीवरूप से प्रतीत होती है उस परिणामिनी बुद्धि से भिन्न ज्ञानस्वरूप जीव है उक्त दोनों में जो अत्यन्त भिन्न हैं अभेद ज्ञान को भोग कहते हैं जो उस भोग से युक्त है और भोग्य तथा साधन से भिन्न ज्ञानस्वरूप है उस पुरुष में संयम करने से पुरुषविषयिणी बुद्धि उत्पन्न होती है किंतु यह ज्ञान जीव ही को होता है न कि बुद्धि को; जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है—"जानने वाले को किससे जाने?"॥३५

भो० वृ०—सत्त्वं प्रकाशसुखात्मकः प्राधानिकः परिणामविशेषः। पुरुषो भोक्ताऽधिष्ठातृरूपः। तयोरत्यन्तासंकीर्णयोर्भोग्यभोक्तृरूपत्वात् चेतनाचेतनत्वाच्च भिन्नयोर्यः प्रत्ययस्याविशेषो भेदेनाप्रतिभासनं तस्मात् सत्त्वस्यैव कर्तृताप्रत्ययेन या सुखदुःखसंवित् स भोगः। सत्त्वस्य स्वार्थनैरपेक्ष्येण परार्थः पुरुषार्थनिमित्तस्तस्मादन्यो यः स्वार्थः पुरुषस्वरूपमात्रालम्बनः परित्यक्ताहङ्कारसत्त्वे या चिच्छाया संक्रान्तिस्तत्र कृतसंयमस्य पुरुषविषयं ज्ञानमुत्पद्यते। तत्र तदेवं रूपं स्वालम्बनं ज्ञानं सत्त्वनिष्ठः पुरुषो जानातीत्यर्थः। न पुनः पुरुषो ज्ञाता ज्ञानस्य विषयभावमापद्यते। ज्ञेयत्वापत्तेर्ज्ञातृज्ञेययोश्चात्यन्तविरोधात्॥ ३५॥

अस्यैव संयमस्य फलमाह—

भो० वृ० का भा०—प्रकाश और सुखात्मक प्रधान परिणाम को सत्त्व कहते हैं, भोग के अधिष्ठाता को पुरुष कहते हैं, भोग्य और भोक्ता भाव से यह दोनों अत्यन्त भिन्न हैं तथा सत्त्व जड़ और पुरुष चेतन है, जड़ और चेतन भाव से भी इन दोनों में अत्यंत भेद है तो भी दोनों की जो एकता ज्ञान है अर्थात् सत्त्व में ही कर्त्तापन का बोध होता है और उस से जो सुख दुःख का ज्ञान होता है उसे भोग कहते हैं। परन्तु सत्त्व जड़ है इस कारण उसमें स्वार्थ नहीं हो सकता है अतएव भोग्य पदार्थ पुरुष के निमित्त है, इस सूक्ष्म भाव में अहङ्कार त्याग कर जो संयम करता है उसको पुरुष का यथार्थज्ञान उत्पन्न होता है।

अभिप्राय यह है कि सत्त्व स्थित ज्ञान को सालम्ब जाना जाता है; किन्तु पुरुष ज्ञाता ज्ञान भाव में परिवर्त्तित नहीं हो जाता क्योंकि ऐसा होने से ज्ञाता ही ज्ञेय हो जायगा परन्तु ज्ञाता ज्ञेय में बड़ा भेद है ॥ ३५ ॥

इस संयम के फल को आगे कहते हैं—

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

सूत्र का पदार्थ—(ततः) इसके अनन्तर (प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता) प्रातिभ अर्थात् बुद्धिवर्द्धक, श्रावण-दिव्यश्रवण, दिव्यस्पर्श, दिव्यदृष्टि, दिव्य रसज्ञान और दिव्य गन्ध ज्ञान (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं ॥३६॥

सूत्र का भा०—सत्य और पुरुष के भेद ज्ञान में संयम करने से दिव्य ज्ञान उत्पन्न होते हैं ॥ ३६ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—प्रातिभात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतज्ञानम् । श्रावणाद्दिव्यशब्द श्रवणम् । वेदनाद्दिव्यस्पर्शाधिगमः । आदर्शाद्दिव्यरूपसंवित् । आस्वादाद्दिव्यरससंवित् । वार्तातो दिव्यगन्धविज्ञानमित्येतानि नित्यं जायन्ते ॥ ३६ ॥

भा० का प०—प्रतिभा सम्बंधी ज्ञान से सूक्ष्म, गुप्त, दूर, भूत और भविष्य का ज्ञान होता है, कर्ण सम्बंधी ज्ञान से दिव्य शब्द का श्रवण होता है, वेदना से दिव्यस्पर्श का ज्ञान होता है, आदर्श अर्थात नेत्र इन्द्रिय से दिव्यरूप का ज्ञान होता है, जिह्वा से दिव्य रस का ज्ञान होता है, नासिका से दिव्य गंधका ज्ञान होता है । यह ज्ञान नित्य ही होते हैं ॥३६॥

भा० का भा०—जब योगी को पुरुष का ज्ञान हो जाता है अतः पश्चात् गुप्त, सूक्ष्म, दूर भूत और भविष्य तथा दिव्य श्रवणादि ज्ञान

उत्पन्न होते हैं, इस सूत्र का यह भी अर्थ होता है कि श्रवणादिकों में संयम करने से दिव्य श्रवणादि ज्ञान उत्पन्न होते हैं ॥३६॥

भो० वृ०—ततः पुरुषसंयमादभ्यस्यमानाद् व्युत्थितस्यापि ज्ञानानि जायन्ते । तत्र प्रातिभं पूर्वोक्तं ज्ञानं तस्याऽऽविर्भावात् सूक्ष्मादिकमर्थं पश्यति । श्रावणं श्रोत्रेन्द्रियजं ज्ञानं तस्माच्च प्रकृष्टं दिव्यं शब्दं जानाति । वेदना स्पर्शेन्द्रियजं ज्ञानं वेद्यतेऽनयेति कृत्वा तान्त्रिक्या संज्ञया व्यवह्रियते । तस्मात् दिव्यस्पर्शविषयं ज्ञानं समुपजायते । आदर्शश्चक्षुरिन्द्रियजं ज्ञानम् । आसमन्तात् दृश्यतेऽनुभूयते रूपमनेनेति कृत्वा, तस्य प्रकर्षाद्दिव्यं रूपज्ञानमुत्पद्यते । आस्वादो रसनेन्द्रियजं ज्ञानम् । आस्वाद्यतेऽनेनेति कृत्वा, तस्मिन् प्रकृष्टे दिव्ये रसे संविदुपजायते । वार्त्ता गन्धसंवित् । वृत्तिशब्देन तान्त्रिक्या परिभाषया घ्राणेन्द्रियमुच्यते । वर्त्तते गन्धविषय इति कृत्वा-वृत्तेर्घ्राणेन्द्रियाज्जाता वार्ता गंधसंवित् । तस्यां प्रकृष्यमाणायां दिव्यगन्धोऽनुभूयते ॥ ३६ ॥ एतेषां फलविशेषविभागमाह—

भो० वृ० का भा०—पुरुष के संयम में अभ्यास करने से व्युत्थित चित्तवाले को भी ज्ञान हो जाते हैं, जिस प्रातिभ ज्ञान का पूर्व वर्णन कर चुके हैं उसके प्रकाशित होने से योगी को सूक्ष्म अर्थ भी मालूम हो जाते हैं । कर्णेन्द्रिय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उससे योगी को दिव्य शब्द का ज्ञान होता है । वेदना शब्द का अर्थ स्पर्श का ज्ञान है उससे दिव्य स्पर्श का ज्ञान होता है । आदर्श का अर्थ नेत्रेन्द्रिय से जो उत्पन्न हुआ ज्ञान है उससे दिव्यरूप ज्ञान होता है, जिह्वा से जो रसका ज्ञान होता है उस से दिव्य रस ज्ञान होता है, वार्त्ता शब्द का अर्थ इस शास्त्र में नासिका से उत्पन्न हुआ ज्ञान है उस से दिव्य गन्ध का ज्ञान होता है ॥ ३६ ॥ इस के विशेष फल के विशेष भागों को आगे कहेंगे—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

सूत्र का पदार्थ—(ते समाधौ-उपसर्गाः) पूर्व सूत्र में

कहे ज्ञान समाधि में विघ्नकारक हैं (व्युत्थाने सिद्धयः) और चञ्चल चित्त वाले को सिद्धि हैं ॥ ३७ ॥

सू० का भा०—कैवल्य समाधि वाले को पूर्वोक्त ज्ञान विघ्नकारक हैं, किंतु चंचल चित्त वाले योगी को सिद्धि हैं अर्थात् सिद्धि प्राप्त मनुष्य को कैवल्य समाधि के अभाव से ईश्वर का ज्ञान नहीं होता ॥ ३७॥

व्या० दे० कृ० भा०—ते प्रातिभादयः समाहितचित्तस्योत्पद्यमाना उपसर्गास्तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वात् । व्युत्थितचित्तस्योत्पद्यमानाः सिद्धयः ॥ ३७ ॥

भा० का प०—पूर्व सूत्र में कहे प्रातिभ आदि दिव्य ज्ञान स्थिर चित्त वाले को उत्पन्न हुये विघ्न हैं क्योंकि इनसे ईश्वर के ज्ञान में विघ्न होता है व्युत्थित चित्त अर्थात् बाह्यवृत्ति वाले की यह सिद्धि हैं ॥ ३७॥

भा० का भा०—उक्त प्रातिभ ज्ञानादि कैवल्य समाधि में विघ्न हैं और बाह्यवृत्ति वाले को सिद्धि हैं ॥ ३७ ॥

भो० वृ०—ते प्राक्प्रतिपादिताः फलविशेषाः समाधेः प्रकर्षं गच्छत उपसर्गा उपद्रवा विघ्नकारिणः । तत्र हर्षविस्मयादिकरणेन समाधिः शिथिली भवति । व्युत्थाने तु पुनर्व्यवहारदशायां विशिष्टफलदायकत्वात् सिद्धयो भवन्ति ॥ ३७ ॥　　　　सिद्ध्यन्तरमाह—

भोज वृ० का भा०—पूर्व कहे हुए संयमों के विशेष फल समाधि के उपद्रव अर्थात् विघ्न हैं. हर्ष और हास्य आदि के करने से समाधि शिथिल हो जाती है किंतु व्युत्थान अर्थात् सांसारिक व्यवहारों में यह सब सिद्धि हैं क्योंकि इन से अधिक लाभ होता है ॥ ३७ ॥

दूसरी सिद्धि कहते हैं—

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

सूत्र का पदार्थ—(बन्धकारणशैथिल्यात्) बन्धन का जो कारण है उसके शिथिल हो जाने से (प्रचारसंवेदनाच्च) और प्रचार अर्थात् प्रवेश और निर्गम के ज्ञान से (चित्तस्य परशरीरावेशः) चित्तका पराये शरीर में प्रवेश होता है ॥३८॥

सूत्र का भा०—बन्ध कारण के शिथिल होने और प्रचार ज्ञान होने से योगी के चित्त में परकायनिवेश की शक्ति होती है ॥ ३८ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—लोलीभूतस्य मनसोऽप्रतिष्ठस्य शरीरे कर्म्माशयवशाद्बन्धःप्रतिष्ठेत्यर्थः। तस्य कर्म्मणो बन्धकारणस्य शैथिल्यं समाधिबलाद्भवति । प्रचारसंवेदनञ्च चित्तस्य समाधिजमेव । कर्म्मबन्धक्षयात् स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनाच्च योगी चित्तं स्वशरीरान्निष्कृष्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति। निक्षिप्तं चित्तं-चेन्द्रियाण्यनु पतन्ति । यथा मधुकरराजानं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनु निविशन्ते। तथेन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्तमनु विधीयन्त इति ॥ ३८ ॥

भा० का प०—चञ्चलता को प्राप्त हुए अस्थिर मन का शरीर में कर्मफल के वश से बन्ध अर्थात् स्थिरता है उस बन्धन के कारणरूप कर्म की शिथिलता समाधि के प्रताप से होती है और प्रचार ज्ञान भी समाधि से ही उत्पन्न होता है । कर्मबंधनों के नाश होने से और अपने चित्त के प्रचार ज्ञान से योगी चित्त को अपने शरीर से निकाल कर दूसरे में डाल देता है । चित्त के पर शरीर में प्रविष्ट होने से इन्द्रियां भी उस ही शरीर में चली जाती हैं । जैसे रानी मक्खी के उड़ने से सब मक्खी उड़ती हैं और जहाँ वह बैठती है वहीं सब बैठ जाती हैं ऐसे ही इन्द्रियां भी दूसरे शरीर में प्रवेश करने के समय चित्त की अनुगामिनी होती हैं ॥ ३८ ॥

भा० का भा०—मन जो अत्यंत ही चंचल है उसका एक शरीर में स्थिर रहना यह केवल कर्मफल के बंधन से है और वह कर्म बंधन समाधि से शिथिल होता है और समाधि ही से चित्त का प्रचार अर्थात् नाड़ी का परिज्ञान भी जाना जाता है। जब योगी के समाधिबल से कर्मबंधन ढीले हो जाते हैं और चित्त के प्रचार को भी योगी जान जाता है तब उस को यह शक्ति हो जाती है कि वह अपने चित्त को पर शरीर में प्रविष्ट कर देता है और चित्त के गमन से इन्द्रियां भी चित्त की अनुगामिनी होती हैं क्योंकि इन्द्रियों की गति रानी मक्खी के समान है जैसे रानी मक्खी के उड़ने से सब मक्खियां उड़ती हैं और जहाँ वह बैठती है वहीं सब बैठ जाती हैं॥ ३८॥

भो० वृ०—व्यापकत्वादात्मचित्तयोर्नियतकर्मवशादेव शरीरांतर्गतयोर्भोग्यभोक्तृभावेन यत् संवेदनमुपजायते स एव शरीरे बन्ध इत्युच्यते। तद्यदा समाधिवशाद्बन्धकारणम् धर्माधर्माख्यं शिथिलं भवति तानवमापद्यते। चित्तस्य च योऽसौ प्रचारो हृदयप्रदेशादिन्द्रिय द्वारेण विषयाभिमुख्येन प्रसरस्तस्य संवेदनं ज्ञानमियं चित्तवहा नाडी,अनया चित्तं वहति, इयं च रसप्राणादिवहाभ्यो नाडीभ्यो विलक्षणेति स्वपरशरीरयोर्यदा सञ्चारं जानाति तदा परकीयं शरीरं मृतं जीवच्छरीरं वा चित्तसंचारद्वारेण प्रविशति। चित्तं परशरीरे प्रविशदिन्द्रियाण्यपि अनुवर्त्तन्ते मधुकरराजमिव मधुमक्षिकाः। अथ परशरीर प्रविष्टो योगी स्वशरीरवत् तेन व्यवहरति। यतो व्यापकयोश्चित्तपुरुषयोर्भोगसङ्कोचे कारणं कर्म तच्चेत्समाधिना क्षिप्तं तदा स्वातन्त्र्यात् सर्वत्रैव भोगनिष्पत्तिः॥ ३८॥ सिद्ध्यन्तरमाह—

भोज वृ० का भा०—आत्मा और चित्त के व्यापक होने से नियत कर्म के वश से दोनों ही शरीर के अन्तर्गत हैं; परन्तु इन में से एक भोग्य और दूसरा भोक्ता है इन दोनों में जो एकता का ज्ञान है उस ही से बन्धन है। जब समाधि के बल से बन्ध का कारण धर्म और अधर्म रूप कर्म शिथिल हो जाता है। चित्त का जो प्रचार अर्थात् गमनागमन

है वह चित्त की नाड़ियों के द्वारा इन्द्रियों में जाता है फिर विषयों की ओर दौड़ता है ये नाड़ी चित्तवहा कहाती हैं। ये चित्तवहा नाड़ियां प्राणवहा और रसवहा नाड़ियों से विलक्षण हैं। योगी जब अपने शरीर और दूसरों के शरीरों के संचार को जान जाता है तब दूसरे के जीते वा मरे.शरीर में प्रवेश कर जाता है जब योगी का चित्त दूसरे शरीर में चला जाता है तब इन्द्रियां भी चित्त का अनुगमन करती हैं अर्थात् वे भी दूसरे में चली जाती हैं जैसे–रानी मक्खी के पीछे शहद की सब मक्खियाँ जाती हैं। दूसरे शरीर में जाके योगी अपने शरीर के समान ही सब व्यवहार करता है क्योंकि चित्त और आत्मा व्यापक हैं जब उनको भोग-तृष्णा ही न रही तब उनको सर्वत्र आनन्द मिलता है क्योंकि भोग के साधनकर्म शिथिल हो गये हैं अतएव योगी सर्वत्र स्वतन्त्रभाव से सुखी रह सकता है ॥ ३८ ॥ और सिद्धि कहते हैं–

उदानजयाज्जलपंककंटकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च ॥३९॥

सूत्र का पदार्थ—(उदानजयात्) कण्ठ में रहने वाले उदान वायु के जीतने से (जलपङ्ककंटकादिषु असङ्ग) जल, पङ्क और कण्टक आदि शरीरभेदक पदार्थों का स्पर्श नहीं होता (उत्क्रान्तिश्च) और मरण अपने वश में हो जाता है ॥ ३९ ॥

सूत्र का भा०—उदानादि वायु के जीतने से कण्टकादि का स्पर्श नहीं होता और मरण भी यथा रुचि होता है ॥ ३९ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनं, तस्य क्रिया पञ्चतयी प्राणो मुखनासिकागतिराहृदयवृत्तिः।

समं नयनात्समानश्चाऽऽनाभिवृत्तिः । अपनयनादपान आपादतलवृत्तिः । उन्नयनादुदान आशिरोवृत्तिः । व्यापी व्यान इति। एषां प्रधानं प्राणः । उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च प्रयाणकाले भवति । तां वशित्वेन प्रतिपद्यते ॥ ३९ ॥

भा० का प०—सम्पूर्ण इन्द्रियों में रहने वाला प्राण आदि वायु ही सब का जीवन अर्थात् आधार है उस प्राणी की ५ गति है उन में से प्राण उसे कहते हैं जिसका मुख और नासिका के द्वारा गमन होता है और यह हृदय तक वर्त्तमान रहता है। समता को प्राप्त करने वाला समानवायु नाभि तक रहता है । अधोगामी वायु को उदान कहते हैं जो नाभि के अधोभाग से पैरों तक गमन करता है, ऊर्ध्वगमन से उदान कहाता है जो कण्ठ से सिर पर्य्यन्त पूरित है । शरीर में पूर्ण होने से व्यान कहाता है, इन सबमें प्रधान प्राण है प्राण और अपान का संयम करने से जल, पङ्क और कण्टक आदि के स्पर्श से पीड़ा नहीं होती। उत्क्रान्ति जो मरने के समय होती है उसको वश में करता है ॥ ३९ ॥

भा० का भा०—सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने गमनागमन से स्थिर रखने वाला वायु है जिसके प्राणादि ५ भेद हैं । प्राण वह वायु है जिसकी गति मुख नासिका से हृदय पर्यन्त है । समगति वाला नाभि पर्य्यन्त जाने वाला वायु समान कहाता है । अधोगमनशील जो चरण पर्य्यन्त भ्रमण करता है वह अपान वायु कहा जाता है और जो कण्ठ से सिर पर्य्यन्त घूमता है उसका नाम उदान है और जो सब शरीर में व्यापक है वह व्यान कहाता है । प्राण और उदान के संयम करने से जल, कीचड़ और कण्टकादि का भय योगी के लिए निवृत्त हो जाता है और मरण भी योगी के वश हो जाता है (अर्थात् अपने जीवन को द्विगुण कर सकता है) ॥ ३९ ॥

भो० वृ०—समस्तानामिन्द्रियाणां तुषज्वालावद्या युगपदुत्थिता वृत्तिः सा जीवनशब्दवाच्या । तस्याः क्रियाभेदात् प्राणापानादिसंज्ञा·

भिर्व्यपदेशः । तत्र हृदयान्मुखनासिकाद्वारेण वायोः प्रणयनात् प्राण इत्युच्यते । नाभिदेशात् पादांगुष्ठपर्य्यन्तमपनयनादपानः । नाभिदेशं परिवेष्ट्य समन्तान्नयनात् समानः । कृकाटिकादेशादाशिरोवृत्तेरुन्नयनादुदानः व्याप्य नयनात् सर्वशरीरव्यापी व्यानः । तत्रोदानस्य संयमद्वारेण जयादितरेषां वायूनां निरोधादूर्ध्वगतित्वेन जले महानद्यादौ महति वा कर्दमे तीक्ष्णेषु कण्टकेषु वा न सज्जतेऽ मतिलघुत्वात् । तूलपिण्डवज्जलादौ मज्जितोऽप्युद्गच्छतीत्ययर्थः ॥ ३९ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह--

भो० वृ०— समस्त इन्द्रियों की वृत्ति भूमि में तुषकी अग्नि के समान एक संग प्रज्वलित होने वाली है उस ही वृत्ति को जीवन कहते हैं उसी वृत्ति के क्रियाभेद से प्राणादिक जुदे जुदे नाम हैं । हृदय से मुख और नासिका के द्वारा वायु को चलाने के कारण प्राण नाम है, नाभि से पैर के अंगूठे तक जिसकी गति है उसे अपान कहते हैं । नाभि-स्थान को वेष्टित करके चारों ओर से जो जीवन शक्ति को ठीक रखती है उसे समान कहते हैं, गले के भीतर जो कृकाटिका अर्थात् घाटी है उससे शिर तक जो गमन करता है और शक्ति को स्थिर रखता है उसे उदान कहते हैं, व्यापक होने से वायु का नाम व्यान है। उदान में संयम करने से और उसके जीतने से मूलाधार के द्वारा उसकी गति को रोकने से योगी जल में अर्थात् बड़ी बड़ी नदियों में वा महापंक में और शरीर को वेधने वाले कांटों में भी नहीं फंसता है जल पर योगी ऐसे फिरता है जैसे रुई का ढेर तैरता हो ॥ ३९ ॥ सिद्ध्यन्तर का वर्णन करते हैं—

समानजयात्प्रज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

सूत्र का पदार्थ—(समानजयात्) समान वायु को अपने वश में करने से (प्रज्ज्वलनम्) अधिक तेज होता है ॥४०॥

सू० का भा०समान वायु को वश में करने से योगी का अधिक तेज होता है ॥ ४० ॥

व्या० दे० कृ० भा०–जितसमानस्तेजस उपध्मानं कृत्वा ज्वलति ॥ ४० ॥

भा० का० प०–जीत लिया है समान वायु को जिसने वह योगी तेज की वृद्धि करके जाज्वल्यमान होता है ॥ ४० ॥

भा० का भा०---स्पष्ट है ॥ ४० ॥

पूर्व सूत्रों में लिखी हुई सिद्धियां योग के विघ्न हैं इस कारण से योगी लोग उनके फेर में नहीं पड़ते हैं, किन्तु योगभ्रष्ट ही उनकी इच्छा करते हैं ॥ ४० ॥

भो० वृ०—अग्निमावेष्ट्य व्यवस्थितस्य समानाख्यस्य वायोः जयात् संयमेन वशीकाराग्निरवरणस्याग्नेरुदभूतत्वात्तेजसा प्रज्वलन्निव योगी प्रतिभाति ॥ ४० ॥ सिद्ध्यन्तरमाह-

भो० वृ० का भा० –शरीर की अग्नि को घेर कर जो समान वायु रहती है उसको संयम से जीतकर अर्थात् अपने वश में करके योगी ऐसा तेजस्वी जान पड़ता है मानो अग्नि का पुञ्ज है ॥ ४० ॥

और सिद्ध कहते हैं-

श्रोत्राकाशयोः सम्बंधसंयमाद्दिव्यंश्रोत्रम् ॥४१॥

सूत्र का पदार्थ—(श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्) कर्ण इन्द्रिय और आकाश में संयम करने से (दिव्य श्रोत्रम्) दिव्य श्रवण होता है ॥ ४१ ॥

सूत्र का भा०—कर्णेन्द्रिय और आकाश में संयम करने से दिव्यश्रवण दूर देश का भी श्रवण होता है ॥ ४१ ॥

व्या० दे० कृ० भा०–सर्वश्रोत्राणामाकाशं प्रतिष्ठा सर्वशब्दानां च यथोक्तम्-तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां

भवतीति । तच्चैतदाकाशस्य लिंगम् । अनावरणं चोक्तम् । तथाहि अमूर्त्तस्यानावरणदर्शनाद्विभुत्वमपि प्रख्यातमाकाशस्य । शब्दग्रहणानुमितं श्रोत्रम् । बधिराबधिरयोरेकः शब्दं गृह्णात्यपरो न गृह्णातीति । तस्माच्छ्रोत्रमेव शब्दविषम् । श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धे कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्त्तते ॥ ४१ ॥

भा० का प०—समस्त प्राणियों की कर्णेन्द्रिय का आधार आकाश है और सम्पूर्ण शब्दों का भी आकाश ही है ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है । एक स्थल पर उच्चारित शब्दों का सुनना सर्वत्र पाया जाता है और यही आकाश का चिह्न है अर्थात् बिना आकाश के शब्द का कर्ण इन्द्रिय में प्रवेश करना ही असम्भव है और इसही से आकाश का आवरणरहितत्व भी सिद्ध होता है तैसे ही जो पदार्थ अमूर्त अर्थात् रूपरहित है उसकी सर्वव्यापकता भी प्रसिद्ध है किंतु शब्द के ग्रहण करने का निमित्त कर्ण ही क्योंकि बहरा और सुनने वाला इन दोनों में से एक शब्द को ग्रहण करता है और दूसरा नहीं करता इसलिए कर्ण ही शब्द का विषय है कर्णेन्द्रिय और आकाश का जो है उसमें संयम करने से दिव्य श्रवण होता है ॥ ४१ ॥

भा० का भा०—सब की कर्णेन्द्रिय का आधार आकाश है वह अमूर्त होने से व्यापक है यदि केवल आकाश ही से शब्द का सम्बन्ध होता तो बहिरे को भी शब्द सुनाई देता किन्तु ऐसा नहीं है इससे प्रतीत होता है कि शब्द ग्रहण कर्णेन्द्रिय से होता है । कर्णेन्द्रिय और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से योगी को दिव्य श्रवण शक्ति होती है ॥ ४१ ॥

भो० वृ०—श्रोत्रं शब्द ग्राहकमाहङ्कारिकमिन्द्रियम् । आकाशं व्योम शब्दतन्मात्रकार्यम् । तयोःसम्बन्धो देशदेशिभावलक्षणस्तस्मिन्कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्त्तते युगपत्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टशब्दग्रहणसमर्थं भवतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

भोज वृ० का भा०--कर्णेन्द्रिय शब्द को ग्रहण करने वाली है, आकाश का जो तन्मात्र शब्द है उसके सम्बन्ध में संयम करने से योगी को दिव्यश्रोत्र प्राप्त होते हैं अर्थात् सूक्ष्म शब्द व्यवहित छिपे हुये और दूर के शब्दों को सुनने की शक्ति उत्पन्न होती है ॥ ४१ ॥

आगे और सिद्धि कहते हैं--

कायाकाशयोः--सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाऽऽकाशगमनम् ॥४२ ॥

सूत्र का पदार्थ--(कायाकाशयोः) शरीर और अकाश के (सम्बन्धसंयमात्) सम्बन्ध में संयम करने से (लघुतूलसमापत्तेश्च) लघु अर्थात् हलके रुई आदि पदार्थों की समापत्ति से (आकाशगमनम्) आकाश में गमन सिद्ध होता है ॥ ४२ ॥

सूत्र का भा०--शरीर और आकाश का जो परस्पर सम्बन्ध है उसमें संयम करने से और लघु पदार्थों के यथार्थ परिज्ञान से योगी को आकाशगमन सिद्ध होता है ॥ ४२ ॥

व्या० दे० कृ० भा०-यत्र कायस्तत्राऽऽकाशं तस्यावकाशदानात् कायस्य तेन सम्बन्धः प्राप्तिस्तत्र कृतसंयमी जित्वा तत्सम्बन्धं लघुषु वा तूलादिष्वा परमाणुभ्यः समापत्तिं लब्ध्वा जितसम्बन्धो लघुर्भवति । लघुत्वाच्च जले पादाभ्यां विहरति । ततस्तूर्णनाभितन्तुमात्रे विहृत्य रश्मिषु विहरति । ततो यथेष्टमाकाशगतिरस्य भवतीति ॥ ४२ ॥

भा० का प०--जहां २ शरीर होता है वहां वहां आकाश भी अवश्य होता है क्योंकि आकाश शरीर को अवकाश देने वाला है अर्थात् आकाश और शरीर का आधाराधेयभाव सम्बन्ध है इस हेतु से

काया का और शरीर का सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध में संयम करने वाला काया और आकाश के सम्बन्ध को जीत कर लघु जो रुई आदि उनमें ज्ञान प्राप्त करके गुरुता के सम्बन्ध को जीतकर योगी लघु हो जाता है। लघु होने से पैरों से जल में विहार करता है तत्पश्चात् ऊर्णनाभितन्तु अर्थात् मकड़ी के जाले पर विहार करता है तब योगी की निर्विघ्न आकाशगति होती है ॥ ४२ ॥

भा० का भा०—आकाश और काया का जो आधाराधेय भाव सम्बन्ध है उसमें संयम करने से और लघु पदार्थों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने से योगी के शरीर की गुरुता नाश हो जाती है और उस के नाश होने से योगी जल के ऊपर गमनागमन कर सकता है फिर ऊर्णातन्तु से किरणों पर विहार करने की शक्ति प्राप्त करके स्वच्छन्द आकाशगमन सिद्ध होता है ॥ ४२ ॥

भो० वृ०—कायः पाञ्चभौतिक शरीरंतस्याऽऽकाशेनावकाशदायकेन यः सम्बन्धस्तत्र संयमं विधाय लघुनि तूलादौ समापत्तिं तन्मयी भावलक्षणां च विधाय प्राप्तातिलघुभावो योगी प्रथमं यथारुचि जलेसञ्चरन् क्रमेणोर्णनाभितन्तुजालेन सञ्चरमाण आदित्यरश्मिभिश्च विहरन् यथेष्टमाकाशेन गच्छति ॥ ४२ ॥ सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—पांचभौतिक शरीर को काया कहते हैं उसका जो अवकाश देने वाले आकाश के साथ सम्बन्ध है उसमें संयम और रुई आदि हलकी वस्तुओं की समानता में विशेष भावना करके योगी प्रथम जल पर फिर मकड़ी के जाले पर विहार करे पश्चात् सूर्य्य की किरणों पर विहार करके अपनी इच्छानुसार आकाश में गमन कर सकता है ॥४२ ॥ आगे और सिद्धि करते हैं—

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

सूत्र का पदार्थ—(बहिरकल्पिता वृत्तिः) शरीर से बाहर जो मन की स्वाभाविक वृत्ति है (महाविदेहा) उसका नाम महाविदेहा है (ततः प्रकाशावरणक्षयः) उसमें प्रकाश के आवरण का नाश हो जाता है ॥ ४३ ॥

सू० का० भा०—मन की जो अकल्पित बाह्य वृत्ति है जिसको महाविदेहावृत्ति कहते हैं उसमें संयम करने से प्रकाश के आवरण का क्षय हो जाता है ॥ ४३ ॥

व्या० दे० कृ० भा०--शरीराद्बहिर्मनसो वृत्तिलाभो विदेहा नाम धारणा। सा यदि शरीरप्रतिष्ठस्य मनसो बहिर्वृत्तिमात्रेण भवति सा कल्पितत्युच्यते। या तु शरीरनिरपेक्षा बहिर्भूतस्यैव मनसो बहिर्वृत्तिः सा खल्वकल्पिता। तत्र कल्पितया साधयन्त्यकल्पितां महाविदेहामिति। यया परशरीराण्याविशन्ति योगिनः। ततश्च धारणातः प्रकाशत्मनो बुद्धिसत्त्वस्य यदावरणं क्लेशः कर्म्मविपाकत्रयं रजस्तमोमूलं तस्य च क्षयो भवति ॥ ४३ ॥

भा० का० प०—शरीर से बाहर जो मन की वृत्ति पाई जाती है उस धारणा का नाम विदेहा है। शरीर में जो स्थिर मन है उसकी बाह्यवृत्ति मात्र से जो होती है उस वृत्ति का नाम कल्पिता है और जो शरीर की अपेक्षा न रखती हुई बहिर्भूत हुए मन की बाह्य वृत्ति है वह अकल्पित वृत्ति है। उन दोनों कल्पित और अकल्पित वृत्तियों में से कल्पितवृत्तिद्वारा अकल्पित महाविदेहा की साधना की जाती है जिसके द्वारा योगीजन शरीर में प्रविष्ट होते हैं उस महाविदेहा धारणा से प्रकाशस्वरूप जो बुद्धि है उसके जो आवरण क्लेश कर्म के फल हैं जो रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न होते हैं उस आवरण त्रय का नाश हो जाता है ॥ ४३ ॥

भा० का भा०—मन की दो प्रकार की वृत्ति बाह्य विषय में होती है—एक कल्पित दूसरी अकल्पित। उनमें से अकल्पित को महाविदेहा वृत्ति कहते हैं जो कल्पित वृत्ति के द्वारा स्थिर की जाती है। जो योगियों का पर शरीर में प्रवेश होता है वह केवल इस वृत्ति का परिणाम है जब इस वृत्ति में योगी स्थिर होता है तब उसकी बुद्धि के आवरणत्रय क्लेश, कर्म और विपाक क्षय होता है ॥ ४३ ॥

भो० वृ०—शरीराद्बहिर्या मनसः शरीरनैरपेक्ष्येण वृत्तिः सा महा विदेहा नाम विगतशरीराहङ्कारदार्ढ्यद्वारेणोच्यते। ततस्तस्यां कृतात् संयमात्। प्रकाशावरणक्षयः सात्त्विकस्य चित्तस्य यः प्रकाशस्तस्य यदावरणं क्लेशकर्म्मादि तस्य क्षयः प्रविलयो भवति। अयमर्थः- शरीराहङ्कारे सति या मनसो बहिर्वृत्तिः सा कल्पितेत्युच्यते। यदा पुनः शरीराहङ्कारभावं परित्यज्य स्वातन्त्र्येण मनसो वृत्तिः साऽकल्पिता तस्यां संयमाद्योगिनः सर्वे चित्तमला क्षीयन्ते ॥ ४३ ॥

तदेवं पूर्वान्तविषयाः परान्तविषया मध्यभवाश्च सिद्धीः प्रतिपाद्यानन्तरं भुवनज्ञानादिरूपा बाह्याः कायव्यूहादिरूपा आभ्यन्तराः परिकर्म्मनिष्पन्नभूताश्च मैत्र्यादिषु बलानीत्येवमाद्याः समाध्युपयोगिनीश्चान्तःकरणबाहिःकरणलक्षणेन्द्रियभवाः प्राणादिवायुभवाश्च सिद्धीश्चित्तदार्ढ्यात् समाधौ समाश्वासोत्पत्तये प्रतिपाद्येदानीं स्वदर्शनोपयोगिसबीजनिर्बीजसमाधिसिद्धये विविधोपायप्रदर्शनायाऽऽह—

भो० वृ० का भा०—शरीर से बाहर शरीर के आश्रय की अपेक्षा न रखने वाली जो मन की वृत्ति है उसे महाविदेहा कहते हैं क्योंकि उससे अहङ्कार का वेग दूर हो जाता है, उस वृत्ति में जो योगी संयम करता है उससे प्रकाश का ढकना दूर हो जाता है अर्थात् सात्त्विक चित्त का जो प्रकाश है उसको ढकने वाले अविद्यादिक्लेश और कर्म्म क्षय हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि जब तक शरीर का अहंकार रहता है तब तक जो मन की बाह्य वृत्ति रहती है उसे कल्पिता कहते हैं।

फिर जब शरीर के अहंकार का त्याग कर स्वतन्त्रभाव से मन की वृत्ति बाहर रहती है उसे अकल्पिता कहते हैं, उस अकल्पिता वृत्ति में संयम करने से योगी के चित्त के मल सब दूर हो जाते हैं ॥ ४३॥

उक्त प्रकार से पूर्वोक्त विषय; परान्त विषय और मध्य भाव को सिद्धियों का वर्णन करके फिर भुवनज्ञान रूपादि बाह्य कायव्यूह आदि आभ्यन्तर परिकर्म्म की सिद्धि करने वाले मैत्री आदि से मैत्री आदि का बल वर्णन करके समाधि में सहायता देने वाले अन्तःकरण और बाह्यकरण रूप इन्द्रियों के भावों का तथा प्राणादि वायुभावों की सिद्धियों का चित्त की दृढ़ता का वर्णन करके अब सबीज और निर्बीज समाधि सिद्धि के निमित्त विविध भांति के उपायों का आगे वर्णन करते हैं:—

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ॥ ४४ ॥

सूत्र का पदार्थ—(स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमात्) स्थूल गुण अर्थात् गन्धादि तत्त्व भूत सम्बन्धी परमाणुओं का समूह (सूक्ष्मान्वयार्थवत्त्व) अर्थात् पञ्चतत्त्वों का तन्मात्रा इनके संयम से (भूतजयः) भूतों का जय होता है ॥ ४४ ॥

सूत्र का भा०—पञ्च तत्त्व के गुण स्वरूप तथा तन्मात्रों में संयम करने से भूतजय प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

व्यास दे० कृ० भा०—तत्र पार्थिवाद्याः शब्दादयो विशेषाः सहाऽऽकारादिभिर्धर्मैः स्थूलशब्देन परिभाषिताः। एतद् भूतानां प्रथमं रूपं। द्वितीयं रूपं स्वसामान्यं मूर्त्तिर्भूमिः स्नेहो जलं वह्निरुष्णता वायुः प्रणामी सर्वतो गतिराकाश इत्येतत् स्वरूपशब्देनोच्यते।

अस्य सामान्यस्य शब्दादयो विशेषाः। तथा चोक्तम्-एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रव्यांवृत्तिरिति।

सामान्यविशेषसमुदायोऽत्रद्रव्यम्। द्विष्ठो हि समूहः प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगतः शरीरं वृत्तो यूथं वनमिति। शब्देनोपात्तभेदावयवानुगतः समूह उभये देवमनुष्याः। समूहस्य देवा एको भागो मनुष्या द्वितीयो भागस्ताभ्यामेवाभिधीयते समूहः। स च भेदाभेदविवक्षितः। आम्राणां वनं ब्राह्मणानां संघ आम्रवनं ब्राह्मणसंघ इति। स पुनर्द्विविधो युतसिद्धावयवोऽयुतसिद्धावयवश्च। युतसिद्धावयवःसमूहो वनं संघ इति। अयुतसिद्धावयवः संघातः शरीरं वृक्षः परमाणुरिति। अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतंजलिः। एतत् स्वरूपमित्युक्तम्। अथ किमेषां सूक्ष्मरूपं तन्मात्रं भूतकारणं, तस्यैकोऽवयवः परमाणुः सामान्यविशेषात्माऽयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समुदाय इत्येवं सर्वतन्मात्राणि एतत्तृतीयम्। अथ भूतानां चतुर्थम् रूपं ख्यातिक्रियास्थितिशीला गुणाः कार्यस्वभावानुपातिनोऽन्वयशब्देनोक्ताः। अथैषां पंचमं रूपमर्थवत्त्वं, भोगापवर्गार्थता गुणेष्वेवान्वयिनी, गुणास्तन्मात्रभूतभौतिकेष्विति सर्वमर्थवत्। तेष्विदानीं भूतेषु पंचसु पञ्चरूपेषु संयमात्तस्य तस्य रूपस्य स्वरूपदर्शनं जयश्च प्रादुर्भवति। तत्र पञ्चभूतस्वरूपाणि जित्वा भूतजयी भवति। तज्जयाद्वत्सानुसारिण्य इव गावोऽस्य सङ्कल्पानुविधायिन्यो भूतप्रकृतयो भवन्ति ॥ ४४ ॥

भा० का प०—पृथ्वी आदि के शब्दादि विशेष गुण पृथ्वी आदि आकारादि धर्म के साथ युक्त होने से स्थूल कहे जाते हैं। तत्त्वों का यह प्रथम रूप है। तत्वों का द्वितीय रूप सामान्य है अर्थात् पृथिवी की मूर्त्ति, जल का स्नेह, अग्नि का दाह और प्रकाश, वायु का वहन और आकाश का विभुत्व, आदि सब स्वरूप शब्द से गृहीत होते हैं। उक्त सामान्य रूप

के शब्दादि विशेष रूप हैं। ऐसा ही कहा भी है। ये पंच भूत एक जाति अर्थात् भूतत्व गुण से एक हैं परन्तु अन्य धर्मों से भिन्न हैं। सामान्य और विशेष का समुदाय ही द्रव्य है। समूह दो प्रकार का है। एक जिसमें भेद की उपलब्धि न हो जैसे शरीर, वृक्ष यूथ और वन हैं। इनमें अवयव सामान्य द्रव्य और विशेष है। दूसरा शब्द के कथन से अवयवगत समूह भेद समझा जाता है जैसे देव और मनुष्यों का एक समुदाय कहने से बोध होता है कि इस समुदाय के देवता लोग एक भाग है और मनुष्य दूसरा भाग है। इन दोनों से समूह कहाता है और वह भेद और अभेद की विवक्षा रखता है। जैसे आम के वृक्षों का वन, ब्राह्मणों की सभा। वह फिर दो प्रकार का है पहले के उदाहरण वन और संघ हैं। दूसरे के उदाहरण शरीर, वृक्ष और परमाणु हैं। एक युतसिद्धावयव दूसरा अयुतसिद्धावयव। पतञ्जलि ऋषि के मत में अयुत सिद्धावयव को ही द्रव्य कहते हैं और इसी को स्वरूप भी कहते हैं। इन का सूक्ष्म रूप क्या है? तन्मात्राओं का जो भूत कारण है वह सूक्ष्मरूप है। उन का एक अवयव परमाणु कहाता है। (सामान्यविशेषात्माऽयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समुदायः) सामान्य और विशेषरूप अयुतसिद्धावयव भेदानुगतसमुदाय पञ्चतत्त्व का तन्मात्र इनका तीसरा रूप है। तत्वों का चतुर्थ रूप ख्याति, प्रकाश, क्रिया और स्थिति स्वभाव वाले गुण हैं। तत्वों का पांचवां रूप अर्थवत्ता है भोग और मोक्ष रूप जितने अर्थ हैं वे सब तत्वों के गुणों से सम्बन्ध रखते हैं। गुण तत्वों के तन्मात्रों से संबन्ध रखते हैं इस क्रम से सब में अर्थवत्ता है पंचभूत और उनके पांच रूपों में संयम करने से उस उस रूप का दर्शन होता है और उसमें जय लाभ होता है। पंचभूतों के स्वरूपों को जीत कर तत्वों की जय होती है। भूतजय से प्रकृति ऐसी दयालु होती है जैसे गौ अपने बच्चे को प्रेम से दूध देती है ॥ ४४ ॥

भा० का भा०—पञ्चतत्त्वों के पाँच प्रकार के रूप हैं उन में संयम करने से समस्त भूत प्रकृति योगी की इच्छा को पूर्ण करने वाली हो जाती है जैसे गौ अपने बच्चे की इच्छा पूर्ण करने वाली होती है ॥४४॥

भो० वृ०—पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानां ये पञ्चावस्था विशेषरूपा धर्माः स्थूलत्वादयस्तत्र कृतसंयमस्य भूतजयो भवति। भूतानि अस्य वश्यानि भवन्तीत्यर्थः। तथाहि—भूतानां परिदृश्यमानं विशिष्टाकारवत् स्थूलरूपं,स्वरूपं चैषां यथाक्रमम् कार्य्यम् गन्धस्नेहोष्णताप्रेरणावकाशदानलक्षणं सूक्ष्मञ्च यथाक्रमं भूतानां कारणत्वेन व्यवस्थितानि गन्धादितन्मात्राणि। अन्वयिनो गुणाः प्रकाशप्रवृत्तिस्थितिरूपतया सर्वत्रैवान्वयित्वेन समुपलभ्यन्ते। अर्थवत्त्वं तेष्वेव गुणेषु भोगापवर्गसम्पादनाख्या शक्तिः। तदेवं भूतेषु पञ्चसूक्ष्मलक्षणावस्थाभिन्नेषु प्रत्यवस्थं संयमं कुर्वन् योगी भूतजयी भवति। तद्यथा—प्रथमं स्थूलरूपे सयमं विधाय तदनुसूक्ष्मरूप इत्येवं क्रमेण तस्य कृतसंयमस्य सङ्कल्पार्थविधायिन्यो वत्सानुसारिण्य इव गावो भूतप्रकृतयो भवन्तीत्यर्थः ॥ ४४ ॥ तस्यैव भूतजयस्य फलमाह—

भा० वृ० का भा०—पृथिवी आदि पञ्चभूतों की जो पाँच स्थूल आदि विशेष अवस्था हैं उन में संयम करने से योगी को भूतजय प्राप्त होता है। अर्थात् भूत (तत्व) योगी के वश में हो जाते हैं। भूतों का प्रत्यक्ष दीखता विशेष स्थूल रूप, इन भूतों के क्रमशः कार्य्य गन्ध आदिक और स्थूलरूप के कारण तन्मात्रा इनके सम्बन्धी गुण जो प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति रूप से सब भूतों में पाये जाते हैं। भूतों की अर्थवत्ता उन तत्वों में जो भोग और मोक्ष साधन की शक्ति रहती है इस प्रकार से पञ्चभूतों की अवस्थाओं को जान कर जो योगी इन में संयम करता है उस योगी को भूतों में प्रकृति ऐसा इष्ट फल देने वाली होती है जैसे गौ अपनी बछड़े को दुग्ध देती है ॥ ४४ ॥

आगे भूतजय का फल कहते हैं—

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

सूत्र का पदार्थ—(ततः) इसके अनन्तर (अणिमादिप्रादुर्भावः) अणिमादि सिद्धियों का प्रकाश (कायसम्पत्) शरीर सम्बन्धी सब सम्पत्ति प्राप्त होती है (च) और (तद्धर्मानभिघातः) शरीर के गुणों का नाश नहीं होता॥४५॥

सूत्र का भा०—भूतजय के अनन्तर (योगी को) अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति और शारीरिक सम्पत्ति का विकास होता है और शारीरिक गुण अविनाशी हो जाते हैं ॥ ४५ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—तत्राणिमा भवत्यणुः । लघिमा लघुर्भवति । महिमा महान् भवति । प्राप्तिरंगुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम् । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथोदके । वशित्वंभूतभौतिकेषु वशी भवत्यवश्यश्चान्येषाम् । ईशित्वं तेषां प्रभवाप्ययव्यूहानामीष्टे । यत्र कामावसायित्वं सत्यसङ्कल्पता यथा सङ्कल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम् । न च शक्तोऽपि पदार्थ विपर्यासं करोति । कस्मात् । अन्यस्य यत्र कामावसायिनः पूर्वसिद्धस्य तथा भूतेषु सङ्कल्पादिति । एतान्यष्टैश्वर्याणि । कायसम्पद्वक्ष्यमाणा । तद्धर्मानभिघातश्च पृथ्वी मूर्त्या न निरुणद्धि योगिनः शरीरादिक्रियां शिलामप्यनुविशतीति । नाऽऽपः स्निग्धाः क्लेदयन्ति । नाग्निरुष्णो दहति । न वायुः प्रणामी वहति । अनावरणात्मकेऽप्याकाशे भवत्यावृतकायः सिद्धानामप्यदृश्यो भवति ॥ ४५ ॥

भा० का प०—अणिमा सिद्धि वह है, जिससे योगी अणु के समान सूक्ष्म हो जाता है । लघु होने से लघिमा कहते हैं । जिस सिद्धि के द्वारा महान् होता है उसे महिमा कहते हैं । प्राप्ति सिद्धि उसे कहते हैं जिस

से योगी आकाशगामी चन्द्रलोक को भी अंगुली के पोरवे से स्पर्श कर सकता है। प्राकाम्य सिद्धि उसे कहते हैं जिस से योगी की इच्छा पूर्ण होती है। पृथ्वी में इस रीति से डूबता है जैसे जल में स्नान करता हो। पंचभूत और समस्त भौतिक पदार्थ उसके वश में होते हैं और वह किसी के वश में नहीं रहता है, इस सिद्धि को वशित्व कहते हैं। ईशित्व सिद्धि वह है, जिस में भूत, भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति, प्रलय और स्थिति म समर्थ जहां इच्छा का अन्त हो, वहां तक इच्छा का पूरा होना है। योगी की इच्छानुसार प्रकृति की स्थिति होती है। समर्थ होने पर भी योगी पदार्थों को उल्टा पुल्टा अर्थात् सृष्टिक्रम विरुद्ध नहीं करता है क्योंकि और लोगों की इच्छाभङ्ग रूप दोष का भय रहता है। यह आठ ऐश्वर्य्य वा सिद्धि हैं। अगले सूत्र में जो कही जायँगी उन्हें कायसम्पत् कहते हैं। तद्धर्म्मानभिघात का अर्थ यह है कि योगी की शारीरिक क्रियाओं को कार्य्यरूप पृथ्वी नहीं रोक सकती। कठोर पाषाण में भी योगी प्रवेश कर सकता है; जल उसको भिगो नहीं सकते, अग्नि भी योगी को नहीं जला सकता, न सुखाने वाली हवा उड़ा सकती है। जो आकाश किसी को नहीं छिपाता उसमें योगी का शरीर छिप जाता है अर्थात् योगी सिद्धों के नेत्रों से भी अदृश्य हो जाता है ॥ ४५ ॥

भा० का भा०—भूतजय के अनन्तर योगी को अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति होती है-योगी अणिमा से अणु और लघिमा से लघु महिमा से महान् होता है। प्राप्ति से योगी की वह शक्ति बढ़ती है जिससे योगी चन्द्रमा को अंगुली से स्पर्श कर सकता है अर्थात् पूर्व जो आकाश गमन कहा था उसके द्वारा ही योगी चन्द्रस्पर्शादि कठिनतर कार्य्य कर सकता है। प्राकाम्य का अर्थ है कि इच्छा पूरी होना। वशित्व वह सिद्धि है जिससे प्राणिमात्र वश में हो जांय और आप किसी के वश में न रहे (यहां वश होने से राज्यादि का प्रयोजन नहीं है)। ईशित्व का अर्थ है कि प्राणियों की उत्पत्ति, लय और स्थिति को जानता है योगी के सङ्कल्प के अनुकूल ही पदार्थ हो जाता है। परन्तु इसमें शङ्का होती है कि जिस

योगी में पदार्थों के उलट पुलट करने की शक्ति होती है तो वह इस जगत् के पदार्थों में विपर्य्यय क्यों नहीं करता ? इसका समाधान यह है कि योगी समर्थ होने पर भी नियमविरुद्ध कार्य्य नहीं करता क्योंकि सब सिद्धों का सिद्ध परम योगी परमेश्वर है उसके सङ्कल्प में विघ्न होगा जो सर्वथा असम्भव है ॥ ४५ ॥

भो० वृ०—अणिमा परमाणुरूपतापत्तिः । महिमा महत्त्वम् । लघिमा तूलपिण्डवल्लघुत्वप्राप्तिः । गरिमा गुरुत्वं । प्राप्तिः अंगुल्यग्रेण चन्द्रादिस्पर्शनशक्तिः । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । शरीरान्तः करणेश्वरत्वमीशित्वम् । सर्वत्र प्रभविष्णुता वशित्वं, सर्वाण्येव भूतानि अनुगामित्वात्तदुक्तं नातिक्रामन्ति । यत्र कामावसायो यस्मिन् विषयेऽस्य कामः इच्छा भवति तस्मिन् विषये योगिनोव्यवसायो भवति तं विषयं स्वीकारद्वारेणाभिलाषसमाप्तिपर्य्यन्तं नयतीत्यर्थः । त एतेऽणिमाद्याः समाध्युपयोगिनोभूतजयाद्योगिनः प्रादुर्भवन्ति । यथा परमाणुत्वं प्राप्तो वज्रादीनामप्यन्तः प्रविशति । एवं सर्वत्र योज्यम् । त एतेऽणिमादयोऽष्टौ गुणा महासिद्धय उच्यन्ते । कायसम्पद्वक्ष्यमाणा तां प्राप्नोति । तद्धर्मानभिघातश्च तस्य कायस्य ये धर्मा रूपादयस्तेषामनभिघातो नाशो न कुतश्चित् भवति । नास्य रूपमग्निर्दहति न वायुः शोषयतीत्यादि योज्यम् ॥ ४५ ॥
कायसम्पदमाह-

भोज वृ० का भा०—अणिमा का अर्थ है कि परमाणुवत् सूक्ष्म हो जाना, महिमा का अर्थ महान् होना । लघिमा का अर्थ लघु वा हल्का होना है, गरिमा का अर्थ गुरुत्व वा भारीपन की प्राप्ति । प्राकाम्य का अर्थ इच्छा की पूर्त्ति है । ईशित्व का अर्थ शरीर और अन्तःकरण पर प्रभुता की प्राप्ति अर्थात् इनको अपने वश में कर लेना । सब को अपने वश में कर लेना अर्थात् कोई प्राणी इस के वचन का उल्लंघन नहीं कर सकता है । अर्थात् जिस विषय की योगी इच्छा करता है वही विषय योगी को प्राप्त होता है । कहीं भी योगी की इच्छा का अभिघात नहीं होता

इन अणिमादिक के समाधि में उपकारक होने से योगी को भूतजय प्राप्त होता है जैसे अणु होने से अत्यंत कठोर वज्र में भी योगी प्रवेश कर सकता है ऐसे ही और सिद्धियों में भी समझना चाहिये। यह अणिमादि आठ महासिद्धियाँ कहाती हैं। इन के पश्चात् कायसम्पत् जिनका वर्णन आगे होगा उनकी प्राप्ति होती इसके है। पश्चात् शरीर के जो रूपादि गुण हैं उनका कहीं नाश नहीं होता अर्थात् योगी का शरीर अग्नि में नहीं जलता, वायु में नहीं सूखता ऐसे ही अन्यत्र भी समझना चाहिये ॥४५॥

काया की सम्पत्तियों का वर्णन करते हैं—

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत्॥४६॥

सूत्र का पदार्थ—स्पष्ट है ॥ ४६ ॥

सू० का भा०—रूप में, मनोहरता में, बल में वज्रसंहनन अर्थात् वज्रादि के समान अच्छेद्य होना यह कायसम्पत् कहाती हैं ॥ ४६ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—दर्शनीयः कांतिमान् अतिशयबलः वज्रसंहननश्चेति ॥ ४६ ॥

भा० का प०—मनोहर रूपवाला, तेजस्वी, अधिक बल वाला वज्र के समान अच्छेद्य होता है ॥ ४६ ॥

भा० का भा०—स्पष्ट है ॥ ४६ ॥

भो० वृ०—रूपलावण्यबलानि । प्रसिद्धानि । वज्रसंहननत्वं वज्रवत् कठिना संहतिरस्य शरीरे भवतीत्यर्थः। इति कायस्य आविर्भूतगुणसम्पत् ॥४६॥ एवं भूतजयमभिधाय प्राप्तभूमिकायामिन्द्रियजयमाह—

भो० वृ० का भा०—रूप और लावण्य (सलोनापन वा मनोहरता) प्रसिद्ध हैं। वज्र संहननत्व का अर्थ यह है कि वज्र के समान योगी का कठोर शरीर होजाता है। यही काया की प्रत्यक्ष सम्पत्ति है ॥४६॥

भूतजय का वर्णन करके जब योगी को भूमि प्राप्त हो जाती है तब इन्द्रियों में जय प्राप्त होती है। इस का वर्णन आगे करते हैं:—

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

सूत्र का पदार्थ—(ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमात्) ग्रहण अर्थात् जिनसे पदार्थ ज्ञान होता है-इन्द्रिय, स्वरूप—अर्थात् बुद्धि, अस्मिता—अहंकार, इन्द्रियों के गुण और वासना इन पांचों में संयम करने से (इन्द्रियजय) इन्द्रियां वश में होती हैं ॥ ४७ ॥

सूत्र का भा०—इन्द्रिय, बुद्धि अहंकार, गुण और वासना में संयम करने से योगी की समस्त इन्द्रियां वश में हो जाती हैं ॥ ४७ ॥

व्या० दे० कृ० भा०— सामान्यविशेषात्मा शब्दादिर्ग्राह्यः। तेष्विन्द्रियाणांवृत्तिर्ग्रहणम् नच तत्सामान्यमात्रग्रहणाकारं कथमनालोचितः स विषयविशेष इन्द्रियेण मनसाऽनुव्यवसीयेतेति। स्वरूपं पुनः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य सामान्यविशेषयोरयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिन्द्रियम्। तेषां तृतीयं रूपमस्मितालक्षणोऽहंकारः। तस्य सामान्यस्येन्द्रियाणि विशेषाः। चतुर्थं रूपं व्यवसायात्मकाः प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणा येषामिन्द्रियाणि साहङ्काराणि परिणामः। पञ्चमं रूपं गुणेषु यदनुगतं पुरुषार्थवत्त्वमिति। पञ्चस्वेतेष्विन्द्रियरूपेषु यथाक्रमं संयमस्तत्र तत्र जयं कृत्वा पञ्चरूपजयादिन्द्रियजयः प्रादुर्भवति योगिनः॥४७

भा० का प०—सामान्य और विशेषरूप से शब्दादिक जितने विषय हैं सब ग्राह्य हैं। उन ग्राह्य विषयों में जो इन्द्रियों की वृत्ति है उस वृत्ति को ग्रहण कहते हैं। परन्तु वह वृत्ति सामान्य ग्रहणाकार नहीं है। किस २ रीति से विना विचारा विषय वा मन इन्द्रियों से गृहीत हो

सकता है। इससे प्रथम जो विषय मन द्वारा आलोचित और ग्रहण द्वारा गृहीत होता है वह इन्द्रियों का प्रथम स्वरूप कहलाता है। ज्ञान स्वरूप बुद्धि इन्द्रियों का द्वितीय रूप है। इन्द्रियों का अहङ्कार तीसरा स्वरूप है। अनेक कार्य्यों में व्यस्त प्रकाश करने वाले और स्थिर स्वभाव वाले जिनके अहंकार सहित सब इन्द्रियाँ कार्य्य हैं वह इन्द्रियों का चतुर्थ रूप है। गुणों के संग जो पुरुषार्थता अर्थात् उद्योग है वह इन्द्रियों का पाँचवाँ स्वरूप है। इन्द्रियों के इन पांचों रूपोंमें जय करने से इन्द्रियों का जय लाभ होता है ॥ ४७ ॥

भा० का भा०—इन्द्रियों के जो पाँच प्रकार के रूप अर्थात् ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्व हैं उन में संयम करके योगी को उचित है कि समाधि से जय लाभ अर्थात् उन को अपने वश में करके समस्त इन्द्रियों को जीते ॥ ४७ ॥

भो० वृ०—ग्रहणमिन्द्रियाणां विषयाभिमुखी वृत्तिः। स्वरूपं सामान्येन प्रकाशकत्वम्। अस्मिता अहङ्कारानुगमः। अन्वयार्थवत्त्वे पूर्ववत्। एतेषां इन्द्रियाणामवस्थापञ्चके संयमं कृत्वा इन्द्रियजयी भवति ॥ ४७ ॥ तस्यफलमाह—

भो० वृ० का भा०—इन्द्रियों की जो विषयों की ओर प्रवृत्ति होती है उसे ग्रहण कहते हैं, स्वरूप का अर्थ सामान्यता से प्रकाश करना है, अस्मिता का अर्थ अहङ्कार है, अन्वय और अर्थवत्व पहले कहे गये हैं। इन्द्रियों की इन पांच अवस्थाओं में पूर्ववत् क्रम से संयम करने से योगी को जितेन्द्रियत्व प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥ इन्द्रियजय का फल कहते हैं—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधान-जयश्च ॥ ४८ ॥

सूत्र का पदार्थ—(ततः) इन्द्रिय-जय के अनन्तर (मनोजवित्वम्) उत्तम गति (विकरणभावः) इन्द्रियों

के अनुकूल वृत्ति की प्राप्ति (प्रधानजयश्च) और प्रकृति के सब विकार वश में होते हैं ॥ ४८ ॥

सूत्र का भा०—तब इन्द्रियजय विकरणभाव और प्रधानजय होता है ॥ ४८ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—कायस्यानुत्तमो गतिलाभो मनोजवित्वम्। विदेहानामिन्द्रियाणामभिप्रेतदेशकालविषयापेक्षो वृत्तिलाभो विकरणभावः। सर्वप्रकृतिविकारवशित्वं प्रधानजय इत्येतास्तिस्रः सिद्धयो मधुप्रतीका उच्यन्ते। एताश्च करणपञ्चकरूपजयादधिगम्यन्ते ॥ ४८ ॥

भा० का प०—शरीर की उत्तम गति को प्राप्त होना मनोजवित्व कहाता है। देहरहित अर्थात् अन्तर्वृत्ति वाली इन्द्रियों का जो इष्टस्थल समय और विषय की वृत्ति है उसकी प्राप्ति को विकरणभाव कहते हैं। प्रकृति के विकारों के जीतने को प्रधानजय कहते हैं। यह तीनों सिद्धियाँ मधुप्रतीक कहाती हैं। यह तीनों सिद्धि पूर्वोक्त करण अर्थात् ग्रहण पञ्चक के जीतने से होती हैं ॥ ४८ ॥

भा० का भा०—काया की उत्तम गति मनोजवित्व कहाती है। इन्द्रियों की इष्टगतिप्राप्ति को विकरणभाव और प्रकृति विकारों के जीतने को प्रधान जय कहते हैं इन तीनों सिद्धियों का नाम मधुप्रतीका है। यह पूर्वोक्त पांच करण के जय से प्राप्त होती हैं ॥ ४८ ॥

भोज वृ०—शरीरस्य मनोवदनुत्तमगतिलाभो मनोजवित्वम्। कायनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणां वृत्तिलाभो विकरणभावः। सर्ववशित्वं प्रधानजयः। एताः सिद्धयो जितेन्द्रियस्य प्रादुर्भवन्ति। ताश्चास्मिन् शास्त्रे मधुप्रतीका इत्युच्यन्ते। यथा मधुन एकदेशोऽपि स्वदत एवं प्रत्येकमेताः सिद्धयः स्वदन्त इति मधुप्रतीकाः ॥ ४८ ॥

इन्द्रियजयमभिधायान्तःकरणजयमाह—

भो० वृ० का भा०—मन की गति के समान शरीर में भी उत्तम गति की प्राप्ति को मनोजवित्व कहते हैं। शरीर के सम्बन्ध को त्याग कर जो इन्द्रियों की वृत्ति को पाना है उसे विकरणभाव कहते हैं। सबके वश करने वाले को प्रधानजय कहते हैं। इन्द्रियों को जीतने वाले योगी को यह सब सिद्धि प्राप्त होती हैं। इन सब सिद्धियों को योगदर्शन में मधुप्रतीक लिखा है। जैसे मधु (शहद) स्वाद देता है ऐसे ही इनमें से प्रत्येक सिद्धि स्वाद देती है। इसही कारण यह मधुप्रतीक कहाती हैं॥४८॥

इन्द्रियों की जय का वर्णन करके अंतः करण की जय का वर्णन करते हैं—

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

सूत्र का पदार्थ—(सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य) सत्त्व जो बुद्धि वह जब निर्मल होकर केवल परमेश्वर के चिन्तन ही में लय हो तो उस योगी को (सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्) जितने भाव अर्थात् गुण हैं वे सब प्राप्त होते हैं (सर्वज्ञातृत्वं च) और सब गुणों का यथार्थज्ञान प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

सू० का भा०—जब योगी की बुद्धि सब विषयों के त्याग से निर्मल होकर केवल ईश्वर-चिंतन में लय होती है तब उसे सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्। सर्वात्मानो

गुणा व्यवसायव्यवसेयात्मकाः स्वामिनं क्षेत्रज्ञं प्रत्यशेषदृश्यात्मत्वेनोपस्थिता इत्यर्थः। सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मनां गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः। इत्येषा विशोका नाम सिद्धिः। यां प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेशबन्धनो वशी विहरति ॥ ४९ ॥

भा० का प०—धोये गये हैं रजोगुण और तमोगुण के मल जिस सत्त्वगुण विशिष्ट बुद्धि के परम निशारद वशीकार संज्ञा में वर्तमान योगी को सर्व भावों में स्वामीपन प्राप्त होता है। अर्थात् आत्मा के व्यवसाय और व्यवसेयात्मक जितने गुण हैं वे सब अपने स्वामी क्षेत्रज्ञ को दृश्यपन से प्राप्त होते हैं। सर्वज्ञता का अर्थ यह है कि आत्मा के शान्त व्यापाररहित, उदित, सचेष्ट, अव्यपदेश्य और अनिर्वचनीय जितने गुण हैं उनका क्रमरहित विवेक से उत्पन्न हुआ जो ज्ञान उसी का नाम सर्वज्ञता है। यह विशोका नाम सिद्धि है। जिसको पाकर योगी सर्वज्ञ बन्धनरहित जितेन्द्रिय होकर विचरता है ॥ ४९ ॥

भा० का भा०—जब बुद्धि निर्मल होती है और योगी केवल ईश्वर के चिन्तन में तत्पर रहता है तब योगी को सर्वभावाधिष्ठातृत्व अर्थात् आत्मा के समस्त गुणों में स्वामिभाव प्राप्त होता है और सर्वज्ञता अर्थात् आत्मा के समस्त गुणों के द्वारा विवेक की उत्पत्ति और उससे सत्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस सिद्धि का नाम विशोका है और इस की प्राप्ति से योगी सर्वज्ञ और बन्धनरहित होकर विचरता है ॥४९॥

भो० वृ०—तस्मिन् शुद्धे सात्त्विके परिणामे कृतसंयमस्य या सत्त्वपुरुषयोरुत्पद्यते विवेकख्यातिगुणानां कर्तृत्वाभिमानशिथिलीभावरूपा तन्माहात्म्यात् तत्रैव स्थितस्य योगिनः सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वंच समाधेर्भवति। सर्वेषां गुणपरिणामानां भावानां स्वामिवदाक्रमणं सर्वभावाधिष्ठातृत्वं, तेषामेव च शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मित्वेनावस्थितानां यथावद्विवेकज्ञानं सर्वज्ञातृत्वम्। एषां चास्मिन् शास्त्रे परस्यां वशीकारसंज्ञायां प्राप्तायां विशोका नाम सिद्धिरित्युच्यते ॥४९॥ क्रमेण भूमिकान्तरमाह—

भो० वृ० का भा० —उस विज्ञानरूप सात्त्विक परिमाण में संयम करने से जो सत्त्व और पुरुष का विवेक उत्पन्न होता है उसे अन्यताख्याति कहते हैं। अंतःकरण के गुणों की जो कर्तृत्व अभिमान की शिथिलता है उसमें संयम करने से योगी को सर्वाधिष्ठातृत्व सर्वज्ञातृत्वरूप समाधि होती है। सर्वाधिष्ठातृत्व का अर्थ यह है कि गुणों के जितने परिणाम हैं उनके स्वामीपन का प्राप्त कर लेना, उन्हीं गुणों के जो शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्म हैं उन में जो यथार्थ विवेक ज्ञान होता है उस का सर्वज्ञातृत्व कहते हैं। जब इनको योगी प्राप्त कर लेता है तब यह सिद्धि विशोका कही जाती है ॥ ४९ ॥

आगे दूसरी भूमिका कहते हैं—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

सूत्र का पदार्थ—(तद्वैराग्यादपि) उक्त सिद्धियों के वैराग्य से (दोषबीजक्षये) दोषों के बीज नाश हो जाने से (कैवल्यम्) कैवल्य-मोक्ष होता है ॥ ५० ॥

सू० का भा०-सिद्धियों के वैराग्य से जब दोषों का बीज नाश हो जाता है तब योगी कैवल्य को प्राप्त होता है ॥ ५० ॥

व्या० दे० कृ० भा०-यदाऽस्यैवं भवति क्लेशकर्मक्षये सत्त्वस्यायं विवेकप्रत्ययो धर्मः सत्त्वञ्च हेयपक्षे न्यस्तम् पुरुषश्चापरिणामी शुद्धोऽन्यः सत्त्वादिति। एवमस्य ततो विरज्यमानस्य यानि क्लेशबीजानि दग्धशालिबीजकल्पान्यप्रसवसमर्थानि तानि सह मनसा प्रत्यस्तं गच्छन्ति। तेषु प्रलीनेषु पुरुषः पुनरिदं तापत्रयं न भुङ्क्ते। तदेतेषां गुणानां मनसि कर्मक्लेशविपाकस्वरूपेणाभिव्यक्तानां चरितार्थानां प्रतिप्रसवे पुरुषस्याऽऽत्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यं, तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति ॥५०॥

भा० का प०—जब योगी को ऐसा होता है क्लेश रूपी कर्मों के नाश होने से बुद्धि का विवेक ज्ञानरूपी धर्म सत्त्व को हेयपक्ष में रख कर पुरुष को अपरिणामी और शुद्ध तथा बुद्धि से भिन्न समझता है। ऐसा मानकर योगी जब जगत् से उपरत होता है तब उसके सब क्लेशों के बीज ऐसे हो जाते हैं जैसे जले हुए धानों के बीज फिर उत्पन्न होने के योग्य नहीं रहते। तब मनके अर्थात् संकल्प विकल्प सहित अस्त हो जाने से मनुष्य फिर आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों में नहीं फँसता। उक्त गुण जो मन में क्लेश, कर्म और कर्मफल के रूप में रहते हैं दग्ध बीज हो जाने से पुरुष का गुणों से अत्यन्त वियोग हो जाता है। इस अवस्था को कैवल्य, स्वरूपप्रतिष्ठ वा चितिशक्ति कहते हैं ॥ ५० ॥

भा० का भा०—जब योगी को विवेकप्रत्यय अर्थात् विवेक ज्ञान होता है तब योगी को कैवल्य प्राप्त होता है। अर्थात् जब योगी विवेक ज्ञान को लाभ करके जगत् से उपरत होता है, तब उसको कैवल्य प्राप्त होता है। तब योगी के जितने क्लेश कर्म और विपाक हैं वे सब ऐसे दग्ध बीज हो जाते हैं। जैसे जला हुआ अन्न उत्पन्न होने योग्य नहीं रहता। तब इसके सङ्कल्पादि सब विनष्ट हो जाते हैं और तापत्रय भी नहीं रहते हैं ॥ ५० ॥

भो० वृ०—एतस्यामपि विशोकायां सिद्धौ यदा वैराग्यमुत्पद्यते योगिनस्तदा तस्माद्दोषाणां रागादीनां यद्बीजमविद्यादयस्तस्य क्षये निर्मूलने कैवल्यमात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः पुरुषस्य गुणानामधिकार-परिसमाप्तौ स्वरूपनिष्ठत्वम् ॥५०॥ अस्मिन्नेव समाधौ स्थित्युपायमाह—

भो० वृ० का भा०—जब विशोका सिद्धि प्राप्त योगी को वैराग्य उत्पन्न होता है तब रागादि दोषों की बीजरूप जो अविद्या है, उसका नाश हो जाने से जो कैवल्य अर्थात् दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति है वह

प्राप्त होती है और पुरुष गुणों के अधिकारों को समाप्त करके स्वरूप-निष्ठ हो जाता है ॥ ५० ॥ इस कैवल्य समाधि में स्थिर होने का उपाय कहते हैं—

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् ॥ ५१ ॥

सूत्र का पदार्थ—(स्थान्युपनिमन्त्रणे) स्थानी अर्थात् योग की भूमिकाओं में स्थिर होने पर भी (संगस्मयाकरणम्) संग और अहंकार नहीं करना चाहिये (पुनरनिष्टप्रसंगात्) फिर भी अनिष्ट अर्थात् दुःखप्रद सांसारिक विषय होते हैं ॥ ५१ ॥

सूत्र का भा०–योग की भूमिकाओं में स्थिर होने पर भी संगादि दोष से योगी को अनिष्ट की प्राप्ति होती है ॥ ५१ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—चत्वारः खल्वमी योगिनः प्राथमकल्पिको, मधुभूमिकः, प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्चेति। तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः। ऋतम्भरप्रज्ञो द्वितीयः। भूतेन्द्रियजयी तृतीयः। सर्वेषु भावितेषु भावनीयेषु कृतरक्षाबन्धः कर्तव्यसाधनादिमान्। चतुर्थो यस्त्वतिक्रांतभावनीयस्तस्य चित्तप्रतिसर्ग एकोऽर्थः। सप्तविधाऽस्य प्रान्तभूमिप्रज्ञा।

तत्र मधुमतीं भूमिं साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवाः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते भो इहाऽऽस्यतामिह रम्यतां कमनीयोऽयं भोगः कमनीयेयं कन्या रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते वैहायसमिदं यानममी कल्पद्रुमाः पुण्या मन्दाकिनी सिद्धा महर्षय उत्तमा अनुकूला अप्सरसो दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी वज्रोपमः

काय: स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरममरस्थानं देवानां प्रियमिति। एवमभिधीयमानः संगदोषान् भावयेत् घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया जननमरणान्धकारे विपरिवर्तमानेन कथंचिदासादितः क्लेशतिमिरविनाशी योगप्रदीपस्तस्य चैते तृष्णायोनयो विषय वायवः प्रतिपक्षाः। स खल्वहं लब्धालोकः कथमनया विषयमृगतृष्णया वञ्चितस्तस्यैव पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्धनी कुर्यामिति। स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्य इत्येवं निश्चितमतिः समाधिं भावयेत्।

सङ्गमकृत्वा स्मयमपि न कुर्यादेवमहं देवानामपि प्रार्थनीय इति। स्मयादयं सुस्थितंमन्यतया मृत्युना केशेषु गृहीतमिवाऽऽत्मानं न भावयिष्यति। तथा चास्य छिद्रान्तरप्रेक्षी नित्यं यत्नोपचर्यः प्रमादो लब्धविवरः क्लेशानुत्तम्भयिष्यति ततः पुनरनिष्टप्रसङ्गः। एवमस्य सङ्गस्मयावकुर्वतो भावितोऽर्थो दृढी भविष्यति। भावनीयश्चार्थोऽभिमुखी भविष्यतीति॥ ५१॥

भा० का प०—ये योगी चार प्रकार के होते हैं। उनमें से पहला प्राथमकल्पिक, दूसरा मधुभूमिक, तीसरा प्रज्ञाज्योति, चौथा अतिक्रान्तभावनीय कहाता है। उनमें से प्रथम वह है जो अभ्यास करने में प्रवृत्त होता है, दूसरा ऋतम्भर प्रज्ञ कहाता है तीसरा प्रज्ञाज्योति वह है, जिसने अपने सब कर्त्तव्य साधनों में अर्थात् भावित और भावनीय विषयों में रक्षाबन्ध किया है, इसी को भूतेन्द्रिय जयी भी कहते हैं। चौथा अतिक्रान्तभावनीय वह है जिस का चित्त एक विषय में संलग्न रहता है इसकी सात प्रकार की प्रान्तभूमि है उन भूमियों में से मधुमती भूमि में जब योगी प्राप्त होता है देव लोग योगी के चित्त की शुद्धि को देखकर स्वर्गादि स्थानों का लोभ दिखाकर उसको निमंत्रित करते हैं। आओ यहां आओ। यहां रमण करो, यह भोग मनोहर है, यह मनोहर कन्या है,

यह रसायन अर्थात् औषधियां जरा (वृद्धावस्था) और मृत्यु को नाश करती हैं, यह आकाशगामी यान अर्थात् सवारी है और ये कल्पवृक्ष है, यह पवित्र गंगा नदी है, ये सिद्ध ऋषिलोग हैं, उत्तम और प्रेम करने वाली यह अप्सरायें हैं, यह दिव्य श्रोत्र और नेत्र हैं, वज्रके समान शरीर है, तुमने अपने गुणों से सब को प्राप्त किया है। इस अक्षय अजर अमर देवताओं के प्रिय स्थान को पाकर आनन्द भोगो। उनके ऐसे वचनों से मोहित न होकर उनमें संगदोष की भावना करे। संसार की अग्नि में जलते हुए मैंने क्लेशों का नाश करने वाला योगरूपी दीपक पाया है, उसके ये तृष्णा है योनि जिनकी ऐसे यह विषय रूपी वायु शत्रु है। सो मैं प्रकाश को प्राप्त होकर क्योंकर इस विषय मृगतृष्णा में फंसकर फिर जलती हुई संसार अग्नि में अपनी आत्मा को ईंधन बनाऊं ? जो सिद्धि दिखाकर देवता उत्तम विषयों में फंसाने का प्रयत्न करें, तो उनसे योगी कहे कि आप लोगों का कल्याण हो ये सब स्वप्न के समान हैं। दीन दरिद्र लोग ही इन को चाहते हैं। इस मति में दृढ़ होकर समाधि की चिन्ता करे, विषय और विषयीजनों का संग त्याग कर उनका अनुमोदन भी न करे। मेरी देवता भी स्तुति करते हैं—इस अभिमान से यदि योगी अपने को सुस्थित मान कर ऐसा नहीं समझेगा कि मानों उसके केशों को मृत्यु ने पकड़ रक्खा है तो इसका छिद्रान्वेषी प्रमाद दोषों को पाकर क्लेशों को उठाने वाला होगा। उससे फिर अनिष्ट की आशंका है ॥५१॥

भा० का भा०—योगी चार प्रकार के होते हैं—१—प्राथमकल्पिक, २—मधुभूमिक, ३—प्रज्ञाज्योति, ४—अतिक्रान्तभावनीय। इनमें से प्राथम-कल्पिक योगी वह है जो अभ्यास करने वाली ज्योति में प्रवृत्त ही हुआ है, दूसरा मधुभूमिक वह कहाता है जो पूर्वोक्त ऋतम्भराप्रज्ञा को प्राप्त हुआ है, तीसरा प्रज्ञाज्योति उस योगीको कहते हैं जिसने इन्द्रियों को जीत लिया हो और कर्त्तव्य में कृतकार्य्य हुआ हो और चौथा अतिक्रान्तभाव-

नीय कहाता है। अतिक्रान्तभावनीय योगी की बुद्धि की सात भूमिकायें हैं-उन भूमिकाओं में से जब मधुमती भूमिका प्राप्त होती है तब देवता अर्थात् विद्वान् लोग योगी की मानसिक शुद्धि की परीक्षा करने को अनेक लोभ दिखलाते हैं अर्थात् कहते हैं कि यह उत्तम भोग, मनोहर स्थान और मनोहर स्त्री, तुमको तुम्हारे तपोबल से प्राप्त हुई है इत्यादि। ऐसी बातें सुनकर योगी को उचित है कि उनका संग न करे और न यह अभिमान करे कि देवता मेरी स्तुति करते हैं इससे मैं बड़ा सिद्ध हूं। क्योंकि उक्त विषयों का संग करने से वा अभिमान से प्रमाद क्लेशों की वृद्धि करेगा। उससे फिर उन्हीं झगड़ों में पड़ना होगा जिनसे छूटने को योग किया था ॥ ५१ ॥

भो० वृ०—चत्वारो योगिनो भवन्ति। तत्राभ्यासवान् प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः। ऋतंभरप्रज्ञो द्वितीयः। भूतेन्द्रियजयी तृतीयः। अतिक्रान्तभावनीयश्चतुर्थः। तस्य चतुर्थस्य समाधेः प्राप्तसप्तविधभूमिप्रत्ययस्यान्त्यां मधुमतीं संज्ञां भूमिकां साक्षात्कुर्वतः स्थानिनो देवा उपनिमन्त्रयितारो भवन्ति। दिव्यस्त्रीवसनादिकमुपढौकयन्तीति। तस्मिन्नुपनिमन्त्रणे नानेन संगः कर्त्तव्यः। नापि स्मयः। संगतिकरणे पुनर्विषयभोगे पतति। स्मयकरणे कृतकृत्यमात्मानं मन्यमानो न समाधौ उत्सहते। अतः सङ्गस्मययोस्तेन वर्जनं कर्त्तव्यम् ॥ ५१ ॥

अस्यामेव फलभूतायां विवेकख्यातौ पूर्वोक्तसंयमव्यतिरिक्तमुपायान्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—योगी चार प्रकार के होते हैं। उनमें अभ्यास करने वाला प्रथम प्रवृत्तमात्र ज्योति कहाता है (क्योंकि वह योगकी ज्योति में अभी प्रवृत्त हुआ है) दूसरा ऋतंभर प्रज्ञ कहा जाता है (क्योंकि उसकी बुद्धि योग में प्रविष्ट हो चुकी) तीसरा भूतेन्द्रियजयी कहलाता है, (क्योंकि उसने समाधि के बल से इन्द्रियों को जीत लिया है) और चौथा अतिक्रान्तभावनीय अभिहित होता है, इनमें से जो चौथा योगी है

उसने समाधि की सात भूमिकायें प्राप्त करके मधुमती भूमिका को प्राप्त किया है । इस कारण देवता उसको बुलाते हैं और उसके पास आते हैं, दिव्य स्त्री और दिव्य वस्त्र उसे स्वयं प्राप्त होते हैं परन्तु यह योगी उन सिद्धियों को देख कर अपने को कृतकृत्य नहीं समझता है क्योंकि कृतकृत्य समझने से समाधि में उत्साह नहीं रहता है इस कारण चतुर्थ योगी को संग और स्मय त्यागने चाहियें ॥ ५१ ॥

इस समाधि का फलरूप विवेकख्याति में पूर्वोक्त संयम के अतिरिक्त और भी उपाय कहते हैं—

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥५२॥

सूत्र का पदार्थ—(क्षणतत्क्रमयोः) जितने काल में एक परमाणु पलटा खाता है उतने काल को क्षण कहते हैं और उसके द्वितीय परमाणु से संयोग को क्रम कहते हैं उन दोनों में (संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्) संयम करने से विवेक अर्थात् अनुभव सिद्ध ज्ञान उतपन्न होता है ॥५२॥

सू० का भा०—क्षण अर्थात् काल की सूक्ष्मावस्था और गति में संयम करने से विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ५२ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—यथाऽपकर्षपर्यन्तं द्रव्यं परमाणुरेवं परमापकर्षपर्य्यन्तः कालः क्षणो यावता वा समयेन चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्यादुत्तरदेशमुपसंपद्येत स कालः क्षणः । तत्प्रवाहाविच्छेदस्तु क्रमः । क्षणतत्क्रमयोर्नास्ति वस्तुसमाहार इति बुद्धिसमाहारो मुहूर्ताहोरात्रादयः । स खल्वयं कालो वस्तु-शून्योऽपि बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्थित-दर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते ।

क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी। क्रमश्च क्षणानन्तर्यात्मा तं कालविदः काल इत्याचक्षते योगिनः। न च द्वौ क्षणौ सह भवतः। क्रमश्च न द्वयोः सहभुवोरसम्भवात्। पूर्वस्मादुत्तर-भाविनो यदानन्तर्यं क्षणस्य स क्रमः। तस्माद्वर्तमान एवैकः क्षणो न पूर्वोत्तरक्षणाः सन्तीति। तस्मान्नास्ति तत्समाहारः। ये तु भूतभाविनः क्षणास्ते परिणामान्विता व्याख्येयाः। तेनैकेन क्षणेन कृत्स्नो लोकः परिणाममनुभवति। तत्क्षणोपारूढाः खल्वमी सर्वे धर्माः। तयोः क्षणतत्क्रमयोः संयमात्तयोः साक्षात्करणम्। ततश्च विवेकजं ज्ञानं प्रादुर्भवति॥ ५२॥

तस्य विषयविशेष उपक्षिप्यते—

भा० का प०—जैसे द्रव्य घटते २ अर्थात् सूक्ष्म दशा में परमाणु रूप रह जाता है ऐसें ही परम सूक्ष्मावस्था के काल को क्षण कहते हैं अथवा जितने काल में चला हुआ परमाणु पूर्व स्थान को त्यागता और अगले स्थान को प्राप्त होता है। उतने काल को क्षण कहते हैं उसकी गति वा प्रवाह को क्रम कहते हैं क्षण और उसके क्रम का समाहार वस्तुसमाहार नहीं है किन्तु क्षणादि व्यवहार वाली बुद्धि की स्थिरता से ही मुहूर्त और रात्रि दिन आदि का व्यवहार होता है सो यह काल वस्तुशून्य अर्थात् अमूर्त द्रव्य है और केवल बुद्धि का परिणाम मात्र है। शब्दज्ञान से जानने योग्य उन संसारी मनुष्यों को वस्तु के समान जान पड़ता है जिनका चित्त स्थिर नहीं है। क्रमावलम्बी अर्थात् क्रम के आश्रित होने से क्षण वस्तु मध्यपाती है। क्रम क्षण से ही जाना जाता है उसको कालज्ञ योगी काल कहते हैं और न दो क्षणों का संयोग होता है और न दो क्षणों के क्रमों का संयोग होता है क्योंकि उनका एक क्षण से होने वाले उत्तर क्षण का जो भेद है उसे ही क्रम कहते हैं इसलिये वर्तमान ही एक क्षण होता है पूर्व क्षण और उत्तर क्षण नहीं

होते । इस कारण क्षणों में समाहार अर्थात् इकट्ठा होना नहीं है और जो भूत अर्थात् पूर्वक्षण, भावी-होने वाला अर्थात् उत्तरक्षण वर्त्तमान क्षण के ही परिणाम कहने योग्य हैं । इस हेतु से समस्त जगत् एक ही क्षण में परिणाम अर्थात् दूसरी अवस्था को प्राप्त होता है इससे सब धर्म्म क्षण के आश्रित हैं । क्षण और उसके क्रम में संयम करने से क्षण और क्रम का साक्षात् ज्ञान और उससे विवेक अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ५२ ॥

भा० का भा०—जितने काल में परमाणु पलटा खाते हैं उतने काल को क्षण कहते हैं और जितने में दूसरे परमाणु से सयुक्त होता है उसे क्रम कहते हैं । यदि कहा जाय कि क्षण के पश्चात् जो प्रवाहावच्छिन्न काल है उसे उत्तरक्षण कह सकते हैं परन्तु क्षण और क्रम का समाहार नहीं होता केवल बुद्धि के समाहार से रात्रि दिन आदि काल संज्ञा होती हैं । वस इस क्षण और क्रम में संयम करने से योगी को सत्य ज्ञान प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

भो० वृ०—क्षणः सर्वान्त्यः कालावयवो यस्य कलाः प्रभवितुं न शक्यन्ते । तथा विधानां कालक्षणानां यः क्रमः पौर्वापर्य्येण परिणामस्तत्र संयमात् प्रागुक्तम् विवेकजं ज्ञानमुत्पद्यते । अयमर्थः—अयं कालक्षणोऽमुष्मात् कालक्षणादुत्तरोऽयमस्मात् पूर्व इत्येवंविधे क्रमे कृतसंयमस्यात्यन्तसूक्ष्मेऽपि क्षणक्रमे यदा भवति साक्षात्कारस्तदाऽन्यदपि सूक्ष्मं महदादि साक्षात्करोतीति विवेकज्ञानोत्पत्तिः ॥ ५२ ॥

अस्यैव संयमस्य विषयविवेकोपयोगमाह—

भो० वृ० का भा०—काल के उस भाग को क्षण कहते हैं जिसका कोई भाग न हो सके उस क्षण का जो क्रम अर्थात् पूर्वपरिणाम और उत्तर परिणाम है । उस में संयम करने से विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह है कि यह कालक्षण अमुक कालक्षण से पहिले और अमुक कालक्षण से पीछे है । इस क्रम में संयम करने से योगी को

जब क्रम का ज्ञान हो जायगा तब वह महत्तत्वादि स्थूल पदार्थ तथा सूक्ष्म पदार्थों के भी क्रम को और भागों को जान जायगा ॥ ५२ ॥

उस विवेक ज्ञान का विषय विशेष कहते हैं—

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

सूत्र का पदार्थ—(जातिलक्षणदेशैः, अन्यतावच्छेदात्) जाति, लक्षण और देशों से अनवच्छिन्न (तुल्ययोः) तुल्य दो पदार्थों की (ततः) तदनन्तर (प्रतिपत्तिः) प्रतिपत्ति होती है ॥ ५३ ॥

सू० का भा०—जाति, लक्षण और देश की एकता वा भिन्नता से दो पदार्थों का भेदाभेद जाना जाता है ॥ ५३ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—तुल्ययोर्देशलक्षणसारूप्ये जातिभेदोऽन्यताया हेतुः, गौरियं वडवेयमिति । तुल्यदेशजातीयत्वे लक्षणमन्यत्वकरं कालाक्षी गौः स्वस्तिमती गौरिति । द्वयोरामलकयोर्जातिलक्षणसारूप्याद्देशभेदोऽन्यत्वकर इदं पूर्वमिदमुत्तरमिति । यदा तु पूर्वमामलकमन्यव्यग्रस्य ज्ञातुरुत्तरदेश उपावर्त्यते तदा तुल्यदेशत्वे पूर्वमेतदुत्तरमेतदितिप्रविभागानुपपत्तिः । असंदिग्धेन च तत्त्वज्ञानेन भवितव्यमित्यत इदमुक्तं ततः प्रतिपत्तिर्विवेकजज्ञानादिति ।

कथं / पूर्वामलकसहक्षणो देश उत्तरामलकसहक्षणाद्देशाद्भिन्नः । ते चाऽऽमलके स्वदेशक्षणानुभवभिन्ने । अन्यदेशक्षणानुभवस्तु तयोरन्यत्वे हेतुरिति । एतेन दृष्टांतेन परमाणोस्तुल्यजातिलक्षणदेशस्य पूर्वपरमाणुदेशसहक्षणसाक्षात्करणादुत्तरस्य परमाणोस्तद्देशानुपपत्तौ उत्तरस्य तद्देशानुभवो भिन्नःसहक्षण-

भेदात्तयोः ईश्वरस्य योगिनो अन्यत्वप्रत्ययो भवति इति।
अपरे तु वर्णयन्ति–येऽन्त्या विशेषास्तेऽन्यताप्रत्ययं कुर्वन्तीति। तत्रापि देशलक्षणभेदो मूर्त्तिव्यवधिजातिभेदश्चान्यत्वे हेतुः। क्षणभेदस्तु योगिबुद्धिगम्य एवेति। अत उक्तं मूर्त्तिव्यवधिजाति-भेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः ॥ ५३ ॥

भा० का प०—जब किन्हीं दो वस्तुओं में से एक वस्तु का विवेकज ज्ञान प्राप्त करना है, तो उनका देश, लक्षण और जातिभेद जानना आवश्यक है। यदि दोनों का देश और लक्षण मिलता हो तो वहां उनका जातिभेद ही विवेकज ज्ञान का हेतु होगा। यह गौ है और यह घोड़ी है–इस ज्ञान में दोनों का देश एक है और पशुत्व जाति एक ही है; परन्तु यहां पर दोनों के लक्षण ही विवेक ज्ञान के कारण हैं। गौ के गले में मांस होता है उसे स्वस्ति कहते हैं तो यह लक्षण कि गौ स्वस्ति-शाली है, गौ के सत्य ज्ञान का देने वाला है। जहां दो आंवलों के ज्ञान से जाति और लक्षण समान हो वहां भेद से निश्चय होता है कि यह पूर्व वस्तु है और यह उत्तर वस्तु है। अभिप्राय यह है कि सन्देह रहित तत्व-ज्ञान होना चाहिये। इस प्रयोजन से उक्त पद कहा जाता है ॥ ५३ ॥

भो० वृ०—पदार्थानां भेदहेतवो जातिलक्षणदेशा भवन्ति। क्वचि-द्भेदहेतुर्जातिः, यथा गौरियं महिषीऽयमिति। जात्या तुल्ययोर्लक्षणं भेद-हेतुः, इयं कब्बुरेयमरुणेति। जात्या लक्षणेनचाभिन्नय भेदहेतुर्देशोदृष्टः। यथा तुल्यपरिमाणयोरामलकयोर्भिन्नदेशस्थितयोः। यत्रपुनर्भेदोऽवधारयितुं न शक्यते। यथैकदेशस्थितयोः शुक्लयोः पार्थिवयोः परमाण्वोस्तथाविधे विषये भेदाय कृतसयमस्य भेदेन ज्ञानमुत्पद्यते। तदा तदभ्यासात् सूक्ष्माण्यपि तत्त्वानि भेदेन प्रतिपद्यन्ते। एतदुक्तं भवति-यत्र केनचिदु-पायेन भेदो नावधारयितुं शक्यस्तत्र संयमाद्भवत्येव भेदप्रतिपत्तिः ॥५३॥

सूक्ष्माणां तत्त्वानामुक्तस्य विवेकजन्यज्ञानस्य संज्ञाविषयस्वाभाव्यं व्याख्यातुमाह–

भोज वृ० का भा०—पदार्थों के भेद के हेतु जाति, लक्षण और देश होते हैं अर्थात् इन तीनों से ही पदार्थों में भेद जाना जाता है। कहीं जाति से भेद जान पड़ता है जैसे यह गौ है और यह भैंस है। इन दोनों में पशुत्व रूप एक जाति रहने से भी गोत्व और महिषत्व जाति का भेद है, जहां दो गौओं में भेद ज्ञान जानना हो वहां लक्षण भेदकारक होता है—यह चितली गौ है और यह लाल गौ है। जिन दो पदार्थों में जाति और लक्षण की एकता पाई जाती हो उन में देशकारक भेद होता है जैसे समान प्रमाण वाले दो आंवलों का भेद केवल स्थल विशेष से होता है। परन्तु एक देश में जो दो परमाणु एक ही जाति और लक्षण युक्त रहते हैं उन में भेद ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् तत्वों के सूक्ष्म भेदको भी योगी जान जाता है ॥ ५३ ॥

सूक्ष्म तत्वों में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस की विशेष संज्ञा आगे २ कहेंगे—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

सूत्र का पदार्थ—(तारकम्) तारक अर्थात् विवेकजज्ञान (सर्वविषयम्) जिससे किसी विषय का ज्ञान छिपा नहीं रहता (सर्वथाविषयमक्रमं चेति) भूत, भविष्य और वर्तमान क्रम से रहित जो ज्ञान है (विवेकजं ज्ञानम्) वह विवेकज ज्ञान कहलाता है ॥ ५४ ॥

सू० का भा०—तारक वह विवेकज ज्ञान है जिससे सब विषय और सर्वकालीन ज्ञान होता है ॥ ५४ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—तारकमिति स्वप्रतिभोत्थमनौपदे-

शिकमित्यर्थः। सर्वविषयम् नास्य किंचिदविषयीभूतमित्यर्थः। सर्वथाविषयमतीतानागतप्रत्युत्पन्नं सर्वं पर्यायैः सर्वथा जानातीत्यर्थः। अक्रममित्येकक्षणोपारूढं सर्वम् सर्वथा गृह्णातीत्यर्थः। एतद्विवेकजं ज्ञानं परिपूर्णम्। अस्यैवांशो योगप्रदीपो मधुमतीम् भूमिमुपादाय यावदस्य परिसमाप्तिरिति ॥ ५४ ॥

प्राप्तविवेकजज्ञानस्याप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा—

भा० का भा० – तारक उसे कहते हैं जो अपनी प्रतिभा अर्थात् बुद्धि से उत्पन्न हो अर्थात् विना किसी के उपदेश किये जो ज्ञान हो उसे तारक कहते हैं। सर्व विषय का अर्थ है कि कोई विषय इस ज्ञान से छुटा नहीं रहता है। अक्रम का अर्थ है कि पूर्वोक्त एक क्षण में जितना पदार्थ वा कार्य्य जगत् में है उस सब को पूर्व रीति से योगी जानता है। यह पूर्ण विवेकज ज्ञान है इस ही का एक भाग योगप्रदीप है जो मधुमती भूमिसे तारकज्ञान–प्राप्ति पर्य्यन्त रहता है चाहे वह विवेक ज्ञान का प्रदीप हो वा अप्राप्त का हो ॥ ५१ ॥

भा० का भा०—तारक ज्ञान उसे कहते हैं जो विना किसी के उपदेश किये योगी के हृदय में प्रकाशित हो। सर्वविषयक भी हो अर्थात् कोई पदार्थ इस ज्ञान से बाहर नहीं रहता इस हीं ज्ञान का नाम विवेकज ज्ञान है ॥ ५४ ॥

भो० वृ०—उक्तसंयमबलादन्त्यायां भूमिकायामुत्पन्नं ज्ञानं तारयत्यगाधात् संसारसागरात् योगिनमित्यान्वर्थिक्या संज्ञया तारकमित्युच्यते। अस्य विषयमाह–सर्वविषयमिति। सर्वाणि तत्त्वानि महदादीनि विषयोऽस्येति सर्वविषयम्। स्वभावश्चास्य सर्वथा विषयत्वम्। सर्वाभिरवस्थाभिः स्थूलसूक्ष्मादिभेदेन तैस्तैः परिणामैः सर्वेण प्रकारेणावस्थितानि तत्त्वानि विषयोऽस्येति सर्वथाविषयम्। स्वभावान्तरमाह–अक्रमञ्चेति। निःशेषनानावस्थापरिणतत्र्यात्मकभावग्रहणे नास्य क्रमो विद्यत इति अक्रमम्। सर्वं करतलामलकवत् युगपत् पश्यतीत्यर्थः ॥५४॥

अस्माच्च विवेकजात् तारकाख्यात् ज्ञानात् किं भवतीत्याह—

भो० वृ० का भा०—उक्त संयम के बल से अन्त्यभूमिका में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे तारक ज्ञान कहते हैं क्योंकि वह योगी को अगाध संसार सागर से तारता है इस ही कारण उस ज्ञान का नाम तारक है। अब इस तारक ज्ञान का विषय कहते हैं, वह सर्वविषय है अर्थात् महत्तत्व आदि सम्पूर्ण इस के विषय हैं। तत्वों के स्वभाव भी इसके ही विषय हैं, चाहे जो तत्व किसी अवस्था वा किसी परिणाम में हो तारकज्ञान युक्त योगी सब को यथार्थरूप से जानता है। अब दूसरा स्वभाव कहते हैं, सम्पूर्ण अवस्थाओं में परिणत होके जो तत्व अनेक रूपको धारण करता है उन सबको योगी करतलामलकवत् जानता है ॥५४॥

इस तारक ज्ञान से क्या होता है इसको आगे कहते हैं-

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥५५॥

सूत्र का पदार्थ—(सत्त्वपुरुषयोः) बुद्धि और पुरुष दोनों की (शुद्धिसाम्ये) शुद्धि और समता होने पर (कैवल्यम्) मोक्ष होती है ॥ ५५ ॥

सू० का भा०—जब बुद्धि पुरुष के समान निर्म्मल अर्थात् पाप, चिन्तादि दोषरहित होती है तब उस अवस्था को कैवल्य कहते हैं ॥५५॥

व्या० दे० कृ० भा०—यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषस्यान्यताप्रत्ययमात्राधिकारं दग्धक्लेशबीजं भवति तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवाऽऽपन्नं भवति, तदा पुरुषस्योपचरितभोगाभावः शुद्धिः। एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेकजज्ञानभागिन इतरस्य वा। नहि दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति। सत्त्वशुद्धिद्वारेणैतत्समाधिजमैश्वर्य्यं ज्ञानं चोपक्रांतम्। परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्तते

तस्मिन्निवृत्ते न सन्त्युत्तरे क्लेशाः । क्लेशाभावात्कर्मविपाकाभावः । चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणा न पुरुषस्य पुनर्दृश्यत्वेनोपतिष्ठंते । तत्पुरुषस्य कैवल्यं तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली भवति ॥ ५५ ॥

भा० का प०—जब धोये गये हैं रजोगुण और तमोगुण रूपी मल जिसके ऐसी निर्मल बुद्धि पुरुष से भिन्नतामात्र का जो अधिकार है उसका बीज दग्ध जब हो जाता है तब योगी की बुद्धि पुरुष की जो शुद्धता है उसकी समानता को प्राप्त हो जाती है। पुरुष को जो भोगों का अभाव है उसे शुद्धि कहते हैं। इस अवस्था में ईश्वर, अनीश्वर वा किसी विवेक ज्ञान वाले का कैवल्य होता है। दग्ध होगये हैं क्लेश के बीज जिसके उसे किसी की सहाय लेने की अपेक्षा नहीं रहती। बुद्धि की शुद्धता के द्वारा वह समाधि से उत्पन्न ऐश्वर्य और ज्ञान को प्राप्त होता है। यथार्थ में तो ज्ञान से विषयों की निवृत्ति होती है, विषयनिवृत्ति से भावी क्लेशों का नाश हो जाता है। क्लेश निवृत्त होने से कर्म्म और कर्म्मफल की निवृत्ति होती हैं। इस अवस्था में काम करने वाले गुण दृश्यभाव से पुरुष को दिखलाई नहीं देते। पुरुष की, इस ही दशा को कैवल्य कहते हैं तब पुरुष प्रकाश स्वरूप निर्मल केवली होता है ॥ ५५ ॥

भा० का भा०—जब बुद्धि से रजोगुण और तमोगुण के मल नष्ट हो जाते हैं तब वह निर्मल बुद्धि पुरुषस्थ निर्म्मलता के समान हो जाती है उस समय पुरुष को भोगों का अभाव हो जाता है और इस ही अवस्था में कैवल्य प्राप्त होता है। कैवल्य प्राप्ति के अनन्तर पुरुष स्वतन्त्र हो जाता है क्योंकि ज्ञान से दर्शन अर्थात् विषय साधन निवृत्त हो जाता है। साधन निवृत्ति से होने वाले क्लेशों की निवृत्ति होती है और उससे कर्म्म विपाकों का अभाव और कर्म विपाक के अभाव से दुर्गुणों का प्रादुर्भाव नहीं होता। इस ही अवस्था को कैवल्य कहते हैं ॥ ५५ ॥

भो० वृ०—सत्त्वपुरुषावुक्तलक्षणौ तयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यं सत्त्वस्य सर्वकर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्या स्वकारणेऽनुप्रवेशः शुद्धिः। पुरुषस्य शुद्धिरुपचरितभोगाभाव इति द्वयोः समानायां शुद्धौ पुरुषस्य कैवल्यमुत्पद्यते मोक्षो भवतीत्यर्थः।

तदेवमन्तरङ्गम् योगाङ्गत्रयमभिधाय तस्य च संयमसंज्ञां कृत्वा संयमस्य च विषयप्रदर्शनार्थं परिणामत्रयमुपपाद्य संयमबलोत्पद्यमानाः पूर्वान्तपरान्तमध्यभवाः सिद्धीरुपदर्श्य समाध्यभ्यासोपपत्तये बाह्या भुवनज्ञानादिरूपा आभ्यन्तराश्च कायव्यूहज्ञानादिरूपाः प्रदर्श्य समाध्युपयोगायेन्द्रियप्राणजयादिपूर्विकाः परमपुरुषार्थसिद्धये यथाक्रममवस्थासहितभूतजयेन्द्रियजयसत्त्वजयोद्भवाश्च व्याख्याय विवेकज्ञानोपपत्तये तांस्तानुपायानुपन्यस्य तारकस्य सर्वसमाध्यवस्थापर्य्यन्तभवस्य स्वरूपमभिधाय तत्समापत्तेः कृताधिकारस्य चित्तसत्त्वस्य स्वकारणेऽनुप्रवेशात् कैवल्यमुत्पद्यत इत्यभिहितमिति निर्णीतो विभूतिपादस्तृतीयः।

भोज वृ० का भा०—सत्त्व और पुरुष के लक्षण प्रथम कह चुके हैं उन दोनों में जब पवित्रता की समानता होती है अर्थात् सत्त्व में जो कर्तृत्व का मिथ्याभिमान है जब वह निवृत्त हो जाता है और पुरुष में सहचारी भोग का अभाव होता है यही दोनों की समान शुद्धि है, तब पुरुष को मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

इति भोजदेवविरचितायां राजमार्त्तण्डाभिधायां
पातञ्जलवृत्तौ विभूतिपादस्तृतीयः।

—:०:—

उपसंहार।

इस पाद में योग के तीन अंग–ध्यान, धारणा और समाधि का वर्णन करके, उन तीनों की एक संयमसंज्ञा नियत करके, संयम के विषयों को दिखलाने के निमित्त तीन परिणामों का

वर्णन किया। संयम के बल से उत्पन्न हुई पूर्वान्त, अपरान्त और मध्यभाव की सिद्धियों का वर्णन करके, समाधि के अभ्यास को दृढ़ करने के निमित्त बाह्य भुवन, अनादि रूप और आभ्यन्तर कायव्यूह ज्ञानरूप सिद्धियों को कहके समाधि के उपयोग निमित्त इन्द्रियजय और प्राणजय आदि का वर्णन भी किया। परम पुरुषार्थ अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति के निमित्त क्रम से अवस्था सहित भूतजय, इन्द्रियजय और सत्त्वजय का वर्णन भी किया। विवेक-ज्ञान के निर्णय के उपाय कहे फिर सब समाधि और अवस्थाओं में उपकार करने वाले तारकज्ञान का भी वर्णन किया इस तारकज्ञान में योगी के चित्त को अधिकार प्राप्त हो जाता है तब उसको कैवल्य प्राप्त होता है-यही वर्णन किया है॥

इति श्रीपातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे विभूतिपादस्तृतीयः।

अथ कैवल्यपादः
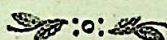
जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥१॥

सूत्र का पदार्थ—(जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः) सिद्धियां जन्म से, औषधि से, मंत्र से, तप से और समाधि से उत्पन्न होती हैं॥ १ ॥

सूत्र का भा०—सिद्धि जन्मादि से उत्पन्न होती हैं।

व्या० दे० कृ० भा०—देहान्तरिता जन्मना सिद्धिः। ओषधिभिरसुरभवनेषु रसायनेनेत्येवमादिः। मन्त्रैराकाशगमनाणिमादि-लाभः। तपसा संकल्पसिद्धिः, कामरूपी यत्र तत्र कामग इत्येवमादि। समाधिजाः सिद्धयो व्याख्याताः॥ १ ॥

भा० का प०—जन्म से सिद्धि वह कहाती है जो पूर्वजन्म के शरीर द्वारा सम्पादित होकर इस जन्म में बिना श्रम के प्राप्त हो जाती है। रसायन आदि से असुर लोगों के स्थानों में अनेक सिद्धियां होती हैं मन्त्रों से आकाश गमन और अणिमादि सिद्धि होती है। तप से संकल्प सिद्धि होती है अर्थात् अपनी इच्छानुसार जहां चाहे तहां जा सकता है। समाधि से जिन सिद्धियों की प्राप्ति होती है उनका विभूतिपाद में वर्णन कर चुके हैं॥ १॥

भा० का भा०—देहान्तर के साधन से जो सिद्धि प्राप्त होती हैं वे जन्मसिद्धि जो रसायनादि से प्राप्त होती हैं वे औषधिक सिद्धि कहाती हैं। संकल्पसिद्धि को तपःसिद्धि कहते हैं और समाधिज सिद्धि का वर्णन विभूतिपाद में लिख चुके हैं॥ १॥

भो० वृ०—इदानीं विप्रतिपत्तिसमुत्थभ्रान्तिनिराकरणेन युक्त्या कैवल्यस्वरूपज्ञानाय कैवल्यपादोऽयमारभ्यते—

तत्र याः पूर्वमुक्ताः सिद्धयस्तासां नानाविधजन्मादिकारणप्रतिपादनद्वारेणैवं बोधयति। यदि वा या एताः सिद्धयस्ताः सर्वाः पूर्वजन्माभ्यस्तसमाधिबलात् जन्मादिनिमित्तमात्रत्वेनाऽऽश्रित्य प्रवर्त्तन्ते। ततश्चानेकभवसाध्यस्य समाधेर्न क्षतिरस्तीत्याश्वासोत्पादनाय समाधिसिद्धेश्च प्राधान्यख्यापनार्थं कैवल्योपयोगार्थं चाऽऽह—

भो० वृ० सूत्र व्याख्या—काश्चन जन्मनिमित्ता एव सिद्धयः। यथा पक्ष्यादीनामाकाशगमनादयः। यथा वा कपिलमहर्षिप्रभृतीनां जन्मसमनन्तरमेवोपजायमाना ज्ञानादयः सांसिद्धिका गुणाः। ओषधिसिद्धयो यथा—पारदादिरसायनाद्युपयोगात्। मन्त्रसिद्धिर्यथा—मन्त्रजपात् केषाञ्चिदाकाशगमनादि। तपःसिद्धिर्यथा—विश्वामित्रादीनाम्। समाधिसिद्धिः प्राक् प्रतिपादिता। एताः सिद्धयः पूर्वजन्मक्षपितक्लेशानामेवोपजायन्ते। तस्मात् समाधिसिद्धाविवान्यासां सिद्धीनां समाधिरेव जन्मान्तराभ्यस्तः कारणम्। मन्त्रादीनि निमित्तमात्राणि॥ १॥

ननु नन्दीश्वरादिकानां जात्यादिपरिणामोऽस्मिन्नेव जन्मनि दृश्यते तत्कथं जन्मान्तराभ्यस्तस्य समाधेः कारणत्वमुच्यत इत्याशंकयाऽऽह—

भो० वृ० का भा०—अब संशय से उत्पन्न हुई भ्रान्ति को खंडन करके युक्ति द्वारा कैवल्यज्ञान को दृढ़ करने के निमित्त कैवल्यपाद को आरम्भ करते हैं—

पूर्व जिन सिद्धियों का वर्णन किया था उनके जन्मादि अनेक कारण हैं वे जब प्रकट होती हैं तब ऐसा बोध कराती हैं अर्थात् उनको पाकर योगी को ऐसा ज्ञान होता है कि मेरी यह सिद्धि पूर्व जन्म में सिद्ध समाधि के बल से उत्पन्न हुई है। यहां जन्म लेते ही प्रगट हो गई है, इस से यह सिद्ध होता है कि अगले जन्म से जो योगाभ्यास करता हुआ योगी चला आता है उस योग की हानि नहीं हुई है, समाधि के अभ्यास को सिद्धि ही प्रकाशित करती हैं इस कारण समाधि सिद्धियों की प्रधानता को वर्णन करते हैं।

कोई सिद्धि जन्म कारण से ही उत्पन्न होती हैं जैसे पक्षी आदिकों का आकाशगमन आदि, अथवा महर्षि कपिल आदि के जन्म लेते ही ज्ञानादिक सांसिद्धिक गुण प्रकट हो गये थे। औषधियों से जैसे पारे आदि से जरा मृत्यु नाश कर जवान बनाये जाते हैं। मन्त्र से सिद्धि जैसे विमान द्वारा आकाशगमनादि। तप से सिद्धि जैसे विश्वामित्रादि को हुई थी और समाधि की सिद्धियों का पूर्व पाद में वर्णन कर चुके हैं। ये सब सिद्धि पूर्वक्लेशों की निवृत्ति के पश्चात् ही उत्पन्न होती हैं सिद्धियों के प्रादुर्भाव में समाधि ही कारण है और मन्त्रादि नाम मात्र के निमित्त हैं ॥१॥

तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजातीयपरिणतानाम्—

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

सूत्र का पदार्थ—(जात्यन्तरपरिणामः) जाति का परिवर्तन (प्रकृत्यापूरात्) प्रकृति के कारण से है ॥ २ ॥

सू० का भा०—जाति का परिणाम प्रकृति के विकार से होता है ॥२॥

व्या० दे० कृ० भा०—पूर्वपरिणामापाय उत्तरपरिणामोपजनस्तेषामपूर्वावयवानुप्रवेशाद्भवति । कायेन्द्रियप्रकृतयश्च स्वं स्वं विकारमनुगृह्णन्त्यापूरेण धर्मादिनिमित्तमपेक्षमाणा इति ॥ २ ॥

भा० का प०—पूर्व परिणाम के नाश होने पर जो दूसरा परिणाम होता है उसे उपजन कहते हैं, वह उक्त परिणामों के पूर्व अवयवों के संयोग से होता है । शरीर, इन्द्रियां और प्रकृति अपने २ विकार को धारण करती हैं और अपने धर्मादि निमित्त की अपेक्षा रखती हैं ॥ २ ॥

भा० का भा०—जब पूर्व परिणाम विनष्ट होता है तब उत्तर परिणाम की उत्पत्ति होती है इस परिणाम को उपजन कहते हैं । काया, इन्द्रिय और प्रवृत्ति अपने २ विकारों को ग्रहण करती हैं परन्तु जात्यन्तर परिणाम के हेतु धर्मादिक हैं ॥ २ ॥

भो० वृ०-योऽयमिहैव जन्मनि नन्दीश्वरादीनां जात्यादिपरिणामः स प्रकृत्यापूरात् पाश्चात्त्या एव हि प्रकृतयोऽमुष्मिन् जन्मनि विकारेणापूरयन्ति जात्यन्तराकारेण परिणमन्ति ॥ २ ॥

ननु धर्माधर्मादयस्तत्र क्रियमाणा उपलभ्यन्ते तत् कथं प्रकृतीनामापूरकत्वमित्याह—

भो० वृ० का भा०—नन्दीश्वर आदि का जो इस ही जन्म में जाति परिणाम हुआ था वह सब पूर्वजन्म की प्रकृति के परिणाम से ही हुआ था ॥ २ ॥

अब सन्देह यह है कि धर्म और अधर्म रूप कर्म जो यहां किये जाते हैं वे क्यों कर प्रकृति के परिणाम हो सकते हैं इसका उत्तर अगले सूत्र में कहते हैं-

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

सूत्र का पदार्थ-(निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनाम्) प्रकृतियों का निमित्त अप्रयोजक है (वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्) वरण का भेद तो किसानों के समान है ॥३॥

सू० का प०–निमित्त प्रकृतियों का प्रयोजक नहीं है क्योंकि वरणभेद क्षेत्रिकवत् होता है ॥ ३ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—न हि धर्मादि निमित्तं तत्प्रयोजकं प्रकृतीनां भवति । न कार्येण कारणं प्रवर्त्यत इति । कथम् तर्हि । वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् । यथा क्षेत्रिकः केदारादपां पूर्णात्केदारान्तरं पिप्लावयिषुः समं निम्नं निम्नतरं वा नापः पाणिनाऽपकर्षत्यावरणं त्वासां भिनत्ति तस्मिन् भिन्ने स्वयमेवाऽऽपः केदारान्तरमाप्लावयन्ति तथा धर्मः प्रकृतीनामावरणधर्मम् भिनत्ति तस्मिन् भिन्ने स्वयमेव प्रकृतयः स्वं स्वं विकारमाप्लावयन्ति । यथा वा स एव क्षेत्रिकस्तस्मिन्नेव केदारे न प्रभवत्यौदकान् भौमान्वा रसान्धान्यमूलान्यनुप्रवेशयितुं किन्तु तर्हि मुद्गगवेधुकश्यामाकादींस्ततोऽपकर्षति । अपकृष्टेषु तेषु स्वयमेव रसा धान्यमूलान्यनुप्रविशन्ति, तथा धर्मो निवृत्तिमात्रे कारणमधर्मस्य, शुद्ध्यशुद्ध्योरत्यन्तविरोधात् न तु प्रकृतिप्रवृत्तौ धर्मो हेतुर्भवतीति । अत्र नन्दीश्वरादय उदाहार्याः । विपर्ययेणाप्यधर्मो धर्मं बाधते । ततश्चाशुद्धिपरिणाम इति । तत्रापि नहुषाजगरादय उदाहार्याः ॥ ३ ॥

यदा तु योगी बहून् कायान्निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्का इति—

भा० का प०– धर्मादि निमित्त प्रकृतियों का उत्पादक नहीं है क्योंकि कार्य से कारण उत्पन्न नहीं होता । वैसे वरण भेद ' तो यहां पर वरण का अर्थ आवरण है" किसान के समान होता है। जैसे किसान जल से भरी हुई क्यारी से दूसरी क्यारी में जल ले जाने की इच्छा जब करता

है तब बराबर की नीची वा अत्यन्त नीची क्यारी में पानी को हाथ से नहीं खींचता है। क्यारियों के आवरण अर्थात् मेंढ़ वा डौल को काटता है। मेंढ़ के काटने से जल स्वयं ही दूसरी क्यारियों में चला जाता है ऐसे ही धर्म प्रकृतियों के आवरण रूप धर्म को काट देता है उसके नाश होने से प्रकृति आप से आप अपने विकारों को ग्रहण कर लेती है जैसे वह किसान उस खेत में औदक और पार्थिव रसों को अन्न की जड़ों में अपने हाथ से प्रवेश नहीं कराता, किन्तु उनकी जड़ें स्वयं ही उनको खींचकर अपने में प्रविष्ट कर लेती है। ऐसे ही धर्म अधर्म की निवृत्ति मात्र का कारण है क्योंकि शुद्धि और अशुद्धि का अत्यन्त विरोध है परन्तु प्रकृति की प्रवृत्ति में धर्म हेतु होता है। इस प्रकरण में नन्दीश्वर आदि उदाहरण हैं। विपर्य्यय करने से भी अधर्म धर्म का वाधक होता है। जब अधर्म धर्म का बाधक होता है तब अशुद्धि प्राप्त होती है उस में भी नहुष और अजगर प्रभृति के उदाहरण हैं॥ ३॥

जब कि योगी अनेक शरीरों का निर्माण करता है उस समय योगी अनेक चित्तवाला होता है वा एक चित्त वाला ?

भा० का भा०—धर्मादिक प्रकृति वा वरणभेद के कारण नहीं हैं, क्योंकि कार्य से कारण उत्पन्न नहीं होता। परन्तु वरणभेद होने का क्रम है कि जैसे किसान जब किसी जल से भरी क्यारी से जल दूसरी क्यारी में ले जाना चाहता है तब केवल क्यारियों की मेंढ़ काटने से जल स्वयं ही दूसरी क्यारी में चला जाता है। इस ही रीति से धर्म के द्वारा अधर्म रूपी मेंढ़ काटने से प्रकृतिभेद स्वयं हो जाता है। जैसे एक ही जल अनेक अन्नों का कारण होता है ऐसे ही प्रकृति के परिणाम भी समझने चाहिये। प्रथमोक्त क्रम में नन्दीश्वर का उदाहरण है अर्थात् नन्दीश्वर नामक एक मनुष्य देवत्व को धर्म से प्राप्त हो गया और नहुष अधर्माचरण से देव दशा से अजगर हो गया था। यह सब कथा ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखी है॥ ३॥

भो० वृ०—निमित्तं धर्मादि तत्प्रकृतीनामर्थान्तरपरिणामे न प्रयोजकम्। नहि कार्य्येण कारणं प्रवर्त्तते। कुत्र तर्हि तस्य धर्मादेर्व्यापार इत्याह—वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्। ततस्तस्मादनुष्ठीयमानाद्धर्मात् वरणमावरणमधर्म्मादि तस्यैव विरोधित्वात् भेदः क्षयः क्रियते। तस्मिन् प्रतिबन्धके क्षीणे प्रकृतयः स्वयमभिमतकार्याय प्रभवन्ति। दृष्टान्तमाह—क्षेत्रिकवत्। यथा क्षेत्रिकः कृषीवलः केदारात् केदारान्तरं जलं निनीषुर्जलप्रतिबन्धकवरणभेदमात्रं करोति। तस्मिन् भिन्ने जलं स्वयमेव प्रसरद्रूपं परिणामं गृह्णाति न तु जलप्रसरणे तस्य कश्चित् प्रयत्न एवं धर्म्मादेर्बोद्धव्यम् ॥ ३ ॥

यदा साक्षात्कृततत्त्वस्य योगिनो युगपत्कर्म्मफलभोगायाऽऽत्मीय निरतिशयविभूत्यनुभवत्वात् युगपदनेकशरीरनिर्मित्सा जायते तदा कुतस्तानि चित्तानि प्रभवन्तीत्याह—

भो० वृ० का भा०—पूर्वोक्त जाति परिणाम का हेतु धर्म्मादिक प्रकृति के अर्थान्तर परिणाम का कारण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि कार्य से कारण की कभी उत्पत्ति नहीं होती है, तब यह सन्देह होगा कि यदि धर्म्मादि प्रकृति के परिणाम के कारण नहीं हैं तो वे निष्फल होंगे? इस का उत्तर यह है कि उन से वरण अर्थात् आवरण का क्षय होता है उन धर्म्मादि से आवरण करने वाले अधर्म्मादि का क्षय होता है और आवरण रूप अधर्म्म के क्षय होने से प्रकृति आप ही अपनी रुचि के कार्य्य को कर लेती है इस में दृष्टान्त देते हैं। जैसे किसान एक क्यारी से जब दूसरी क्यारी में जल को ले जाना चाहता है तब जल को रोकने वाली मेंढ़ को ही केवल काटता है। मेंढ़ के कटने से जल स्वयम् बहने लगता है। किसान को जल बहाने के वास्ते कोई उद्योग करना नहीं पड़ता है ऐसे ही धर्मादि को समझना चाहिये ॥ ३ ॥

जब योगी को तत्वों का साक्षात् ज्ञान हो जाता है तब कई कर्मों का एक ही समय फल भोगने के वास्ते अपनी सिद्धियों के प्रताप से एक समय में यदि अनेक शरीर धारण करने की इच्छा हो तब अनेक चित्त क्योंकर होंगे? इसका उत्तर आगे देते हैं—

निर्म्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

सूत्र का पदार्थ—(निर्म्माणचित्तानि) चित्त को उत्पन्न करने वाली (अस्मितामात्रात्) केवल अस्मिता है ॥ ४ ॥

सू० का भा०—चित्त को बनाने वाली अस्मिता है ॥ ४ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—अस्मितामात्रम् चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति, ततः सचित्तानि भवन्ति ॥ ४ ॥

भा० का प०—केवल अस्मिता चित्त के कारण को ग्रहण करके चित्तको उत्पन्न करती है तब प्राणी चित्त के सहित होते हैं ॥ ४ ॥

भा० का भा०—अस्मिता से चित्त की उत्पत्ति होती है ॥ ४ ॥

भो० वृ०—योगिनः स्वयं निर्मितेषु कायेषु यानि चित्तानि तानि मूलकारणादस्मितामात्रादेव तदिच्छया प्रसरन्ति अग्नेर्विस्फुलिङ्गा इव युगपत् परिणमन्ति ॥ ४ ॥

ननु बहूनां चित्तानां भिन्नाभिप्रायत्वान्नैककार्यकर्तृत्वं स्यादित्याह—

भो० वृ० का भा०-योगी ने जो अपने आप शरीरों की रचना की है वह चित्त की मूलभूत अस्मिता मात्र से चित्तयुक्त होते हैं। अर्थात् योगी एक अस्मिता से ही सब शरीरों को सचित्त करता है जैसे एक अग्नि से अनेक चिङ्गारियाँ निकलती हैं ॥ ४ ॥

अब यह शङ्का होती है कि यदि अनेक चित्त होंगे तो वह सब एक कार्य्य के कर्त्ता क्योंकर हो सकते हैं? इसका उत्तर आगे देते हैं—

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥५॥

सूत्र का पदार्थ—(प्रवृत्तिभेदे) प्रवृत्ति के भेद से (एकम् चित्तमनेकेषाम्प्रयोजकम्) एक ही चित्त अनेक चित्तों का प्रयोजक होता है ॥ ५ ॥

सूत्र का भा०—प्रवृत्तिभेद से एक ही चित्त अनेक चित्तों का उत्पन्न करने वाला होता है ॥ ५ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—बहूनां चित्तानां कथमेकचित्ताभिप्रायपुरःसरा प्रवृत्तिरिति सर्वचित्तानां प्रयोजकं चित्तमेकं निर्मिमीते, ततः प्रवृत्तिभेदः ॥ ५ ॥

भा० का प०—एक ही चित्त अनेक चित्तों का कैसे प्रवर्त्तक हो सकता है । प्रवृत्तिभेद सब चित्तों के प्रेरक एक ही चित्त को निर्मित करता है ॥ ५ ॥

भा० का भा०—प्रथम एक ही चित्त अनेक चित्तों का प्रेरक निर्मित होता है पश्चात् प्रवृत्तिभेद हो जाता है ॥ ५ ॥

भो० वृ०—तेषामनेकेषां चेतसां प्रवृत्तिभेदे व्यापारनानात्वे एकं योगिनश्चित्तं प्रयोजकं प्रेरकमधिष्ठातृत्वेन । तेन न भिन्नमतत्वम् । अयमर्थः—यथाऽऽत्मीयशरीरे मनश्चक्षुःपाण्यादीनि यथेच्छं प्रेरयति । अधिष्ठातृत्वेन तथा कार्यान्तरेष्वपीति ॥ ५ ॥

जन्मादिप्रभवत्वात् सिद्धीनां चित्तमपि तत् प्रभवं पञ्चविधमेव । अतो जन्मादिप्रभवाच्चित्तात् समाधिप्रभवस्य चित्तस्य वैलक्षण्यमाह—

भोज वृ० का भा०—अनेक चित्तों के जो अनेक व्यापार और वृत्ति हैं उन सब का प्रेरक योगी का एक ही चित्त होता है क्योंकि सब का अधिष्ठाता वही एक चित्त है । इससे योगी के कल्पित अनेक चित्तों में परस्पर मतभेद नहीं हो सकता है, अभिप्राय यह है कि योगी शरीर और इन्द्रियों को प्रेरित कर सकता है ऐसे ही चित्त से अनेक कार्य्य भी करा सकता है ॥ ५ ॥

सिद्धियों से जन्मादिक हो सकते हैं और सिद्धियों के पाँच भेद जो ऊपर कहे हैं उनसे उत्पन्न होने वाला चित्त भी पांच प्रकार का हुआ। उन पाँच प्रकारके चित्तों में से समाधि से उत्पन्न हुए चित्त की विलक्षणता को कहते हैं—

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

सूत्र का पदार्थ—(तत्र) उनमें (ध्यानजमनाशयम्) जो चित्त ध्यान से उत्पन्न होता है वह राग, द्वेषरहित होता है ॥ ६ ॥

सू० का भा०—जो चित्त ध्यान से प्राप्त होता है, वह राग द्वेष रहित होता है ॥ ६ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—पञ्चविधम् निर्माणचित्तं जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धय इति। तत्र यदेव ध्यानज चित्तं तदेवानाशयं तस्यैव नास्त्याशयो रागादिप्रवृत्तिर्नातः पुण्यपापाभिसम्बन्धः क्षीणक्लेशत्वाद्योगिन इति। इतरेषां तु विद्यते कर्माशयः॥ ६॥

भा० का प०—चित्त की पाँच प्रकार की रीति है जन्म से ओषधि से, मंत्र से, तप से और समाधि से जो सिद्धि होती हैं उनमें से जो ध्यान से चित्त उत्पन्न होता है वही आशय रहित है अर्थात् उस चित्त की रागादि में प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि उस के क्लेश क्षीण हो जाते हैं इससे उसमें पुण्य और पाप का सम्बन्ध नहीं रहता है और चित्तों का कर्माशय होता है ॥ ६ ॥

भा० का भा०—पूर्व जो पाँच प्रकार की सिद्धि कही थीं उन में ध्यानज चित्त राग द्वेष रहित है और अन्य चित्तों में रागादि का सञ्चार रहता है, ध्यानजचित्त में क्लेश क्षीण हो जाने से पुण्य पाप का सम्बन्ध भी नहीं रहता है ॥ ६ ॥

भो० वृ०—ध्यानजं समाधिजं यच्चित्तं तत् पञ्चसु मध्येऽनाशयं कर्मवासनारहितमित्यर्थः ॥ ६ ॥

यथेतरचित्तेभ्यो योगिनश्चित्तं विलक्षणं क्लेशादिरहितं तथा कर्मापि विलक्षणमित्याह—

भो० वृ० का भा०—ध्यान अर्थात् समाधिजन्य सिद्धि से उत्पन्न हुआ चित्त उक्त पांच प्रकार के चित्तों में से कर्मों की वासना से रहित होता है ॥ ६ ॥

जैसे योगी का चित्त औरों के चित्त से विलक्षण होता है वैसे ही कर्म भी विलक्षण होते हैं यही अगले सूत्र में कहते हैं—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥७॥

सूत्र का पदार्थ—(कर्म्माशुक्लाकृष्णम्) शुक्ल और कृष्ण के भेद से रहित कर्म (योगिनः) योगी के होते हैं (इतरेषाम्) अन्यों के (त्रिविधम्) तीन प्रकार के हैं॥७॥

सू० का भा०—अन्य लोगों के कर्म्म शुक्ल, कृष्ण और मिश्रित तीन प्रकार के होते हैं पर योगियों का कर्म्म विलक्षण है ॥ ७ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—चतुष्पदी खल्वियं कर्म्मजातिः । कृष्णा शुक्लकृष्णा शुक्लाऽशुक्लाकृष्णा चेति । तत्र कृष्णा दुरात्मनां । शुक्लकृष्णा बहिःसाधनसाध्या । तत्र परपीडानुग्रहद्वारेणैव कर्माशयप्रचयः । शुक्ला तपःस्वाध्यायवताम् । सा हि केवले मनस्यायत्तत्वादबहिःसाधनाधीना न परान् पीडयित्वा भवति । अशुक्लाकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति । तत्राशुक्लं योगिन एव फलसंन्यासादकृष्णं चानुपादानात् । इतरेषां तु भूतानां पूर्वमेव त्रिविधमिति ॥ ७ ॥

भा० का प०—यह कर्म्मजाति चार पाद वाली अर्थात् चार

प्रकार की है-एक कृष्णा, दूसरी शुक्लकृष्णा तीसरी शुक्ला, चौथी अशु-क्लाकृष्णा। उन में से दुरात्माओं की कर्म्मजाति कृष्णा है। जो बाह्य साधनों से कर्म्मजाति सिद्ध होती है, वह शुक्लकृष्णा कहाती है। उसमें परपीडा एवं अनुग्रह दोनों से ही कर्माशय की वृद्धि होती है। शुक्ला कर्म्मजाति तपस्वी वेदपाठी और ध्यान वालों की होती है। वह शुक्ल जाति केवल मन के आधीन होने से बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं रखती। अन्य जीवों को दुःख भी नहीं देती। अशुक्लाकृष्णा—क्षीण होगये हैं क्लेश जिन के उन संन्यासियों की होती है। अन्यों की पूर्व कथित तीन जातियां होती हैं ॥ ७ ॥

भा० का भा०—कर्म्म जाति चार प्रकार की हैं। उन में से दुरा-त्माओं की कर्म्मगति पापमय होने से कृष्णा अर्थात् काली होती है। दूसरी अन्य जीवों को पीड़ा देना वा अनुग्रह करने से जो कर्म्म समूह सञ्चित होता है वह शुक्लकृष्णा तीसरी जो गति अन्तःसाधनों के आधीन है वह शुक्ला कर्म्मगति स्वाध्याय और तप करने वाले लोगों की होती है और जो शुक्ला भी नहीं और न कृष्णा है वह संन्यासियों की कर्म्म जाति है ॥७

भो० वृ०—शुभफलदं कर्म्म यागादि शुक्लम्। अशुभफलदं ब्रह्महत्यादि कृष्णम्। उभयसङ्कीर्णं शुक्लकृष्णम्। तत्र शुक्लं कर्म्म विचक्षणानां दानतपःस्वाध्यायादिमतां पुरुषाणाम्। कृष्णं कर्म्म दानवा-नाम्। शुक्लकृष्णं मनुष्याणाम्। योगिनांतु संन्यासवतां त्रिविधकर्मविप-रीतं विलक्षणं यत्फलत्यागानुसन्धानेनैवानुष्ठानान्न किञ्चित् फलमार-भते ॥ ७ ॥ अस्यैव कर्मणः फलमाह—

भो० वृ० का भा०— उत्तम फल को देने वाले यज्ञादि शुक्ल कर्म कहाते हैं, बुरे फल को देने वाले ब्रह्महत्यादि कर्म कृष्ण कहे जाते हैं और दोनों मिले हुए शुक्ल व कृष्ण कर्म हैं, इनमें से शुक्ल कर्म उत्तम जनों के होते हैं, जो दान तप और वेदपाठ करते हैं। दानवों (राक्षसों) के कर्म कृष्ण हैं और मिश्रित अर्थात् शुक्ल कृष्ण कर्म मनुष्यों के हैं

परन्तु योगियों के कर्म इन तीनों से विपरीत वा विलक्षण हैं जो फलत्याग की इच्छा से किये जाते हैं और किसी फल का आरम्भ नहीं करते हैं ॥७॥

इस ही कर्म का फल कहते हैं ।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्ति-र्वासनानाम् ॥ ८ ॥

सूत्र का पदार्थ—(ततस्तद्विपाकानुगुणानाम्) इसके अनन्तर कर्म्मों के फल के अनुसार (अभिव्यक्तिर्वासनानाम्) वासनाओं का प्रकाश होता है ॥ ८ ॥

सू० का भा०—कर्म्म-फल के अनुसार ही वासना प्रकट होती है ॥८॥

व्या० दे० कृ० भा०—तत इति त्रिविधात्कर्मणः, तद्विपाकानुगुणानामेवेति यज्जातीयस्य कर्म्मणो यो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासनाः कर्म्म विपाकमनुशेरते तासामेवाभिव्यक्तिः । न हि दैवं कर्म्म विपच्यमानं नारकतिर्यङ्मनुष्यवासनाभिव्यक्तिनिमित्तं संभवति किन्तु दैवानुगुणा एवास्य वासना व्यज्यन्ते । नारकतिर्यङ्मनुष्येषु चैवं समानश्चर्चः ॥ ८ ॥

भा० का प०—तीन प्रकार के कर्मों के फल के अनुकूल अर्थात् जिस प्रकार के कर्म्म का जो फल उसके अनुकूल जो वासनायें कर्म्मफल के आश्रय से सोई पड़ी हैं उन्हीं का प्रादुर्भाव होता है। क्योंकि दिव्य-कर्म्म पुष्ट हुआ नरक सम्बन्धी योनि तिर्य्यक् पशु वा सर्पादि वा मनुष्य वासना को प्रकट करने का कारण होता है किन्तु दैवकर्म्म से दिव्य वासना ही प्रकट होती है । इस ही रीति से नारक तिर्य्यक् और मनुष्य कर्म्म और वासनाओं का विचार है ॥ ८ ॥

भा० का भा०—पूर्व सूत्र में जो तीन प्रकार के कर्म्म कहे उनके अनुसार ही फल और फलानुसार वासना उत्पन्न होती है अर्थात् जिस

प्रकार का कर्म होता है उससे वैसी ही वासना होती है जैसे देवकर्म्म से दिव्य वासना होती है उनसे न नरकवासना और न तिर्यगादि वासना प्रकट होती है और ऐसे ही तिर्य्यगादि कर्म्मों से दिव्यवासना नहीं होती ॥ ८ ॥

भो० वृ०—इह हि द्विविधाः कर्मवासनाः स्मृतिमात्रफला जात्यायुर्भोगफलाश्च । तत्र जात्यायुर्भोगफला एकानेकजन्मभवा इत्यनेन पूर्वमेव कृतनिर्णयाः । यास्तु स्मृतिमात्रफलास्तास्ततः कर्मणो येन कर्मणा यादृक् शरीरमारब्धं देवमनुष्यतिर्य्यगादि भेदेन तस्य विपाकस्य या अनुगुणा अनुरूपा वासनास्तासामेवाभिव्यक्तिर्भवति । अयमर्थः-येन कर्मणा पूर्वं देवतादिशरीरमारब्धं जात्यन्तरशतव्यवधानेन पुनस्तथाविधस्यैव शरीरस्याऽऽरम्भे तदनुरूपा एव स्मृतिफला वासनाः प्रकटी भवन्ति । लोकान्तरेऽष्वेवार्थेषु तस्य स्मृत्यादयो जायन्ते । इतरास्तु सत्योऽपि अव्यक्तसंज्ञास्तिष्ठन्ति न तस्यां दशायां न नारकादिशरीरोद्भवा वासना व्यक्तिमायान्ति ॥८॥

आसामेव वासनानां कार्य्यकारणभावानुपपत्तिमाशङ्क्य समर्थयितुमाह—

भो० वृ० का भा०—कर्म्मवासना दो प्रकार की हैं । एक स्मृतिमात्रफला और दूसरी जात्यायुर्भोगफला । एक ही कर्म्म अनेक जन्म देता है । यह प्रथम ही निर्णय कर चुके हैं जो कर्म्मवासना स्मृतिमात्रफला हैं उनसे यह होता है कि जिस कर्म्म से जैसा शरीर प्राप्त होता है वह शरीर चाहे देवयोनि का हो, वा मनुष्ययोनि का हो वा कीट पतंगादि योनि का हो जैसा कर्म का फल होगा वैसी ही वासना भी होगी । अभिप्राय यह है कि जिस कर्म्म से देवशरीर प्राप्त हुआ था उसके पश्चात् चाहे सौ जन्म का भी अन्तर पड़ जाय परन्तु फिर वैसा जन्म प्राप्त होने से योगी को वही देवजन्म की स्मृति जन्य वासना प्रकाशित हो जाती है अर्थात् नरक भोगादि की वासना प्रकाशित नहीं होती ॥ ८ ॥

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्य्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

सूत्र का पदार्थ—(जातिदेशकालव्यवहितानामपि) जो कर्म वासना, जन्म, देश और काल से व्यवहित हैं उनका भी (आनन्तर्य्यम्) क्रमपूर्वक उदय होता है (स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात) क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनों का अभेद है ॥ ९ ॥

सूत्र का भा०—जिन कर्म्मवासनाओं में जन्म, देश और काल का व्यवधान भी है तो भी वह किसी समय उदय हो जाती हैं ॥ ९ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—वृषदंशविपाकोदयः स्वव्यञ्जकाञ्जनाभिव्यक्तः । स यदि जातिशतेन वा दूरदेशतया वा कल्पशतेन वा व्यवहितः पुनश्च स्वव्यञ्जकाञ्जन एवोदियाद्द्रागित्येवं पूर्वानुभूतवृषदंशविपाकाभिसंस्कृता वासना उपादाय व्यज्येत । कस्मात् ? यतो व्यवहितानामप्यासां सदृशं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तीभूतमित्यानन्तर्य्यमेव । कुतश्च स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् यथाऽनुभवास्तथासंस्काराः । ते च कर्म्मवासनानुरूपाः । यथा च वासनास्तथा स्मृतिरिति जातिदेशकालव्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः स्मृतिः । स्मृतेश्च पुनः संस्कारा इत्येते स्मृतिसंस्काराः कर्म्माशयवृत्तिलाभवशाद्व्यज्यन्ते । अतश्च व्यवहितानामपि निमित्तनैमित्तिकभावानुच्छेदादानन्तर्य्यमेव सिद्धमिति ॥ ९ ॥

भा० का प०—कर्म्मफल अपने साधनों को पाकर प्रकाशित होता है । यदि वह सौ जन्मों से दूर देश से अथवा सौ कल्प से व्यवहित भी हो फिर अपने साधनों को पाकर उदय होता है। इस रीति से पूर्व काल

में अनुभव किया है, जिन कर्म्मफलों को उनसे उत्पन्न हुई जो वासना अपने साधनों को पाकर प्रकाशित होती है क्योंकि यदि यह वासना व्यवहित भी हो तो भी इनके कर्म को प्रकाश करने वाला एक ही निमित्त है। इससे अभिव्यञ्जकता क्रम से ही हो सकती है क्योंकि स्मृति और संस्कार एक ही हैं। जैसा अनुभव होता है उसके अनुसार ही संस्कार होता है। वे अनुभव और संस्कार भी कर्म तथा वासना के अनुकूल ही होते हैं। जैसी वासना वैसी ही स्मृति होती है। इस रीति से जन्म, देश और काल से व्यवहित संस्कारों से स्मृति होती है और स्मृति से फिर संस्कार उत्पन्न होते हैं। इस रीति से स्मृति और संस्कार कर्म्मफल की वृत्तिलाभ के समान प्रकाशित होते हैं इसलिये व्यवधान सहित वासनाओं का निमित्त और नैमित्तिक भाव के अनुच्छेद से आनन्तर्य ही सिद्ध होता है ॥९॥

भा० का भा०—कर्मफल अपने साधनों के द्वारा प्रकाशित होता है। व्यञ्जक अर्थात् उदित होने में सहायक के पाने से प्रकट होता है। ऐसे ही कर्म की वासना भी उदित होती है। वह यदि सौ जन्म से अथवा अधिक दूर देश से और सौ कल्प से व्यवहित हो तो भी अपने आश्रय को पाकर उदित होता है क्योंकि इन स्मृति और वासनाओं का प्रकाशित करने वाला निमित्त एक ही है क्योंकि यह स्मृति और संस्कार एक ही रूप हैं। जैसा अनुभव होता है वैसा ही संस्कार होता है। वे कर्म और वासना के अनुकूल ही होते हैं। जैसी वासना होती है वैसी ही स्मृति है। इस रीति से जन्म, देश और काल से जो व्यवहित संस्कार हैं उनसे स्मृति उत्पन्न होती है। स्मृति से फिर संस्कार होते हैं। यह स्मृति और संस्कार कर्मफल में समान उदित होते हैं ॥ ९ ॥

भो० वृ०—इह नानायोनिषु भ्रमतां संसारिणां काञ्चिद्योनिमनुभूय यदा योन्यन्तरसहस्रव्यवधानेन पुनस्तामेव योनिं प्रतिपद्यते तदा तस्यां पूर्वानुभूतायां योनौ तथाविधशरीरादिव्यञ्जकापेक्षया वासना याः प्रकटी-

भूता आसंस्तास्तथाविधव्यञ्जकाभावात्तिरोहिताः पुनस्तथाविधव्यञ्जक-शरीरादिलाभे प्रकटी भवन्ति । जातिदेशकालव्यवधानेऽपि तासां स्वानुभूत-स्मृत्यादिफलसाधन आनन्तर्य्यम्. नैरन्तर्यम्, कुतः ? स्मृतिसंस्कारयोरे-करूपत्वात् । तथा ह्यनुष्ठीयमानात् कर्मणश्चित्तसत्त्वे वासनारूपः संस्कारः समुत्पद्यते । स च स्वर्गनरकादीनां फलानामंकुरीभावः कर्मणां वा यागा-दीनां शक्तिरूपतयाऽवस्थानम् । कर्तुर्वा तथा विधभोग्यभोक्तृत्वरूपं सामर्थ्यम् । संस्कारात् स्मृतिः स्मृतेश्च सुखदुःखोपभोगस्तदनुभवाच्च पुनरपि संस्कारस्मृत्यादयः । एवं च यस्य स्मृतिसंस्कारादयो भिन्नास्त-याऽऽनन्तर्य्याभावे दुर्लभः कार्य्यकारणभावः । अस्माकं तु यदाऽनुभव एव संस्कारी भवति संस्कारश्च स्मृतिरूपतया परिणमते तदैकस्यैव चित्तस्यानु-सन्धातृत्वेन स्थितत्वात् कार्य्यकारणभावो न दुर्घटः ॥ ६ ॥

भवत्वानन्तर्य्यं कार्य्यकारणभावश्च वासनानां यदा तु प्रथममेवा-नुभवः प्रवर्तते तदा किं वासनानिमित्त उत निर्निमित्त इति शङ्कां व्यपनेतुमाह —

भो० वृ० का भा०—संसार में अनेक योनियों में भ्रमण करने वाले जीव जब एक योनि को भोग कर दूसरी सहस्रों योनियों में घूम कर फिर उस ही योनि में प्राप्त होते हैं तब जिस योनि को पहले भोगा था उस ही योनि के शरीर के अभाव से उस योनि की वासना कारण के अभाव से छिपी हुई थी फिर जब उसी योनि का शरीर प्राप्त हुवा तो वही वासना फिर प्रकट हो जाती है । जाति, देश और काल का व्यवधान अर्थात् अन्तर होने पर भी अपने अनुभव किये फल साधन से व्यवधान नष्ट हो जाते हैं क्योंकि स्मृति और संस्कार एक ही रूप होते हैं उनके अनुष्ठान से कर्मों के चित्त में वासना रूप संस्कार उत्पन्न होते हैं वह वासना स्वर्ग और नरक आदि फलों का अंकुर रूप है । उस अंकुर में यज्ञादि कर्म शक्तिरूप से रहते हैं अथवा कर्त्ता की भोग्य और भोक्तृ रूप शक्ति भी उस ही वासना में रहती है । वासना से स्मृति उत्पन्न होती है ।

स्मृति से सुख और दुःख का भोग होता है और उनसे फिर संस्कार जिनके मत में स्मृति और संस्कार भिन्न भिन्न हैं उनके मत में प्रवाह के अभाव से स्मृत्यादि में कार्य्य कारण भाव का होना कठिन है। हमारे मत में अनुभव ही संस्कार है और संस्कार ही स्मृतिरूप में परिणत होता है। एक ही चित्त का सब में सम्बन्ध रहता है इस से कार्य्य कारण भाव कठिन नहीं है॥ ६॥

अब यह शंका होती है कि वासनादि का कार्य्य कारण भाव तो ठीक हुआ परन्तु जो प्रथम ही अनुभव (भोग) होता है वह वासना के निमित्त से होता है वा विना निमित्त ? इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं-

तासामनादित्वं चाऽऽशिषो नित्यत्वात् ॥१०॥

सूत्र का पदार्थ—(तासामनादित्वम्) वासना अनादि हैं (आशिषो नित्यत्वात्) क्योंकि आशीर्वाद अर्थात् अपनी कल्याणेच्छा नित्य है ॥ १० ॥

सूत्र का भा०- आशीर्वाद के नित्य होने से वासना अनादि हैं॥१०॥

व्या० दे० कृ० भा० तासां वासनानामाशिषो नित्यत्वादनादित्वम्। येयमात्माशीर्मा न भूवं भूयासमिति सर्वस्य दृश्यते सा न स्वाभाविकी। कस्मात् ? जातमात्रस्य जन्तोरननुभूतमरणधर्म्मकस्य द्वेषदुःखानुस्मृतिनिमित्तो। मरणत्रासः कथं भवेत्। न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते तस्मादनादिवासनानुविद्धमिदं चित्तं निमित्तवशात्काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगायोपावर्तत इति। घटप्रासादप्रदीपकल्पं सङ्कोचविकासि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः। तथा चान्तराभवः संसारश्च युक्त इति। वृत्तिरेवास्य विभुनः सङ्कोचविकासिनीत्याचार्य्यः। तच्च धर्म्मादिनिमित्तापेक्षम्। निमित्तं च द्विविधम्-बाह्यमाध्यात्मिकं च। शरीरादिसाधनापेक्षं बाह्यम् स्तुतिदानाभिवाद-

नादि, चित्तमात्राधीनं श्रद्धाद्याध्यात्मिकं । तथा चोक्तम्-यें चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्तयन्ति। तयोर्मानसं बलीयः । कथं, ज्ञानवैराग्ये केनाऽतिशय्येते, दण्डकारण्यं च चित्तबलव्यतिरेकेण शारीरेण कर्म्मणा शून्यं कः कर्तुमुत्सहेत समुद्रमगस्त्यवद्वा पिबेत् ॥ १० ॥

भा० का प०—आशीर्वाद के नित्य होने से वासना अनादि हैं मैं सर्वदा रहूं मेरा नाश कभी न हो यह जो अपने आत्मा का आशीर्वाद है सब में दीखता है । क्या वह स्वाभाविक नहीं है ? अर्थात् अवश्य ही स्वाभाविक है क्योंकि तत्क्षण ही के उत्पन्न हुये जन्तु को जिसने मरने के दुःख को नहीं भोगा है स्मृति के विना मरने का भय कहाँ से होगा ? स्वाभाविक वस्तु निमित्त का आश्रय नहीं रखती। इससे अनादि वासना से युक्त जो चित्त है, वह कारणवश से किसी २ वासना को पाकर पुरुष को भोग देने वाला होता है । इस रीति से घट और अटारी के दीपक के समान अर्थात् दीपक को यदि घट में रक्खें तो वह घट से बाहर प्रकाश प्रदान नहीं कर सकता और जो दीपक को अटारी के ऊपर रख दो तो वह स्थान भर को प्रकाशित कर देता है । ऐसे ही चित्त सङ्कोच और विकास करता है । शरीर के परिणाम के समान ही वह प्रकाश करता है यह भी किसी का मत है तैसे ही विच्छेद रहित संसार चित्त से व्याप्त है। इससे सिद्ध हुआ, कि चित्त विभु अर्थात् व्यापक है और उसकी शक्ति सङ्कोचविकास को प्राप्त होती है । यह पतञ्जलि आचार्य्य का मत है । चित्त के सङ्कोच और विकास धर्मादि निमित्तों के आधीन हैं। निमित्त दो प्रकार का है—बाह्यनिमित्त और आध्यात्मिक निमित्त । जिसमें शरीरादि बाह्य साधनों की अपेक्षा हो वह बाह्यनिमित्त कहाता है जैसे स्तुति, दान, और वन्दन करना अर्थात् प्रणाम करना आदि और जो केवल चित्त के ही आश्रित हो जैसे श्रद्धा आदि आध्यात्मिक निमित्त कहाते हैं ॥१०॥

भा० का भा० - वासना अनादि हैं क्योंकि मैं सदा रहूं मेरा

विनाश कभी न हो। ऐसे अपने कल्याण की इच्छा प्राणिमात्र को होती है। सो यह इच्छा स्वाभाविक है क्योंकि इस ही क्षण में उत्पन्न हुआ जो जन्तु है उसको भी मरने का भय होता है, यदि उसने मरने का दुःख भोगा नहीं तो उसे भय क्यों हुआ ? उसके भय होने से सिद्ध होता है कि वासना अनादि हैं, उन अनादि वासनाओं से भरे हुये चित्त में किसी निमित्त को पाकर वही वासना पुरुषों के भोग की कारण हो जाती हैं। चित्त दीपक के समान है, उसे प्रकाश करने को जितना अवकाश मिलेगा उतना ही वह प्रकाशित होगा। इससे कोई २ मानते हैं कि चित्त शरीर के अनुसार ही प्रकाश करता है परन्तु उसकी शक्तियों का सङ्कोच और विकास होता है। चित्त के सङ्कोच और विकास का निमित्त धर्मादि हैं। निमित्त वा कारण दो प्रकार के होते हैं—एक बाह्य और दूसरा आध्यात्मिक। जिसमें बाह्य शरीरादि साधनों की आवश्यकता हो वे दान और शिष्टवन्दनादि बाह्य हैं और दूसरा वह है जिसमें केवल चित्तवृत्तियों की ही अपेक्षा हो जैसे श्रद्धादि इन दोनों में से मानसिक बलवान् हैं क्योंकि ज्ञान और वैराग्य से अधिक कोई नहीं है। शारीरिक कर्म से कौन दण्डकारण्य को उजाड़ सकता है और अगस्त्य के समान समुद्र को कौन सुखा सकता है। अभिप्राय यह है कि ज्ञान और वैराग्य से सुख प्राप्त होता है भोग से नहीं ॥ १० ॥

भो० वृ०—तासां वासनानामनादित्वं न विद्यत आदिर्यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तासामादिर्नास्तीत्यर्थः। कुत इत्यत आह—आशिषो नित्यत्वात्। येयमाशीर्महामोहरूपा सदैव सुखसाधनानि मे भूयासुः, मा कदाचन तैर्मेवियोगो भूदिति। यः सङ्कल्पविशेषो वासनानां कारणं तस्य नित्यत्वादनादित्वादित्यर्थः। एतदुक्तम् भवति—कारणस्य सन्निहितत्वादनुभवसंस्कारादीनां कार्य्याणां प्रवृत्तिः केन वार्य्यते. अनुभवसंस्कारानुविद्धम् सङ्कोचविकासधर्मि चित्तं तत्तदभिव्यञ्जकलाभात् तत्तत् फलरूपतया परिणमत इत्यर्थः ॥ १० ॥

तासामानन्त्यात् हानं कथं संभवतीत्याशङ्क्य हानोपायमाह—

भो० वृ० का भा०—वासनाओं के अनादि होने से ऊपर लिखी शंका नहीं हो सकती है । अनादि का अर्थ यह है कि—नहीं है आदि जिसकी । वासना अनादि क्यों है ? इसका उत्तर यह है कि आत्मा सम्बन्धी आशीर्वाद अर्थात् शुभाकांक्षा नित्य है, इस कारण वासना भी नित्य है, यह जो महामोह रूप अशीर्वाद है अर्थात् मुझे सदैव सुख के साधन रहें उनसे मेरा वियोग कभी न हो, यही संकल्प वासना का कारण है । अभिप्राय यह हुआ कि कारण के समीप रहने से अनुभव और संस्कार रूपी कार्य नहीं रुक सकते हैं । अनुभव और संस्कार से युक्त चित्त संस्कारादि के प्रकाशक को पाकर परिणाम को धारण करता है ॥ १० ॥

संकल्प और वासनादि के अनादि और नित्य होने से उनका नाश क्योंकर होगा ? इस शङ्का का समाधान अगले सूत्र में करते हैं—

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

सूत्र का पदार्थ—(हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वात्) कर्मादि के हेतु, फल और आश्रय के आलम्बन द्वारा संगृहीत होने से (एषामभावे) इन हेत्वादि के अभाव में (तदभावः) उसका भी अभाव हो जाता है ॥ ११ ॥

सूत्र का भा०—हेतु, फल और आश्रय के आलम्बन से वासनादि रहती हैं और इनके अभाव से उनका भी अभाव होजाता है ॥११॥

व्या० दे० कृ० भा०—हेतुर्धर्मात् सुखमधर्मात् दुःखं, सुखाद्रागो दुःखाद्द्वेषस्ततश्च प्रयत्नस्तेन मनसा, वाचा, कायेन वा परिस्पन्दमानः परमनुगृह्णात्युपहन्ति वा। ततः पुनर्धर्माधर्मौ सुखदुःखे रागद्वेषाविति प्रवृत्तमिदं षडरं संसारचक्रम् । अस्य च प्रतिक्षणमावर्तमानस्याविद्या नेत्री मूलं सर्वक्लेशानामित्येष हेतुः ।

फलं तु यमाश्रित्य यस्य प्रत्युत्पन्नता धर्मादेः, न ह्यपूर्वोपजनः। मनस्तु साधिकारमाश्रयो वासनानाम्। न ह्यवसिताधिकारे मनसि निराश्रया वासनाः स्थातुमुत्सहन्ते। यदभिमुखीभूतं वस्तु यां वासनां व्यनक्ति तस्यास्तदालम्बनम्। एवं हेतुफलाश्रयालम्बनैरेतैः संगृहीताः सर्वा वासनाः। एषामभावे तत्संश्रयाणामपि वासनानामभावः॥ ११॥ नास्त्यसतः सम्भवः, न चास्ति सतो विनाश इति द्रव्यत्वेन सम्भवन्त्यः कथं निवर्तिष्यन्ते वासना इति—

भा० का प०—हेतु का वर्णन करते हैं—धर्म से सुख और अधर्म से दुःख होता है, सुख से राग होता है और दुःख से द्वेष होता है। राग द्वेष से प्रयत्न, मन से, वचन से वा शरीर से चेष्टा करता है। इस रीति से इन सब के हेतु धर्म और अधर्म हुए। उस अनुग्रह और निग्रह से फिर भी धर्म और अधर्म तथा राग द्वेष होते हैं। इस रीति से छह आरे वाला यह संसारचक्र प्रवर्त्तित है। यह जो प्रतिक्षण संसार चक्र चलता रहता है इसका अविद्या ही मूल है। सर्व क्लेशों का हेतु अविद्या है। फल उसे कहते हैं जिसका आश्रय पाकर जिस धर्मादि की तात्कालिक उत्पत्ति होती है। अपूर्व उत्पत्ति नहीं होती और मन वासनाओं का अधिकार अर्थात् संस्कार सहित आधार है जिस मन में वासना का अधिकार अर्थात् संस्कार नहीं होता उसमें आश्रय सहित वासना भी नहीं रह सकती। जिस गुण वाली वस्तु जिस वासना को प्रकट करती है उस वासना का वही आश्रय वा आधार है। इस रीति से हेतु, फल और आश्रय के आलम्बन से सब वासनायें संगृहीत हैं, हेत्वादिकों के अभाव में उनके आश्रय में रहने वाली वासनाओं का भी अभाव होता है॥११॥

असत् की विद्यमानता कभी नहीं होती और न सत् का कभी अभाव होता है इस से द्रव्यत्व के रूपमें उत्पन्न होने वाली वासनायें कैसे दूर होंगी—

भा० का भा० – सूत्र में लिखे हुये हेतु का अर्थ यह है कि धर्म से सुख, अधर्म से दुःख, सुख से राग, दुःख से द्वेष। इन दोनों से प्रयत्न उत्पन्न होता है। उस प्रयत्न से मानसिक, वाङ्मयी वा शारीरिक क्रिया होती हैं, जिससे अन्य प्राणियों पर कृपा वा प्रहार किया जाता है उस अनुग्रह वा उस निग्रह से पुनरपि धर्म वा अधर्म का प्रादुर्भाव होता है उनसे फिर सुख, दुःख और राग, द्वेष उत्पन्न होते हैं इस रीति से यह संसार चक्र जिसके धर्मादि छः आरे हैं घूमता रहता है परन्तु इस संसारचक्र का मुख्य हेतु अविद्या है। फल उसे कहते हैं जिस के आश्रय से वासना उत्पन्न हों, यदि कोई शंका करे कि वासना मन के आश्रय से उत्पन्न होती हैं तो क्या फल शब्द वाच्य मन है? इस का उत्तर यह है कि जिस मन में जिस प्रकार का वस्तु संस्कार होगा वैसी ही वासना को उत्पन्न करेगा इसलिये हेतु और फल के आश्रय से वासना का प्रदुर्भाव होता है और इन के अभाव से वासनाओं का भी अभाव होता है क्योंकि असत् का होना और सत् का विनाश कभी नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

भो० वृ०—वासनानामनन्तराऽनुभवो हेतुस्तस्याप्यनुभवस्य रागादयस्तेषामविद्येति साक्षात् पारम्पर्येण हेतुः। फलं शरीरादि स्मृत्यादि च। आश्रयो बुद्धिसत्त्वम्। आलम्बनं यदेवानुभवस्य तदेव वासनानामतस्तैर्हेतुफलाश्रयालम्बनैरनन्तानामपि वासनानां संगृहीतत्वात्तेषां हेत्वादीनामभावे ज्ञानयोगाभ्यां दग्धबीजकल्पत्वे विहिते निर्मूलत्वान्न वासनाः प्ररोहन्ति न कार्य्यमारभन्त इति तासामभावः ॥ ११ ॥ ननु प्रतिक्षणं चित्तस्य नश्वरत्वोपलब्धेर्वासनानां तत्फलानां च कार्य्यकारणभावेन युगपद्भावित्वाद्भेदे कथमेकत्वमित्याशङ्क्य एकत्वसमर्थनायाऽऽह—

भो० वृ० का भा०—वासनाओं का हेतु अनुभव है और अनुभव का हेतु रागादिक हैं और रागादि की हेतुभूत अविद्या है और इन के फल शरीरादि वा स्मृति आदि हैं और बुद्धि इनका अधिष्ठान है। जो अनुभव के अधिष्ठान हैं वही वासनाओं के भी हैं इस कारण वासना

अनादि और अनन्त होने पर भी हेतु के अभाव से और योग तथा ज्ञान से उसके हेत्वादि का जब बीज दग्धवत् हो जाता है तब वासना उदय होकर अपने कार्य्य को नहीं कर सकती है इस से वासनाओं का अभाव कहा जाता है ॥ ११ ॥ अब सन्देह यह होता है कि चित्त प्रतिक्षण विनष्ट होता है वासना और वासना के फल जो कार्य्यकारण भाव से एक समय में होने वाले हैं और भिन्न भिन्न हैं तब उनको एक क्योंकर कहा जाता है इस का उत्तर अगले सूत्र में कहते हैं—

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्ध-र्म्माणाम् ॥ १२ ॥

सूत्र का पदार्थ—(अतीतानागतम्) भूत और भविष्य (स्वरूपतोऽस्ति) स्वभाव से है (अध्वभेदाद्धर्म्मा-णाम्) गुणों के मार्ग विभिन्न होने से ॥ १२ ॥

सू० का भा०—तीनों काल गुणों से भिन्न २ हैं ॥ १२ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—भविष्यद्व्यक्तिकमनागतम्, अनुभूत-व्यक्तिकमतीतम्, स्वव्यापारोपारूढं वर्तमानम्, त्रयं चैतद्वस्तु-ज्ञानस्य ज्ञेयम्। यदि चैतत् स्वरूपतो नाभविष्यन्नेदं निर्विषयं ज्ञानमुदपत्स्यत। तस्मादतीतानागतं स्वरूपतोऽस्तीति। किंच भोगभागीयस्य वाऽपवर्गभागीयस्य वा कर्मणः फलमुत्पित्सु यदि निरुपाख्यमिति तदुद्देशेन तेन निमित्तेन कुशलानुष्ठानं न युज्येत। सतश्च फलस्य निमित्तं वर्तमानी करणे समर्थं नापूर्वोपजनने। सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्य विशेषानुग्रहणं कुरुते नापूर्वमुत्पा-दयतीति। धर्मी चानेकधर्मस्वभावस्तस्य चाध्वभेदेन धर्माः प्रत्य-वस्थिताः। न च यथा वर्तमानम् व्यक्तिविशेषापन्नं द्रव्यतोऽस्त्येव-

मतीतमनागतं च । कथं तर्हि स्वेनैव व्यंग्येन स्वरूपेणानागतमस्ति । स्वेन चानुभूतव्यक्तिकेन स्वरूपेणातीतमिति । वर्तमानस्यैवाध्वन: स्वरूपव्यक्तिरिति न सा भवत्यतीतानागतयोरध्वनो । एकस्य चाध्वन: समये द्वावध्वानौ धर्मिसमन्वागतौ भवत एवेति नाभूत्वा भावस्त्रयाणामध्वनामिति ॥ १२ ॥

भा० का प०—भविष्यकाल अनागत कहाता है, जिस काल का अनुभव किया गया है उसे अतीतकाल कहते हैं। जो अपनी क्रिया कर रहा है उसे वर्तमान काल कहते हैं। इन तीनों वस्तुओं के ज्ञान में प्रथम ज्ञेय हैं अर्थात् बिना कालज्ञान के किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता। यदि यथार्थ में यह कुछ न हो तो निर्विषय ज्ञान ही उत्पन्न न हो और भी भोगभाग वाले कर्म अथवा मोक्षभाग वाले कर्म का उत्पन्न होने वाला फल यदि उपाधि रहित है तो उसके उद्देश्य से वा उसकी प्रयोजकता से उत्तम कर्मों का करना भी नहीं हो सकेगा। होने वाले फल का निमित्त उसे वर्तमान करने में समर्थ हो सकता है। इससे सिद्ध हुवा निमित्त नैमित्तिक पर विशेष अनुग्रह करता है। न कि पहले उसे उत्पन्न करता है। धर्मी अर्थात् गुणी अनेक गुण वाला होता है मार्ग भेद से गुण स्थिर होते हैं न कि जैसे द्रव्य रूप से व्यक्तित्व को प्राप्त हुवा है, ऐसे ही भूत और भविष्य भी होते हैं, तब किस रीति से भूत और भविष्य का व्यक्तित्व जाना जाता है। अपने व्यङ्ग रूप से भविष्यत् और अनुभूत रूपसे भूतकाल है वर्तमान मार्ग के ही स्वरूप की व्यक्ति होती है अनागत और भूत की नहीं। वह प्रकाश एक काल के मार्ग में दो अन्य मार्गों का नहीं हो सकता है परन्तु गुणी के सम्बन्ध से तो हो सकता है किन्तु तीनों कर्मों का अभाव नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

भा० का भा०—भविष्यत्, भूत और वर्तमान ये तीनों काल वास्तव में भिन्न २ हैं और ज्ञानादि में बड़े सहायक हैं यदि ये न हों तो

किसी वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान न हो। एवं भोगभागीय अथवा मोक्ष-भागीय कर्म का फल संशयरहित जो उत्पन्न होने वाला है उसके उद्देश्य से अथवा उसके निमित्त से कोई भी शुभ कर्म का प्रारम्भ न करे अतएव गुणी एक काल होने पर भी उसके गुणों के मार्ग भिन्न २ हैं ॥ १२ ॥

भो० वृ०—इहात्यन्तमसतां भावानामुत्पत्तिर्न युक्तिमती तेषां सत्त्व-सम्बन्धायोगात्। न हि शशविषाणादीनां क्वचिदपि सत्त्वसम्बन्धो दृष्टः। निरुपाख्ये च कार्ये किमुद्दिश्य कारणानि प्रवर्तेरन्। नहि विषयमनालोच्य कश्चित् प्रवर्तते। सतामपि विरोधान्नाभावसम्बन्धोऽस्ति यत्स्वरूपेण-लब्धसत्ताकं तत्कथं निरुपाख्यतामभावरूपतां वा भजते न विरुद्धम् रूपम् स्वीकरोतीत्यर्थः। तस्मात्सतांभावासम्भवादसतां चोत्पत्त्यसम्भवात्तैस्तैर्धर्मै-र्विपरिणममानो धर्म्मी सदैवैकरूपतयावतिष्ठते। धर्मास्तु त्र्यधिकत्वेन त्रैका-लिकत्वेन व्यवस्थिताः स्वस्मिन् स्वस्मिन्नध्वनि व्यवस्थिता न स्वरूपं त्यजन्ति। वर्त्तमानेऽध्वनि व्यवस्थिताः केवलं भोग्यतां भजन्ते। तस्माद्धर्माणामेवाती-तानागताद्यध्वभेदात्तेनैवरूपेण कार्यकारणभावोऽस्मिन् दर्शने प्रतिपाद्यते। तस्मादपवर्गपर्यन्तमेकमेव चित्तं धर्मितयाऽनुवर्तमानं न निन्होतुं पार्यते ॥१२॥

त एते धर्मधर्मिणः किं रूपा इत्याह—

भो० वृ० का भा०—संसार में अत्यन्त असत् भावों की उत्पत्ति युक्त नहीं है क्योंकि असत् वस्तुओं का बुद्धि के साथ सम्बन्ध नहीं होता। खरहे से सींगों का सम्बन्ध कहीं भी नहीं देखते। जो असत् कार्य्य हैं उनमें कारण की प्रवृत्ति ही नहीं होती है कोई भी बुद्धिमान् असत के विचार में प्रवृत्त नहीं होता आर जो सत् पदार्थ हैं उनका अभाव के साथ सम्बन्ध नहीं होता। जिस रूपका भाव है, वह अभाव को क्योंकर प्राप्त हो सकता है अर्थात् विरुद्ध धर्म को कोई धारण नहीं कर सकता है। इस कारण सत् के अभाव न होने से और असत् की उत्पत्ति न होने से धर्म्मी अनेक अवस्थाओं में परिणत होने से भी सत् स्वरूप रहता है। उस सत्रूप धर्मी में धर्म तीन काल के मार्ग से रहता

है। वे काल भी अपने रूपको त्यागन नहीं करते हैं-जैसे वर्तमान मार्ग में स्थित वासना और कर्म्मादि केवल भोग्यभाव में स्थित रहते हैं इस कारण भूत और भविष्य आदि भेद से कार्य्यकारण भाव को धारण करता है। अब यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष पर्य्यन्त भी धर्मी रूप से चित्त एक ही रहता है बदलता नहीं ॥ १२ ॥

आगे धर्म और धर्मी के स्वरूप को कहते हैं—

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

सूत्र का पदार्थ—(ते) वे तीनों मार्ग (व्यक्तसूक्ष्माः) व्यक्त और सूक्ष्म (गुणात्मानः) गुणवाले हैं ॥ १३ ॥

सू० का भा०—उक्त तीनों मार्ग प्रकट और सूक्ष्म गुण वाले हैं ॥१३॥

व्या० दे० कृ० भा०—ते खल्वमी त्र्यध्वानो धर्मा वर्तमाना व्यक्तात्मानोऽतीतानागताः सूक्ष्मात्मानः षड्विशेषरूपाः। सर्वमिदं गुणानां सन्निवेशविशेषमात्रमिति परमार्थतो गुणात्मानः। तथाच शास्त्रानुशासनम्—

"गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तम् तन्मायेव सुतुच्छकम्" इति॥१३॥

यदा तु सर्वे गुणाः कथमेकः शब्द एकमिन्द्रियमिति—

भा० का प०—पूर्वसूत्र में कहे तीनों मार्ग वाले धर्मों में वर्तमान प्रकट रूपवाले होते हैं भूत और भविष्यत् सूक्ष्मरूप वाले होते हैं यह छहों के रूप में समानता है यह सब गुणों के सद्भाव से ही भिन्नता है। यथार्थ में तो गुण रूप ही है। ऐसी ही अन्य शास्त्रों की भी आज्ञा है। गुणों का यथार्थ रूप नेत्रों से नहीं दीखता है और जो नेत्रों से दीखता है वह सब माया है ॥ १३ ॥

यदि वे सब गुण ही हैं तो किस प्रकार से यह कहा जाता है कि एक ही शब्द है और एक ही इन्द्रिय है—

भा० का भा०—पूर्वसूत्र में कहे जो गुणों के तीन मार्ग हैं उनमें से वर्तमान मार्ग तो प्रकट रहता है और भूत तथा भविष्यत् मार्ग सूक्ष्म रूपसे रहते हैं। अन्य शास्त्रों में भी कहा है कि गुणों का यथार्थ रूप दृष्टिगत नहीं होता और जो इन्द्रियों से देखा जाता है वह सब माया है ॥१३॥

भो० वृ०—य एते धर्मधर्मिणः प्रोक्तास्ते व्यक्तसूक्ष्मभेदेन व्यवस्थिता गुणाः सत्त्वरजस्तमोरूपास्तदात्मानस्तत् स्वभावास्तत्परिणामरूपा इत्यर्थः। यतः सत्त्वरजस्तमोभिः सुखदुःखमोहरूपैः सर्वासां बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नानां भावव्यक्तीनामन्वयानुगमो दृश्यते। यद्यदन्वयि तत्तत्परिणामिरूपं दृष्टं यथा घटादयो मृदन्विता मृत्परिणामरूपाः ॥ १३ ॥ यद्येते त्रयो गुणाः सर्वत्र मूलकारणं कथमेको धर्मीति व्यपदेश इत्याशङ्क्याऽऽह—

भो० वृ० का भा०—यह जो धर्म धर्म्मी पूर्व कहे वे प्रत्यक्ष और सूक्ष्म रूप से सत्त्व, रज और तमोगुण रूप से उनके ही परिणाम और उनके ही स्वभाव वाले होते हैं क्योंकि सत्त्व, रज और तमोगुण से ही वे सब भाव जो कि बाह्य और आभ्यन्तर भेदों से प्रकट होते हैं भाव रूप दिखाई देते हैं जो जो जिसका अनुगामी वा सम्बन्धी होता है वह उसका ही परिणाम होता है जैसे घट मट्टी का अन्वित वा सम्बन्धी होता है इस कारण मिट्टी का ही परिणाम है ॥१३॥ अब शङ्का यही होती है कि यदि यह तीनों गुण सर्वत्र कारण हैं तो धर्मी एक क्योंकर होसकता है। इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं—

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

सूत्र का प०—(परिणामैकत्वात्) परिणाम की एकता से (वस्तुतत्त्वम्) वस्तुओं का तत्व जाना जाता है ॥१४॥

सूत्र का भा०—परिणाम के अनुसार वस्तुओं का तत्व विदित होता है ॥ १४ ॥

व्यास दे० कृ० भा०—प्रख्याक्रियास्थितिशीलानां गुणानां ग्रहणात्मकानां करणभावेनैकः परिणामः श्रोत्रमिन्द्रियं ग्राह्यात्मकानां शब्दभावेनैकः परिणामः शब्दो विषय इति । शब्दादीनां मूर्त्तिसमानजातीयानामेकः परिणामः पृथिवीपरमाणुस्तन्मात्रावयवस्तेषां चैकःपरिणामः पृथिवी गौर्वृक्षः पर्वत इत्येवमादिर्भूतान्तरेष्वपि स्नेहौष्ण्यपरिणामित्वावकाशदानान्युपादाय सामान्यमेकविकारारम्भः समाधेयः। नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचरः, अस्ति तु ज्ञानमर्थविसहचरं स्वप्नादौ कल्पितमित्यनया दिशा ये वस्तुस्वरूपमपह्नुवते ज्ञानपरिकल्पनामात्रं वस्तु स्वप्नविषयोपमं न परमार्थतोऽस्तीति य आहुस्ते तथेति प्रत्युपस्थितमिदं स्वमाहात्म्येन वस्तु कथमप्रमाणात्मकेन विकल्पज्ञानबलेन वस्तुस्वरूपमुत्सृज्य तदेवापलपन्तः श्रद्धेयवचनाः स्युः ॥ १४ ॥ कुतश्चैतदन्याय्यम्—

भा० का प०—प्रख्या अर्थात् प्रकाशशील, क्रियाशील और स्थितिशील ग्रहणात्मक गुणोंका कारण भाव से एक ही परिणाम श्रोत्र इन्द्रिय है, और जो ग्रहण किये जाने वाले विषय हैं, उनका भी तन्मात्र भाव से एक ही शब्द परिणाम है। शब्दादिकों का भी एक ही परिणाम परमाणु रूप है और उन परमाणुओं का परिणाम पृथिवी, गौ, वृक्ष और पर्वत आदि हैं। स्नेह और उष्णता आदि अन्य भूतों के परिणाम भी अवकाश पाकर एक विकार को आरम्भ करते हैं। कोई भी अर्थ विज्ञान के बिना चरितार्थ होने वाला नहीं है। किन्तु ज्ञान अर्थ के बिना होता है। जो स्वप्नादि में ज्ञान के बिना अर्थ होता है, वह केवल कल्पनामात्र है, वास्तव में कुछ नहीं। इस रीति से जो लोग वस्तु के स्वरूप का अपलाप करते हैं और कहते हैं कि ज्ञान कल्पनामात्र है वस्तु स्वप्न के समान होती हैं यथार्थ में कुछ नहीं हैं उनका कथन ठीक नहीं ॥ १४ ॥

भा० का भा०—प्रख्या, क्रिया और स्थितिशील जो ग्रहणात्मक गुण हैं, उनका कारण रूप एक परिणाम. ग्राह्यात्मक दूसरा परिणाम, इन्द्रिय विषयरूप तीसरा परिणाम, पृथ्वी, परमाणु, तन्मात्रा और अवयव रूप चौथा परिणाम, और पृथ्वी, गौ, वृक्षादि अन्य तत्त्वों के संयोग से पञ्चम परिणाम होता है। इन सब परिणामों से एक विकार आरम्भ होता है ॥ १४ ॥

भोज वृत्ति—यद्यपि त्रयो गुणास्तथाऽपि तेषामङ्गाङ्गिभावगमन-लक्षणो यः परिणामः क्वचित् सत्त्वमङ्गि क्वचिद्रजः क्वचिच्च तम इत्येवं रूपस्तस्यैकत्वाद्वस्तुतत्त्वमुच्यते। यथेयं पृथिवी अयं वायुरित्येवमादि ॥१४॥

ननु च ज्ञानव्यतिरिक्ते सत्यर्थे वस्त्वेकमनेकं वा वक्तुं युज्यते। यदा विज्ञानमेव वासनावशात् कार्य्यकारणभावेनावस्थितं तथा तथा प्रतिभाति तदा कथमेतच्छक्यते वक्तुमित्याशङ्क्याऽऽह—

भो० वृ० का भा०—यद्यपि गुण तीन हैं; तब भी वह अङ्गाङ्गि भाव जो एक परिणाम को धारण करने अर्थात् कभी सत्त्वगुण अङ्गी और दूसरे गुण उसके अङ्ग होजाते हैं। कहीं रजोगुण और कहीं तमोगुण अङ्गी होजाता है इस प्रकार से अङ्गी गुण की एकता को समझ के धर्मी भी एक कहा जाता है जैसे पृथिवी में और तत्त्वों के भी परमाणु मिले हैं तो भी वह एक पृथ्वी कहाती है। ऐसेही वायु आदि में भी एकता का व्यवहार होता है ॥ १४ ॥

यह सन्देह होजाता है कि ज्ञान से भिन्न जो वस्तु हो उसमें एकता व अनेकता कही जासकती है; परन्तु जब विज्ञान ही वासना के द्वारा कार्य्यकारण भाव से प्रतीत होता है तब एकता वा अनेकता क्योंकर कही जासकती है? इसका उत्तर अगले सूत्र में कहते हैं—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥१५॥

सूत्र का प०—(वस्तुसाम्ये) वस्तु की एकता में (चित्तभेदात्) चित्त के भेद से (तयोर्विभक्तः पन्थाः) धर्म्म और धर्मी का मार्ग भिन्न है ॥ १५ ॥

सू० का भा०-वस्तु की एकता होने पर भी चित्त भेद से उनका मार्ग भिन्न है ॥ १५ ॥

व्या० दे० कृत भा० बहुचित्तावलम्बनीभूतमेकं वस्तु साधारणं, तत्खलु नैकचित्तपरिकल्पितं नाप्यनेकचित्तपरिकल्पितं किन्तु स्वप्रतिष्ठम्। कथं, वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्। धर्मापेक्षं चित्तस्य वस्तुसाम्येऽपि सुखज्ञानं भवत्यधर्मापेक्षं तत एव दुःखज्ञानमविद्यापेक्षं तत एव मूढज्ञानं सम्यग्दर्शनापेक्षं तत एव माध्यस्थ्यज्ञानमिति। कस्य तच्चित्तेन परिकल्पितम्। न चान्यचित्तपरिकल्पितेनार्थेनान्यस्य चित्तोपरागो युक्तः। तस्माद्वस्तुज्ञानयोर्ग्राह्यग्रहणभेदभिन्नयोर्विभक्तः पन्थाः। नानयोः संकरगन्धोऽप्यस्तीति। सांख्यपक्षे पुनर्वस्तु त्रिगुणं चलं च गुणवृत्तमिति। धर्मादिनिमित्तापेक्षं चित्तैरभिसंबध्यते। निमित्तानुरूपस्य च प्रत्ययस्योत्पद्यमानस्य तेन तेनाऽऽत्मना हेतुर्भवति। केचिदाहुः-ज्ञानसहभूरेवार्थो भोग्यत्वात् सुखादिवदिति। त एतया द्वारा साधारणत्वं बाधमानाः पूर्वोत्तरेषु क्षणेषु वस्तुरूपमेवापह्नुवते॥ १५ ॥

भा० का प०-अनेक चित्तों से आलम्बनीभूत एक वस्तु साधारण अर्थात् सामान्य है। वह वस्तु एक चित्त के द्वारा कल्पित नहीं हुई है। न अनेक चित्तों के कल्पना करने के योग्य है किन्तु यह वस्तु स्वप्रतिष्ठ अर्थात् अपरिणामी वा कल्पनारहित है क्योंकि ज्ञेयवस्तु की एकता होने पर भी चित्त भेदसे। उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे धर्म्म के कारण से वस्तु की एकता में भी चित्त को सुख ज्ञान होता है अधर्म्म से उसही चित्त को दुःख ज्ञान होता है, अविद्या के संस्कार से उसही चित्त को

मूढ़ ज्ञान होता है और सम्यग्दर्शन से उसही चित्त को मध्यस्थ ज्ञान होता है। यह सब ज्ञान किसको होते हैं ? उसही एक चित्त से परिकल्पित हैं क्योंकि दूसरे चित्त के कल्पित अर्थों से दूसरा चित्त उपरक्त नहीं होसकता इस हेतु से वस्तु अर्थात् ज्ञेय पदार्थ और ज्ञानका मार्ग भिन्न २ है, इन दोनों में मिलावट का लेश भी नहीं है। फिर सांख्य के पक्ष में वस्तु त्रिगुण है और गुण चंचलवृत्ति वाले हैं इसलिये धर्मादि निमित्त से चित्त के संग सम्बन्ध रखते हैं धर्म्मादि निमित्त के अनुकूल ही उत्पन्न हुआ जो ज्ञान वह जिस आत्मा को हुआ है उस ही आत्मा के ज्ञान का हेतु है। कोई २ कहते हैं कि वस्तु का इन्द्रियार्थ भी ज्ञान के संग ही उत्पन्न होता है क्योंकि ज्ञेय के विना ज्ञान का होना असम्भव है जैसे सुख अर्थात् जब सुख की सामग्री वा सुख ही न होगा तो सुखज्ञान कैसे होगा ॥१५॥

भा० का भा०—बहुत लोग कहा करते हैं कि वाह्य वस्तु कुछ नहीं है किन्तु अन्तःकरणस्थ विज्ञान ही सब कुछ है क्योंकि यदि वाह्य वस्तु भी कुछ हो तो दोनों में अभेद हो जायगा। इसका उत्तर यह है कि जो वस्तु अनेक चित्तों के द्वारा कल्पित नहीं है किन्तु ज्ञेयवत् धर्म्मयुक्त साधारण वस्तु है क्योंकि एक चित्त में निमित्तानुसार अनेक ज्ञान होते हैं जैसे धर्म्म से सुख ज्ञान, अधर्म्म से दुःख ज्ञान, अविद्या से मूढ़ ज्ञान और सम्यग्दर्शन से मध्यस्थ ज्ञान एक ही चित्त में होता है। यदि ज्ञानभेद होता तो एक चित्त में अनेक ज्ञान न होते और एक मनुष्य के ज्ञान का दूसरे के चित्त में आरोप होना भी असम्भव है। इसलिये वस्तु अर्थात् ज्ञेय और ज्ञान का अत्यन्त भेद है इन दोनों में एकता की गन्ध भी नहीं है। सांख्य के मत में वस्तु त्रिगुणात्मक है और गुण चंचलवृत्ति वाले हैं। वे धर्मादि रूप से ज्ञान के हेतु होकर चित्त से सम्बन्ध रखते हैं एवं जैसा निमित्त होता है वैसा ही ज्ञान उत्पन्न होकर आत्मा से संयुक्त होता है। किन्हीं २ लोगों का यह भी मत है कि ज्ञान के संग ही इन्द्रियों के विषय भी उत्पन्न होते हैं क्योंकि बिना विषयों के ज्ञान किसी रीति से नहीं

हो सकता है । जैसे-सुख वा दुःख विना ज्ञान के नहीं हो सकते और बिना सुख दुःख के ज्ञान किस का होगा ॥ १५ ॥

भो० वृ०—तयोर्ज्ञानार्थयोर्विविक्तः पन्था. विविक्तो मार्ग इति यावत् । कथं वस्तुसाम्ये चित्तभेदात् । समाने वस्तुनि स्त्र्यादावुपलभ्यमाने लावण्यादौ नानाप्रमातृणां चित्तस्य भेदः सुखदुःखमोहरूपतया समुपलभ्यते । तथाहि—एकस्यां रूपलावण्यवत्यां योषिति उपलभ्यमानायां सरागस्य सुखमुत्पद्यते सपत्न्यास्तु द्वेषः परिव्राजकादेर्घृणेत्येकस्मिन् वस्तुनि नानाविधचित्तोदयात् कथं चित्तकार्य्यत्वं वस्तुन एकचित्तकार्य्यत्वे वस्त्वेकरूपतयैवावभासेत् । किञ्च चित्तकार्यत्वे वस्तुनो यदीयस्य चित्तस्य तद्वस्तु कार्य्यं तस्मिन्नर्थान्तरव्यासक्ते ऽतद्वस्तु न किञ्चित्स्यात् । भवत्विति चेन्न तदेव कथमन्यैर्बहुभिरुपलभ्येत, उपलभ्यते च । तस्मान्न चित्तकार्य्यम् । अथ युगपद्बहुभिः सोऽर्थः क्रियते । तदा बहुभिर्निर्मितस्यार्थस्यैकनिर्मिताद्वैलक्षण्यं स्यात् । यदा तु वैलक्षण्यं नेष्यते तदा कारणभेदे सति कार्यभेदस्याभावे निर्हेतुकमेकरूपं वा जगत् स्यात् । एतदुक्तम् भवति-सत्यपि भिन्ने कारणे यदि कार्यस्याभेदस्तदा समग्रं जगत् नानाविधकारणजन्यमेकरूपं स्यात् । कारणभेदाननुगमात् स्वातन्त्र्येण निर्हेतुकं वा स्यात् । यद्येवं कथं तेन त्रिगुणात्मना चित्तेनैकस्यैव प्रमातुः सुखदुःखमोहमयानि ज्ञानानि न जन्यन्ते । मैवम् । यथाऽर्थस्त्रिगुणस्तथा चित्तमपि त्रिगुणं तस्यचार्थप्रतिभासोत्पत्तौ धर्मादयः सहकारिकारणं तदुद्भवाभिभववशात् कदाचिच्चित्तस्य तेन तेन रूपेणाभिव्यक्तिः । तथा च कामुकस्य सन्निहितायां योषिति धर्मसहकृतं चित्तं सत्त्वस्याङ्गितया परिणममानं सुखमयं भवति । तदेवाधर्मसहकारि रजसोऽङ्गितया दुःखरूपं सपत्नीमात्रस्य भवति । तीव्राधर्मसहकारितया परिणममानं तमसोऽङ्गित्वेन कोपनायाः सपत्न्या मोहमयं भवति । तस्माद्विज्ञानव्यतिरेकेणास्ति बाह्योऽर्थः । तदेवं न विज्ञानार्थयोस्तादात्म्यं विरोधान्न कार्य्यकारणभावः । कारणाभेदे सत्यपि कार्यभेदप्रसङ्गादिति ज्ञानाद्व्यतिरिक्तत्वमर्थस्य व्यवस्थापितम् ॥ १५ ॥

यद्येवं ज्ञानंचेत् प्रकाशकत्वाद्ग्रहणस्वभावमर्थश्च प्रकाश्यत्वाद् ग्राह्यस्वभावस्तत्कथं युगपत् सर्वानर्थान्न गृह्णाति न स्मरति चेत्याशङ्क्य परिहर्त्तुमाऽऽह—

भो० वृ० का भा०—उन दोनों धर्म और धर्मी के ज्ञानों का मार्ग भिन्न २ है क्योंकि वस्तु में एकता होने पर भी चित्तभेद होने से वह भेद भान होता है जैसे एक ही स्त्री आदि वस्तुमें प्रमाता अर्थात् देखने वालों के चित्तभेद से सुख वा दुःख रूप फल भी जुदे जुदे होते हैं कि रूप और लावण्ययुक्त स्त्री तो एक ही होती है; परन्तु जो पुरुष उससे प्रीति रखता है उसको वही रूपादि सुखदायक होते हैं। वही स्त्री सौत का दुःख देन वाली और संन्यासी को घृणा उत्पन्न कराने वाली होती है। समझना चाहिये कि एक ही स्त्री में प्रमाताओं के चित्तभेद से इतने भेद होजाते हैं इसही प्रकार से समझना चाहिये कि उस एक वस्तु में नानात्व कार्य्य-भेद से प्रतीत होता है ऐसे ही जगत् में विलक्षणता है। यदि कार्य्यभेद न माना जाय तो जगत् में विलक्षणता भी न हो। यदि चित्तभेद न माना जायगा तो जगत् हेतुरहित होगा। यदि यही बात हो तो सत्त्व, रजस् और तमोगुण एक ही चित्त के आधार से सुख दुःख और मोह को क्योंकर उत्पन्न करें ? ऐसा न कहना चाहिये, क्योंकि जैसे विषय त्रिगुणात्मक हैं ऐसे ही चित्त भी त्रिगुणात्मक है उसको जो पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञान के धर्मादिक सहायकारी कारण हैं उस धर्म के प्रादुर्भाव (प्रकाशित होना) और तिरोभाव (लुप्त होना) में चित्त भी उस धर्म के रूप में भान होने लगता है। जैसे कामी पुरुष के समीप जब स्त्री वर्त्तमान रहती है तब कामधर्म में परिणत हुआ उसका चित्त सुखरूप प्रतीत होता है वही चित्त अधर्म का जब सहकारी होता है तब तमोगुण अङ्गी अर्थात् प्रधान होता है। जब क्रोधवती सौतिन को मोह उत्पन्न होता है। इससे सिद्ध हुआ कि विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ का रूप है इस रीति से विज्ञान और विषय में भेद रहने से कार्य्यकारण भाव

नहीं है कारण से भेद रहने पर अव्यवस्था दोष होगा । इसलिये विषय ज्ञान से भिन्न है यह सिद्ध हुआ ॥ १५ ॥

अब सन्देह यह होता है कि यदि ज्ञान प्रकाशक होने से ग्रहण-स्वभाव है और विषय ग्राह्य स्वभाव है तो एकही समय सब विषयों को क्यों नहीं ग्रहण करता है अथवा सब विषयों का स्मरण क्यों नहीं होता है ?

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

सूत्र का पदार्थ—(न च, एकचित्ततन्त्रं, वस्तु) एक चित्त के अधीन वस्तु नहीं है (तद् अप्रमाणकं, तदा, किं स्यात्) वह प्रमाण न हो तब क्या हो ? ॥ १६ ॥

सू० का भा०—यथार्थ ज्ञान एक चित्त के आधीन नहीं है। यदि ऐसा हो तो चित्त की अस्वस्थता में फिर क्या हो ? ॥ १६ ॥

व्या० दे० कृत भा०—एकचित्ततन्त्रं चेद्वस्तु स्यात्तदा चित्ते व्यग्रे निरुद्धे वाऽस्वरूपमेव तेनापरामृष्टमन्यस्याविषयीभूतमप्रमाणकमगृहीतस्वभावकं केनचित्तदानीं किं तत्स्यात् । सम्बध्यमानं च पुनश्चित्तेन कुत उत्पद्येत । ये चास्यानुपस्थिता भागास्ते चास्य न स्युरेवं नास्ति पृष्ठमित्युदरमपि न गृह्येत । तस्मात्स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रति पुरुषं प्रवर्तन्ते । तयोः सम्बन्धादुपलब्धिः पुरुषस्य भोग इति ॥ १६ ॥

भा० का भा०—यदि वस्तु (यथार्थज्ञान) एक चित्त के अधीन हो तो चित्त के व्यग्र या निरुद्ध होने पर उसके स्वरूप का निश्चय कैसे हो ? और फिर चित्त से सम्बन्ध होने पर उसकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी। तथा जो उसके भाग अनुपस्थित होंगे उनके न होने से उपस्थितों का भी

त्याग करना पड़ेगा अर्थात् पृष्ठ नहीं है तो उदर का भी ग्रहण न होगा। इसलिये स्वतन्त्र ही प्रत्येक अर्थ है और स्वतन्त्र ही प्रत्येक पुरुष के चित्त हैं। उनके परस्पर सम्बन्ध से ही भोग की उपलब्धि होती है ॥ १६ ॥

इस सूत्र पर भोजवृत्ति नहीं है, इसलिए केवल भाष्य ही दिया गया है ॥ १६ ॥

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तुज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

सूत्र का प०—(तदुपरागापेक्षित्वात्) ज्ञेय वस्तुके प्रतिबिम्बित होने से (चित्तस्य) चित्त को (वस्तुज्ञाताज्ञातम्) वस्तु का ज्ञान और अज्ञान रहता है ॥ १७ ॥

सू० का भा०—ज्ञेय वस्तु का जब चित्त में प्रतिबिम्ब पड़ता है, उस समय चित्त को उसका ज्ञान होता है और जब प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता जब चित्त को उस वस्तु का अज्ञान रहता है ॥ १७ ॥

व्या० दे० कृत भा०—अयस्कान्तमणिकल्पा विषया अयः-सधर्मकं चित्तमभिसम्बन्ध्योपरञ्जयन्ति। येन च विषयेणोपरक्तम् चित्तं सविषयो ज्ञातस्ततोऽन्यः पुनरज्ञातः। वस्तुनो ज्ञाताज्ञात-स्वरूपत्वात्परिणामि चित्तम् ॥ १७ ॥ यस्य तु तदेव चित्तं विषयस्तस्य—

भा० का प०—विषय अर्थात् ज्ञेय पदार्थ चुम्बक पत्थर के समान होते हैं और लोहे के समान चित्त है। संयुक्त होकर विषय चित्त पर प्रतिबिम्ब डालते हैं। उस प्रतिबिम्ब से चित्रित होकर चित्त जिस विषय में अनुरक्त होता है उस विषय को जानता है उस से भिन्न विषय अज्ञात रहते हैं। ज्ञेय वस्तु के ज्ञात अज्ञात रूप होने से चित्त परिणामी अर्थात् अस्थिर वृत्ति वाला सिद्ध हुआ ॥ १७ ॥

जिसका वही चित्त विषय है उसका तो—

भा० का भा०—विषय अर्थात् ज्ञेय पदार्थ चुम्बक पत्थर के समान और चित्त लोहे के समान है उन दोनों का जहां संयोग होता है वहां विषय चित्त को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। यद्वा जिस विषय से चित्तका संयोग होता है उसही का फोटो चित्त पर खिंच जाता है और जिसका फोटो चित्त पर खिचता है उसही का चित्त को ज्ञान होता है और अन्य विषय अज्ञात रहते हैं। इस से यह सिद्ध हुआ कि चित्त का स्वभाव अस्थिर है ॥ १७ ॥

भो० वृ०—तस्यार्थस्योपरागादाकारसमर्पणात् चित्ते बाह्यं वस्तु ज्ञातमज्ञातञ्च भवति। अयमर्थः—सर्वः पदार्थ आत्मलाभे सामग्रीमपेक्षते। नीलादिज्ञानञ्चोपजायमानमिन्द्रियप्रणालिकया. समागतमर्थोपरागं सह-कारिकारणत्वेनापेक्षते। व्यतिरिक्तस्यार्थस्य सम्बन्धाभावाद् ग्रहीतुमशक्य-त्वात्। ततश्च येनैवार्थेनास्य ज्ञानस्य स्वरूपोपरागः कृतस्तमेवार्थं तज्ज्ञानं व्यवहारयोग्यतां जनयति। ततश्च सोऽर्थो ज्ञात इत्युच्यते। येन चाऽऽकारो न समर्पितः स न ज्ञातत्वेन व्यवह्रियते। यस्मिश्चानुभूतेऽर्थे सादृश्यादिरर्थः संस्कारमुद्बोधयन् सहकारितां प्रतिपद्यते तस्मिन्नेवार्थे स्मृतिरुपजायत इति न सर्वत्र ज्ञानं नापि सर्वत्र स्मृतिरिति न कश्चिद्विरोधः ॥ १७ ॥

यद्येवं प्रमाताऽपि पुरुषो यस्मिन् काले नीलं वेदयते न तस्मिन् काले पीतादिमतश्चित्तसत्त्वस्यापि कादाचित्कत्वं ग्रहीतृरूपत्वादाकारग्रहणे परिणा-मित्वं प्राप्तमित्याशङ्कां परिहर्त्तुमाह—

भो० वृ० का भा०—उस विषय के उपराग अर्थात् रङ्ग का चित्त में जो फोटो या आकार खिंचता है उस विषय का ज्ञान वा अज्ञान होता है अभिप्राय यह है कि सब पदार्थों को ग्रहण करने में चित्त सामग्री की अपेक्षा रखता है। इन्द्रियों के द्वारा जो नील आदि वर्णों का ज्ञान होता है वह पदार्थ की सहकारिता की अपेक्षा रखता है अर्थात् रङ्गों का

ज्ञान अकेला नहीं होता क्योंकि बिना साथी पदार्थ के जाने किसी रङ्गका ज्ञान नहीं हो सकता है तब जिस पदार्थ के रूप को रङ्ग ने छिपाया है, उस पदार्थ का यथार्थज्ञान ही उस रङ्ग के ज्ञान का कारण होता है जब पदार्थ के सम्पूर्ण विषयों का ज्ञान हो जाता है तब कहा जाता है कि यह पदार्थ ज्ञात हुआ। जो पदार्थ बिलकुल अपने अवयवों को ज्ञान द्वारा ज्ञाता को अर्पित नहीं करता है वह पदार्थ ज्ञात नहीं कहा जाता है, जिस अनुभव किये पदार्थ में सादृश्य आदि विषय अनुभव के संस्कार को प्रकाशित करने में सहायक हों उस ही विषय की स्मृति उत्पन्न होती है। इस कारण सब पदार्थों में मनुष्य का ज्ञान भी नहीं हो सकता है और न सब पदार्थों की एक काल में स्मृति होती है ॥ १७ ॥

अब शङ्का यह होती है कि प्रमाता पुरुष जिस समय में नील रूप को जानता है उस ही काल में पीत रङ्ग की छाया वाले चित्त में गृहीत रूप होने से आकारग्रहण में परिणामित्व दोष आवेगा ? इस शङ्का का समाधान अगले सूत्र में कहेंगे—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुष-स्यापरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

सूत्र का प०—(सदा) सब काल में (ज्ञाताश्चित्त-वृत्तयः) चित्त की वृत्तियां ज्ञात रहती हैं (तत्प्रभोः) (पुरुष-स्यापरिणामित्वात्) वृत्तियों के स्वामी पुरुष के परिणाम-रहित होने से ॥ १८ ॥

सू० का भा०—वृत्ति का स्वामी पुरुष अर्थात् जीव अपरिणामी है अतएव उसे वृत्तियां सदा ज्ञात रहती हैं ॥ १८ ॥

व्या० दे० कृत भा०—यदि चित्तवत्प्रभुरपि पुरुषः परिणामे-

स्ततस्तद्विषयाश्चित्तवृत्तयः शब्दादिविषयवज्ज्ञाताज्ञाताः स्युः । सदाज्ञातत्वं तु मनसस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वमनुमापयति ॥१८॥

स्यादाशङ्का चित्तमेव स्वाभासं विषयाभासञ्च वैशेषिकाणां चित्तात्मवादिनां च भविष्यत्यग्निवत्—

भा० का प०—यदि चित्त के समान चित्त का स्वामी पुरुष भी परिणाम को प्राप्त हो तो उसकी ज्ञेय वृत्ति भी ज्ञात और अज्ञात होंगी जो मन सदा वृत्तियों को जानता है इससे जीव का परिणाम-रहितपन सिद्ध होता है ॥ १८ ॥

आशङ्का हो सकती है कि चित्त ही स्वप्रकाशरूप है और विषय का आभास वही है। वैशेषिक और योग वाले जो चित्त को आत्मा मानते हैं उनके मत में चित्त ही स्वाभास रूप हो सकता है-

भा० का भा०—जो जीव भी परिणामी हो तो उसकी वृत्ति ज्ञाताज्ञात हो सकती है, जब कि 'मन सब वृत्तियों को जानता है इस ही से सिद्ध होता है कि आत्मा परिणामरहित है; परन्तु इसमें यह शङ्का हो सकती है कि चित्त ही स्वाभास रूप है ॥ १८ ॥

भोज वृत्ति—या एताश्चित्तस्य प्रमाणविपर्य्ययादिरूपा वृत्तयस्तास्तत्प्रभोश्चित्तस्य ग्रहीतुः पुरुषस्य सदा सर्वकालमेव ज्ञेयाः, तस्य चिद्रूपतयाऽपरिणामात् परिणामित्वाभावादित्यर्थः। यद्यसौ परिणामी स्यात्तदा परिणामस्य कादाचित्कत्वात् प्रमातुस्तासां चित्तवृत्तीनां सदा ज्ञातत्वं नोपपद्येत। अयमर्थः—पुरुषस्य चिद्रूपस्य सदैवाधिष्ठातृत्वेन व्यवस्थितस्य यदन्तरङ्गम् निर्मलं सत्त्वं तस्यापि सदैवावस्थितत्वाद्येन येनार्थेनोपरक्तं भवति तथाविधस्यार्थस्य सदैव चिच्छायासंक्रान्तिसद्भावस्तस्यां सत्यां सिद्धं सदाज्ञातृत्वमिति न कदाचित् क्वचित् परिणामित्वाशङ्का ॥ १८ ॥

ननु चित्तमेव यदि सत्त्वोत्कर्षात् प्रकाशकं तदा स्वपरप्रकाशरूपत्वादात्मानमर्थञ्च प्रकाशयतीति तावतैव व्यवहारसमाप्तिः किं ग्रहीत्रन्तरेणेत्याशङ्कामपनेतुमाह—

भो० वृ० का भा०—चित्त की जो ये प्रमाण और विपर्य्यय आदि वृत्तियां हैं वे सब चित्त के प्रभु अर्थात् स्वामी जीव को हर समय ज्ञात रहती हैं क्योंकि आत्मा परिणामी नहीं है यदि आत्मा एक रस अपरिणामी न हो तो परिणाम के अनित्य होने से सब वृत्तियों का ज्ञान भी उसको नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि चैतन्यस्वरूप जो पुरुष है उसके नित्य अधिष्ठान से जो अन्तरङ्ग निर्मल सत्व है वह भी सदैव रहता है, क्योंकि नित्य वस्तु के गुण भी नित्य होते हैं। बस उस निर्मल सत्व में जिन विषयों का उपराग होता है उस से उस के ज्ञान का परिणाम नहीं होता ॥ १८ ॥

अब यह शङ्का हो सकती है कि यदि चित्त ही को स्वप्रकाश रूप मान कर उसके द्वारा ही आत्मा का और विषयों का प्रकाश होता है और चित्त ही के प्रकाश तक सब व्यवहारों की समाप्ति हो जाती है ऐसा माना जाय तो फिर दूसरे ग्रहीता की शङ्का क्यों करनी ? इस का उत्तर अगले सूत्र में देते हैं—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

सूत्र का प०—(न तत् स्वाभासं दृश्यत्वात्) चित्त स्वाभास अर्थात् आप ही विषयों का ग्राहक नहीं है क्यों कि वह भी दृश्य है अर्थात् ज्ञेय है ॥ १९ ॥

सू० का भा०—चित्त स्वप्रकाश रूप नहीं है क्योंकि वह दृश्य है ॥१९॥

व्या० दे० कृत भा०—यथेतराणीन्द्रियाणि शब्दादयश्च दृश्यत्वान्न स्वाभासानि तथा मनोऽपि प्रत्येतव्यम्। न चाग्निरत्र दृष्टान्तः। न ह्यग्निरात्मस्वरूपमप्रकाशं प्रकाशयति। प्रकाशश्चायं प्रकाश्यप्रकाशकसंयोगे दृष्टः। न च स्वरूपमात्रेऽस्ति संयोगः। किंच स्वाभासञ्चित्तमित्यग्राह्यमेव कस्यचिदिति शब्दार्थः। तद्यथा

स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशं न परप्रतिष्ठमित्यर्थः । स्वबुद्धिप्रचारप्रति-संवेदनात्सत्त्वानां प्रवृत्तिर्दृश्यते—क्रुद्धोऽहं भीतोऽहममुत्र मे रागोऽमुत्र मे क्रोध इति । एतत् स्वबुद्धेरग्रहणे न युक्तमिति ॥ १९ ॥

भा० का प०—जैसे और इन्द्रियां तथा शब्द स्पर्शादि ज्ञेय होने से स्वप्रकाश रूप नहीं हैं तैसे ही मन को भी समझना चाहिए । चित्त के स्वाभास होने में अग्नि का दृष्टान्त भी नहीं घट सकता, क्योंकि अग्नि प्रकाश रहित अपने स्वरूप को प्रकाश नहीं कर सकती है । प्रकाश्य और प्रकाशक के संयोग में ही प्रकाश देखा जाता है और स्वरूप मात्र में प्रकाश नहीं देखा जाता है, प्रकाश्य और प्रकाशक का संयोग तो है; किन्तु चित्त की स्वप्रकाशता सर्वथा अग्राह्य है चित्त किसी का दृश्य है यह सूत्र का शब्दार्थ हुआ । जैसे आकाश अपने आधार से स्थित है दूसरे के आधार से नहीं अपनी बुद्धि के प्रचार के ज्ञान से जीवों की प्रवृत्ति देखी जाती है कि मैं क्रोधी वा भययुक्त हूं इस वस्तु में मेरी प्रीति और इस में मेरा द्वेष है यह सब जब बुद्धि ज्ञान का साधन न होगी तो रागादि का होना भी असम्भव होगा ॥ १९ ॥

भा० का भा०—जैसे अन्य इन्द्रियां वा शब्दादि विषय ज्ञेय हैं ऐसे ही चित्त भी जीव का ज्ञेय है अतएव स्वप्रकाशरूप नहीं है इससे ग्रहीता की कल्पना करना नितान्त आवश्यक है ॥ १९ ॥

भो० वृ०—तच्चित्तं स्वाभासं स्वप्रकाशकं न भवति पुरुषवेद्यम् भवतीति यावत् । कुतः, दृश्यत्वात् । यत् किल दृश्यं तद्द्रष्टृवेद्यम् दृष्टं यथा घटादि । दृश्यञ्च चित्तं तस्मान्न स्वाभासम् ॥ १९ ॥

ननु साध्याविशिष्टोऽयं हेतुः, दृश्यत्वमेव चित्तस्यासिद्धम् । किञ्च स्वबुद्धिसंवेदनद्वारेण पुरुषाणां हिताहितप्राप्तिपरिहाररूपा वृत्तयो दृश्यन्ते । तथाहि क्रुद्धोऽहं भीतोऽहमत्र मे राग इत्येवमाद्या संविद्बुद्धेरसंवेदने नोपपद्येतेत्याशङ्कामपनेतुमाह—

भो० वृ० का भा०—चित्त स्वयम् प्रकाश नहीं है क्योंकि चित्त आत्मवेद्य अर्थात् जानने योग्य है जो जो दृश्य पदार्थ होते हैं वह स्वयं प्रकाश नहीं होते और द्रष्टा द्वारा ज्ञेय होते हैं। जैसे घट। चित्त दृश्य है इस कारण स्वयम् प्रकाश नहीं है ॥ १६ ॥

अब सन्देह यह होता है कि उपर्युक्त अनुमान साध्य से रहित है इस कारण वह माननीय नहीं है क्योंकि हेत्वाभास से युक्त है. चित्त का दृश्यत्व यदि सिद्ध हो तब ऊपर लिखा हेतु ठीक हो सकता है। अपनी बुद्धि के संवेदन से हित और अहित को नाश करने वाली चित्त की वृत्ति ही दृश्य हैं जैसे मैं क्रोधी हूं मैं डरता हूं, मुझे अमुक विषय में प्रीति है इत्यादि ज्ञान बुद्धि की असंवेदना से नहीं हो सकते हैं, इससे चित्त दृश्य नहीं है; किन्तु वृत्ति ही दृश्य हैं इस शङ्का को दूर करने के वास्ते अगला सूत्र कहा है—

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

सूत्र का प०—(एकसमये) एक काल में (उभयानवधारणम्) दोनों का ज्ञान नहीं होता ॥ २० ॥

सू० का भा०—यदि चित्त स्वप्रकाश नहीं है तो उसका प्रकाशक दूसरा चित्त मानना चाहिये; परन्तु फिर उसका प्रकाशक कौन होगा, क्योंकि एक काल में वह अपने स्वरूप और दूसरे के स्वरूप का ज्ञान नहीं कर सकता है ॥ २० ॥

व्या० दे० कृत भा०—न चैकस्मिन् क्षणे स्वपररूपावधारणं युक्तम् क्षणिकवादिनो यद्भवनं सैव क्रिया तदेव च कारकमित्यभ्युपगमः ॥ २० ॥

स्यान्मतिः स्वरसनिरुद्धम् चित्तं चित्तान्तरेण समनन्तरेण गृह्यत इति—

भा० का प०--एक ही क्षण में अपने और पराये रूप का ज्ञान होना अयुक्त है। क्षणिक विज्ञानवादी के मत में तो जो उत्पत्ति है वही क्रिया है और वही कारक है यही सिद्धान्त है ॥ २० ॥

एक चित्त दूसरे चित्त से गृहीत होगा और वह किसी और से गृहीत होगा---

भा० का भा०--एक ही क्षण में चित्त में दो ज्ञान वा बोधकता होना युक्त नहीं है अर्थात् यदि एक चित्त का दूसरा चित्त प्रकाशक माना जायगा तो वह दूसरा चित्त एक ही काल में अपने और प्रथम चित्त के रूप को प्रकाश करने में कदापि समर्थ न होगा यदि उसका भी प्रकाशक तृतीय चित्त को मानियेगा तो अनवस्था दोष आवेगा, इस से एक चित्त का दूसरा चित्त प्रकाशक नहीं है ॥ २० ॥

भो० वृ०--अर्थस्य संवित्तिरिदन्तया व्यवहारयोग्यतापादनम्, अयमर्थः सुखहेतुर्दुःखहेतुर्वेति। बुद्धेश्च संविदहमित्येवमाकारेण सुखदुःखरूपतया व्यवहारक्षमतापादनम्। एवं विधञ्च व्यापारद्वयमर्थप्रत्यक्षकाले न युगपत् कर्त्तुं शक्यं विरोधात्। न हि विरुद्धयोर्व्यापारयोर्युगपत् सम्भवोऽस्ति। अत एकस्मिन् काले उभयस्य स्वरूपस्यार्थस्य चावधारयितुमशक्यत्वात् न चित्तं स्वप्रकाशमित्युक्तम् भवति। किञ्चैवंविधव्यापारद्वयनिष्पाद्यस्य फलद्वयस्यासंवेदनाद्बहिर्मुखतयैव स्वनिष्ठत्वेन चित्तस्य स्वयंवेदनादर्थनिष्ठमेव फलं न स्वनिष्ठमित्यर्थः ॥ २० ॥

ननु मा भूद्बुद्धेः स्वयं ग्रहणं बुद्ध्यन्तरेण भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह--

भो० वृ० का भा०--बुद्धि का ज्ञान सुख का हेतु है वा दुःख का हेतु है, मैं इस सुख वा दुःख का सहने वाला हूं, इस व्यवहार की करने वाली बुद्धि ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि सुख और दुःख परस्पर अत्यन्त विरोधी हैं और वे एक काल में हो भी नहीं सकते हैं; परन्तु चित्त की वृत्तियों में सुख और दुःख की परीक्षा एक काल में होती है इस कारण

चित्त एक काल में दो विरुद्ध धर्म वालों की परीक्षा नहीं कर सकता इस कारण चित्त स्वयं प्रकाश नहीं है किन्तु उपर्युक्त दो व्यापारों को उत्पन्न करके उस के फल ज्ञान में चित्त बहिर्मुख हो जाता है इस कारण वृत्तियों का फल भी चित्तनिष्ठ नहीं है ॥ २० ॥

अब यह शङ्का होती है कि एक बुद्धि के द्वारा सुख दुःख का ग्रहण मत हो किन्तु दूसरी बुद्धि के द्वारा उनका ग्रहण होगा? इस का उत्तर आगे लिखा है–

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंगः स्मृति-सङ्करश्च ॥ २१ ॥

सूत्र का प०—(चित्तान्तरदृश्ये) अन्यचित्त दर्शनता में (बुद्धिबुद्धेः) बुद्धि की बुद्धि का (अतिप्रसंगः) अतिप्रसंगदोष (च) और (स्मृतिसंकरः) स्मरण संकर दोष भी होगा ॥ २१ ॥

सूत्र का भा०—जब चित्त अनेक मानेंगे तो बुद्धि में १–अति प्रसङ्गदोष* होगा और स्मरणशक्ति में २–संकरदोष× हो जायगा ॥ २१ ॥

व्यास दे० कृ० भा०—अथ चित्तं चेच्चित्तान्तरेण गृह्येत बुद्धिबुद्धिः केन गृह्यते, साऽप्यन्यया साऽप्यन्ययेत्यतिप्रसंगः। स्मृति-संकरश्च यावन्तो बुद्धिबुद्धीनामनुभवास्तावत्यः स्मृतयः प्राप्नुवन्ति। तत्संकराच्चैकस्मृत्यनवधारणं च स्यादित्येवं बुद्धिप्रतिसंवेदिनं पुरुषमपलपद्भिर्वैनाशिकैः सर्वमेवाऽऽकुलीकृतं। ते तु भोक्तृस्वरूपं यत्र क्वचन कल्पयन्तो न न्यायेन संगच्छन्ते। केचित्तु सत्त्वमात्र-

---

*१ अतिप्रसंग–जो प्रसंग को अतिक्रम करे अर्थात् अनवस्था दोष।
×२ संकरदोष–अन्य मिल जाने के दोष को कहते हैं।

सपि परिकल्प्यास्ति स सत्त्वो य एतान् पञ्च स्कन्धान्निक्षिप्यान्यांश्च प्रतिसन्दधातीत्युक्त्वा तत एव पुनस्त्रस्यन्ति। तथा स्कन्धानां मह-न्निर्वेदाय विरागायानुत्पादाय प्रशान्तये गुरोरन्तिके ब्रह्मचर्यं चरि-ष्यामीत्युक्त्वा सत्त्वस्य पुनः सत्त्वमेवापह्नुवते। सांख्ययोगादयस्तु प्रवादाः स्वशब्देन पुरुषमेव स्वामिनं चित्तस्य भोक्तारमुपयन्तीति॥२१

भा० का प०—अब यदि चित्त का दूसरे चित्त से ग्रहण करेंगे तो बुद्धि की बुद्धि को किस से ग्रहण करेंगे उसको दूसरी से और फिर उसको दूसरी से इस ही को अतिप्रसंग कहते हैं और स्मृतिसंकर भी होगा। जितने बुद्धियों के अनुभव हैं उतनी ही स्मृति भी प्राप्त होंगी, संकर होने पर एक स्मरण को धारण करना असम्भव होगा इस प्रकार से बुद्धि संवेदी पुरुष को कहने वाले वैनाशिकों ने सब में ही गड़बड़ मचाई है वे भोक्ता के स्वरूप को जहां कहीं कल्पना करते हुए न्याय पर नहीं चलते। कोई केवल सत्त्व को भी प्रकल्पना कर के वही सत्त्व है जो इन पांचों स्कन्धों को निक्षेप कर के औरों को ग्रहण करता है ऐसा कह कर उसी से फिर भयभीत होते हैं तैसे ही स्कन्धों का विराग के लिए अनुत्पादन करने को शान्ति के लिये गुरु के घर में ब्रह्मचर्य करूँगा। ऐसा कह कर सत्त्व के फिर सत्त्वभाव को नष्ट करेंगे। सांख्य योगादिक के प्रवाद तो स्वशब्द से पुरुष को ही स्वामी और चित्त को भोक्ता ग्रहण करते हैं॥ २१॥

भा० का भा०—तब चित्त को दूसरे चित्त से बुद्धि को दूसरी बुद्धि से ग्रहण करने से अतिप्रसंगदोष और स्मृतिसंकरदोष होगा। क्योंकि जितनी बुद्धि उतने ही अनुभव। तब स्मृति नष्ट होने से स्मरण नष्ट होगा इस प्रकार पुरुष को बुद्धि संवेदी मान कर वैनाशिक लोग गड़बड़ मचाते हैं। कहीं २ भोक्ता का स्वरूप कल्पना करके अन्याय करते हैं। कोई केवल सत्त्व की कल्पना कर के वही सत्त्व है, जो इन पांच स्कन्धों को छोड़ कर

औरों को धारण करता है यह कह कर उन्हीं से फिर भयभीत होते हैं और स्कन्धों की अनुत्पत्ति और विराग के लिए गुरु के घर में ब्रह्मचर्य करें। ऐसा ठानकर पुनः एक बुद्धि और एक स्मृति न होने से उस भाव को त्याग देंगे और कहेंगे कि सांख्य और योग तो वाद मात्र हैं ये स्वशब्द से चित्त के भोक्ता पुरुष को ग्रहण करते हैं ॥ २१ ॥

भोज वृत्ति—यदि हि बुद्धिर्बुद्ध्यन्तरेण वेद्यते तदा साऽपि बुद्धिः स्वयमेव स्वीयभावरूपमज्ञात्वाऽबुद्ध्वा बुद्ध्यन्तरं प्रकाशयितुमसमर्थेति तस्या ग्राहकं बुद्ध्यन्तरं कल्पनीयं तस्याप्यन्यदित्यनवस्थानात् पुरुषायुषेणाप्यर्थप्रतीतिर्न स्यात्। न हि प्रतीतावप्रतीतायामर्थः प्रतीतो भवति। स्मृतिसंकरश्च प्राप्नोति रूपे रसे वा समुत्पन्नायां बुद्धौ तद्ग्राहिकाणामनन्तानां बुद्धीनां समुत्पत्तेर्बुद्धिजनितैः संस्कारैर्यदा युगपद् बह्व्यः स्मृतयः क्रियन्ते तदा बुद्धेरपर्यवसानाद्बुद्धिस्मृतीनां च बह्वीनां युगपदुत्पत्तेः कस्मिन्नर्थे स्मृतिरियमुत्पन्नेति ज्ञातुमशक्यत्वात् स्मृतीनां सङ्करः स्यात्। इयं रूपस्मृतिरियं रसस्मृतिरिति न ज्ञायेत ॥ २१ ॥

ननु बुद्धेः स्वप्रकाशत्वाभावे बुद्ध्यन्तरेण चासंवेदने कथमयं विषयसंवेदनरूपो व्यवहार इत्याशंक्य स्वसिद्धान्तमाह—

भो० वृ० का भा०—यदि एक बुद्धि दूसरी बुद्धि को जानेगी तो वह अपने स्वरूप और भावों को बिना जाने उस बुद्धि के ज्ञान में प्रवृत्त हुई है, यदि अपने रूप और भावों को बिना जाने ही प्रवृत्त हुई है तो उसके जानने को और बुद्धियों की आवश्यकता होगी और वह बिना अपने जाने प्रथम बुद्धि को प्रकाशित भी नहीं कर सकती है और इस कल्पना में स्मृतिसंकरदोष भी आवेगा। उस बुद्धि का भी दूसरा विषय ग्राह्य न होगा क्योंकि बुद्धि ज्ञान में चरितार्थ हो चुकी, दूसरे पुरुष की भी प्रतीति न होगी और अप्रतीति में किसी विषय की प्रतीति नहीं हो सकती है। स्मृतिसंकरदोष यों आवेगा कि रूप और रसादिकों के उत्पन्न

हुए ज्ञान वाली बुद्धि को ग्रहण करने वाली बुद्धि अनंत होंगी और बुद्धियों के अनंत होने से स्मृति भी अनन्त होंगी जब कि अनेक बुद्धि और अनेक स्मृति एक काल में उत्पन्न होंगी तब यह परिज्ञान होना असम्भव है कि यह स्मृति रस सम्बन्धिनी है वा रूप सम्बन्धिनी है ॥२१॥

अब सन्देह यह है कि यदि बुद्धि स्वप्रकाश नहीं है और दूसरी बुद्धि की कल्पना हो नहीं सकती तो विषयसंवेदन क्योंकर होता है? इसका उत्तर अगले सूत्र में देंगे—

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

सूत्र का पदार्थ—(चितेः) चिति अर्थात् पुरुष के (अप्रतिसंक्रमायाः) इधर उधर गमन रहित होने से (तदाकारापत्तौ) तदाकार अवस्था में प्राप्त होने से (स्वबुद्धिसंवेदनम्) अपनी बुद्धि का ज्ञान होता है ॥ २२ ॥

सू० का भा०—जब स्थिर पुरुष के समीप बुद्धि भी तदाकार को प्राप्त होती है तब बुद्धि को अपने रूप का ज्ञान होता है ॥ २२ ॥

व्यास दे० कृ० भा०—अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति। तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहस्वरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारिमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिराख्यायते ॥ २२ ॥ तथाचोक्तम्—

"न पातालं न च विवरं गिरीणां नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्। गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते ॥" इति ॥ २२ ॥ अतश्चैतदभ्युपगम्यते—

भा० का प०—भोक्ता अर्थात् पुरुष की शक्ति परिणामरहित है और गमनागमनरहित है परिणामी विषय में पुरुष की वृत्ति चञ्चल

रहती है और उस वृत्ति से संयोग प्राप्त बुद्धिवृत्ति के अनुकरण मात्र से बुद्धिवृत्ति से ज्ञानवृत्ति भिन्न प्रतीत होती है। ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है अर्थात् न पाताल, न पर्वतों के विवर, न अन्धकार, न समुद्र की खाड़ी ऐसी हैं जहां ब्रह्म बैठा हो। वह गुफा जिसमें ब्रह्म रहता है कवि अर्थात् विद्वान् लोग उसको बुद्धि कहते हैं॥ २२॥

भा० का भा०-भोक्ता की शक्ति परिणाम और गमनागमन से रहित है जो विषय परिणामी और गमनशील हैं, उनके साथ चित्त की वृत्ति भी गमन करती है; परन्तु जब बुद्धि चैतन्य पुरुष के समीप होती है तब उसकी वृत्ति भी स्थिर हो जाती है। तब उस बुद्धि में ईश्वर का यथार्थज्ञान होता है ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है कि ब्रह्म पातालादि में नहीं रहता है वरन् बुद्धि रूपी गुफा में रहता है॥ २२॥

भो० वृ०-पुरुषश्चिद्रूपत्वाच्चितिः साऽप्रतिसंक्रमा, न विद्यते प्रतिसंक्रमोऽन्यत्र गमनं यस्याः सा तथोक्ता, अन्येनासङ्कीर्णेति यावत्। यथा गुणा अङ्गाङ्गिभावलक्षणे परिणामेऽङ्गिनं गुणं संक्रामन्ति तद्रूपतामिवाऽऽपद्यन्ते, यथा वा लोके परमाणवः प्रसरन्तो विषयमारोपयन्ति नैवं चितिशक्तिस्तस्याः सर्वदैकरूपतया स्वप्रतिष्ठितत्वेन व्यवस्थितत्वात्। अतस्तत्सन्निधाने यदा बुद्धिस्तदाकारतामापद्यते चेतनेवोपजायते, बुद्धिवृत्तिप्रतिसंक्रान्ता च यदा चिच्छक्तिः बुद्धिवृत्तिविशिष्टतया संवेद्यते तदा बुद्धेः स्वस्याऽऽत्मनो वेदनं संवेदनं भवतीत्यर्थः॥ २२॥

इत्थं स्वसंविदितं चित्तं सर्वानुग्रहणसामर्थ्येन सकलव्यवहारनिर्वाहक्षमं भवतीत्याह—

भो० वृ० का भा०—पुरुष चैतन्य रूप है और उसकी चैतन्य शक्ति अप्रतिसंक्रमा है, अप्रतिसंक्रमा का अर्थ यह है कि नहीं है संक्रम अर्थात् अन्यत्रगमन जिसका, अभिप्राय यह है कि वह चिति शक्ति और भावों से संकीर्ण नहीं होती, जैसे गुण जब अङ्गादि भाव में परिणत होते

है अर्थात् तमोगुणादि जब दूसरे प्रधान गुण के अङ्ग होते हैं तब अङ्गों को संक्रमण कर जाते हैं अर्थात् अङ्ग के रूप को धारण कर लेते हैं अथवा जैसे जगत् में परमाणु प्रसार पाकर विषय के रूप में परिणत हो जाते हैं ऐसे चिति शक्ति परिणत नहीं होती क्योंकि वह सदा एकरूप में स्थिर रहती है । उस चितिशक्ति के समीप में आकर बुद्धि जब उसके रूप में परिणत होती है तब चितिशक्ति उसके विषयों को जानती है इस प्रकार से संवेदन होता है ॥ २२ ॥

ऐसे चित्त जब संविदित होता है तब सब के ऊपर अनुग्रह करने में समर्थ होता है यही अगले सूत्र में वर्णन करेंगे—

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

सूत्र का पदार्थ—(द्रष्टृदृश्योपरक्तम्) देखने वाले और देखने योग्य पदार्थ में उपरक्त (चित्तम्) चित्त (सर्वार्थम्) चेतन व अचेतन सब कुछ है ॥ २३ ॥

सू० का भा०—विषय और विषयी (विषयवान्) में उपरक्त चेतन और अचेतन रूप चित्त है ॥ २३ ॥

व्या० दे० कृत भा०-मनो हि मन्तव्येनार्थेनोपरक्तम् तत्स्वयं च विषयत्वाद्विषयिणा पुरुषेणाऽऽत्मीयया वृत्त्याऽभिसम्बद्धं, तदेतच्चित्तमेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनं चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमित्युच्यते । तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः । अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्वं नास्ति खल्वयं गवादिर्घटादिश्च सकारणो लोक इति । अनुकम्पनीयास्ते । कस्मात् ? अस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजं सर्वरूपाकारनिर्भासं चित्त-

मिति । समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेयोऽर्थः प्रतिबिम्बीभूतस्तस्याऽऽलम्बनी-भूतत्वादन्यः। स चेदर्थश्चित्तमात्रं स्यात्कथं प्रज्ञयैव प्रज्ञारूपमवधार्येत तस्मात् प्रतिबिम्बीभूतोऽर्थः प्रज्ञायां येनावधार्यते स पुरुष इति। एवं ग्रहीतृग्रहणग्राह्यस्वरूपचित्तभेदात् त्रयमप्येतज्जातितः प्रविभ-जन्ते ते सम्यग्दर्शिनस्तैरधिगतः पुरुषः ॥ २३ ॥ कुतश्च —

भा० का प०—मन्तव्य अर्थ में लगा हुवा मन आप और विषय होने से विषयी पुरुष से आत्मसम्बन्धी वृत्ति से संबद्ध है सो यह चित्त ही द्रष्टा और दृश्य में लगा हुवा अर्थात् विषय और विषय वाले को भासित करने वाला चेतन और अचेतन स्वरूप को प्राप्त विषयात्मक भी अवि-षयात्मक के समान और अचेतन भी चेतन के समान है। स्फटिकमणि के तुल्य सर्वार्थ कहलाता है। इस चित्त की स्वरूपता से भूले हुए कोई वह चेतन है ऐसा कहते हैं। दूसरे चित्त मात्र ही यह सब कुछ है। गवादि और मठादि चराचर लोक निश्चय ये नहीं है, कुछ नहीं है, ऐसा कहते हैं। वे दयापात्र हैं क्योंकि उनके मत में भ्रान्ति का बीज यही है कि वे चित्त को सर्वरूपाकार मानते हैं। समाधि की बुद्धि में ज्ञेय अर्थ आश्रय होने से प्रतिबिम्ब से भिन्न है यदि वही अर्थ चित्तमात्र हो कैसे बुद्धि से बुद्धि के रूपको जानें ? इस वास्ते प्रतिबिम्ब भूत अर्थ बुद्धि में जिस से जाना जाय वह ही पुरुष है। इस प्रकार जिन से ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य ये तीनों स्वरूप और चित्त के भेद से जाति से विभाग किये जाते हैं वे तत्त्वदर्शी हैं उनसे ही पुरुष जाना जाता है ॥ २३ ॥

भा० का भा०—मन्तव्य अर्थ में लगा हुवा मन आप ही विषय होने से विषयवान् (पुरुष से) अपनी वृत्ति से सम्बन्ध रखता है, देखने वाले और देखने योग्य दोनों में अर्थात् विषय और विषयवान् को भासित करने वाला चेतन भी अचेतनता को प्राप्त विषयात्मक होने पर भी अविषयात्मक है जैसे स्फटिक लाल नहीं होता; परन्तु लाल के पास रहने से लाल भान होता है। अतएव चित्त को सर्वार्थ कहते हैं सो इस

चित्त के रूप से भूले हुये कहते हैं कि यही पुरुष है दूसरे कहते हैं कि चित्त ही सब कुछ है और कुछ नहीं है ये सब दयामात्र हैं। तत्त्वदर्शी वही है जो ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य इनमें जातिगत भेद करते हैं॥२३॥

भो० वृ०-द्रष्टा पुरुषस्तेनोपरक्तम् तत्सन्निधानेन तद्रूपतामिव प्राप्तं दृश्योपरक्तम् विषयोपरक्तम् गृहीतविषयाकारपरिणामं यदा भवति तदा तदेव चित्तं सर्वार्थग्रहणसमर्थं भवति। यथा निर्म्मलं स्फटिकदर्पणाद्येव प्रतिबिम्बग्रहणसमर्थमेवं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं शुद्धत्वात् चिच्छाया-ग्रहणासमर्थं भवति, न पुनरशुद्धत्वाद्रजस्तमसी। तन्न्यग्भूतरजस्तमोरूप-मङ्गितया सत्त्वं निश्चलप्रदीपशिखाकारं सदेकरूपतया परिणममानं चिच्छा-याग्रहणसामर्थ्यादा मोक्षप्राप्तेरवतिष्ठते। यथाऽयस्कान्तसन्निधाने लोहस्य चलनमाविर्भवति। एवं चिद्रूपपुरुषसन्निधाने सत्त्वस्याभिव्यङ्ग्यमभिव्यज्यते चैतन्यम्। अतएव अस्मिन् दर्शने द्वे चित्तवृत्ती नित्योदिताऽभिव्यङ्ग्या च नित्योदिता चिच्छक्तिः पुरुषे तत्सन्निधानादभिव्यक्तमभिव्यंग्यचैतन्यं सत्त्व-मभिव्यंग्या चिच्छक्तिः। तदत्यन्तसन्निहितत्वादन्तरङ्गम् पुरुषस्य भोग्यतां प्रतिपद्यते। तदेव शान्तब्रह्मवादिभिः सांख्यैः पुरुषस्य परमात्मानोऽधिष्ठेयं कर्मानुरूपं सुखदुःखभोक्तृतया व्यपदिश्यते। यत्त्वनुद्रिक्तत्वादेकस्यापि गुणस्य कदाचित् कस्यचिदंगित्वात् त्रिगुणं प्रतिक्षणं परिणममानं सुखदुःख-मोहात्मकमनिर्मलं तत्तस्मिन् कर्मानुरूपे शुद्धे सत्त्वे स्वाकारसमर्पणद्वारेण संवेद्यतामापादयति। तत् सत्त्वमाद्यं चित्तसत्त्वमेवेति प्रतिसंक्रान्तचिच्छाय-मन्यतोगृहीतविषयाकारेण चित्तेनौपढौकितस्वाकारं चित्संक्रान्तिबलात् चेतनायमानं वास्तवचैतन्याभावेऽपि सुखदुःखस्वरूपभोगमनुभवति। स एव भोगोऽत्यन्तसन्निधानेन विवेकाग्रहणात् अभोक्तुरपि पुरुषस्य भोग इति व्यपदिश्यते। अनेनैवाभिप्रायेण विन्ध्यवासिनोक्तम्- 'सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वमिति।" अन्यत्रापि बिम्बे प्रतिबिम्बमानच्छायासदृशच्छायोद्भवः प्रतिबिम्बशब्देनोच्यते। एवं सत्त्वेऽपि पौरुषेयचिच्छायासदृशचिदभिव्यक्तिः प्रतिसंक्रान्तिशब्दार्थं इति। ननु प्रतिबिम्बनं नाम निर्मलस्य नियतपरिणा-

मस्य निर्मले दृष्टं, यथा मुखस्य दर्पणे। अत्यन्तनिर्मलस्य व्यापकस्या-परिणामिनः पुरुषस्य तस्मादत्यन्तनिर्मलात्पुरुषादनिर्मले सत्त्वे कथं प्रति-बिम्बनमुपपद्यते। उच्यते—प्रतिबिम्बनस्य स्वरूपमनवगच्छता भवतेदमभ्य-धायि। यैव सत्त्वगताया अभिव्यंग्यायाश्चिच्छक्तेः पुरुषस्य सांनिध्यादभि-व्यक्तिः सैव प्रतिबिम्बनमुच्यते। यादृशी पुरुषगता चिच्छक्तिस्तच्छाया तथा-ऽऽविर्भवति। यदप्युक्तमत्यन्तनिर्मलः पुरुषः कथं निर्मले सत्त्वे प्रतिसंक्रा-मतीति तदप्यनैकान्तिकं नैर्मल्यादपकृष्टेऽपि जलादावादित्यादयः प्रतिसंक्रान्ताः समुपलभ्यन्ते। यदप्ययुक्तमनवच्छिन्नस्य नास्ति प्रतिसंक्रान्तिरिति। तद-प्ययुक्तं, व्यापकस्याप्याकाशस्य दर्पणादौ प्रतिसंक्रान्तिदर्शनात्। एवं सति न काचिदनुपपत्तिः प्रतिबिम्बदर्शनस्य। ननु सात्त्विकपरिणामरूपे बुद्धि-सत्त्वे पुरुषसन्निधानादभिव्यंग्यायाश्चिच्छक्तेर्बाह्यार्थाकारसंक्रान्तौ पुरुषस्य सुखदुःखरूपो भोग इत्युक्तं, तदनुपपन्नम्। तदेव चित्तसत्त्वं प्रकृताव-परिणतायां कथं सम्भवति किमर्थश्च तस्याः परिणामः। अथोच्येत पुरुषस्यार्थोपभोगसम्पादनं तया कर्त्तव्यम्। अतः पुरुषार्थकर्त्तव्यतया तस्या युक्त एव परिणामः। तच्चानुपपन्नम्, पुरुषार्थकर्त्तव्यताया एवानुपपत्तेः। पुरुषार्थो मया कर्त्तव्य एवंविधोऽध्यवसायः पुरुषार्थकर्त्तव्यतोच्यते। जडायाश्च प्रकृतेः कथं प्रथममेवंविधोऽध्यवसायः। अस्ति चेदध्यवसायः कथं जडत्वम्? अत्रोच्यते—अनुलोमप्रतिलोमलक्षणपरिणामद्वये सहजं शक्तिद्वयमस्ति तदेव पुरुषार्थं कर्त्तव्यतोच्यते। सा च शक्तिरचेतनाया अपि प्रकृतेः सहजैव। तत्र महदादिमहाभूतपर्य्यन्तोऽस्याबहिर्मुखतयाऽनु-लोमः परिणामः पुनः स्वकारणानुप्रवेशद्वारेणास्मितान्तः परिणामः प्रति-लोमः। इत्थं पुरुषः स्वस्याऽऽभोगपरिसमाप्तेः सहजशक्तिद्वयक्षयात् कृतार्था प्रकृतिर्न पुनः परिणाममारभते। एवं विधायांच पुरुषार्थकर्त्त-व्यतायां जडाया अपि प्रकृतेर्न काचिदनुपपत्तिः। ननु यदीदृशी शक्तिः सहजैव प्रधानस्यास्ति तत्किमर्थं मोक्षार्थिभिर्मोक्षाय यत्नः क्रियते, मोक्षस्य चानर्थनीयत्वे तदुपदेशकशास्त्रस्याऽऽनर्थक्यं स्यात्। उच्यते—योऽयं

प्रकृतिपुरुषयोरनादिर्भोग्यभोक्तृत्वलक्षणः सम्बन्धस्तस्मिन् सति व्यक्तचेतनायाः प्रकृतेः कर्तृत्वाभिमानाद्दुःखानुभवे सति कथमियं दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी मम स्यादिति भवत्येवाध्यवसायः। अतो दुःखनिवृत्त्युपायोपदेशकशास्त्रापदेशापेक्षाऽस्त्येव प्रधानस्य। तथाभूतमेव च कर्मानुरूपं बुद्धिसत्त्वं शास्त्रोपदेशस्य विषयः। दर्शनान्तरेष्वप्येवंविध एवाविद्यास्वभावः शास्त्रेऽधिक्रियते। स च मोक्षाय प्रयतमान एवंविधमेव शास्त्रोपदेश सहकारिणमपेक्ष्य मोक्षाख्यं फलमासादयति। सर्वाण्येव कार्याणि प्राप्तायां सामग्र्यामात्मानं लभन्ते। अस्य च प्रतिलोमपरिणामद्वारेणैवोत्पाद्यस्य मोक्षाख्यस्य कार्यस्येदृश्येव सामग्री प्रमाणेन निश्चिता प्रकारान्तरेणानुपपत्तेः। अतस्तां विना कथं भवितुमर्हति। अतः स्थितमेतत् संक्रान्तविषयोपरागमभिव्यक्तचिच्छायं बुद्धिसत्त्वं विषयनिश्चयद्वारेण समग्रां लोकयात्रां निर्वाहयतीति। एवंविधमेव चित्तं पश्यन्तो भ्रान्ताः स्वसंवेदनचित्तं चित्तमात्रं च जगदित्येवं ब्रुवाणाः प्रतिबोधिता भवन्ति ॥ २३ ॥

भो० वृ० का भा०—जैसे स्फटिक वा दर्पण जो निर्मल होते हैं वही प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। ऐसे ही रजो और तमोगुण से रहित सत्त्व शुद्ध होने के कारण चित्त के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है; किन्तु रज और तम अशुद्ध होने के कारण चिच्छाया को ग्रहण नहीं कर सकते हैं। सत्त्व अङ्गी अर्थात् प्रधान गुण होकर निश्चल दीपशिखा के समान निश्चल और सदा एक रूप में चिच्छाया को ग्रहण करके और परिणाम को धारण करके भी मुक्ति पर्यन्त रहता है। जैसे चुम्बक पत्थर के समीप लोहे की चलनरूपी क्रिया का प्रकाश होता है ऐसे ही चित् पुरुष के समीप सत्त्वगुण की व्यंजक रूप शक्ति अर्थात् चैतन्यता प्रकट होती है। इससे अनुमान होता है कि चित्त की दो वृत्ति हैं एक नित्योदिता और दूसरी अभिव्यङ्ग्या। नित्योदिता चित् शक्ति पुरुष में रहती है और उसकी समीपता के कारण सत्त्वगुण में अभिव्यङ्ग्या चित् शक्ति होती है और अभिव्यङ्ग्या के अत्यन्त

समीप होने से पुरुष में भोग्यपन सिद्ध होता है । इस ही को ब्रह्मवादी शान्त, सांख्यवालों ने पुरुष का कर्मानुसार सुख दु:ख का भोग कहा है, जो गुण किसी समय अङ्गी होता है वही फिर परिणाम को प्राप्त होकर अङ्ग बन जाता है । ऐसे ही तीनों गुण परिणत होते रहते हैं और इन से सुख, दु:ख, मोह और निर्बलता को प्रदान करते हैं । चित्त स्वरूप ही है जब सत्त्व चित् के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है, तब चैतन्यवत् प्रतीत होता है । वास्तव में चैतन्य के विना भी सुख और दु:ख रूप भोग का अनुभव करता है वही भोग जब अत्यन्त समीप होता है तब विवेक के प्रभाव से अभोक्ता पुरुष को भोक्ता कहा जाता है । इस ही अभिप्राय से विन्ध्यवासी ने कहा है सत्त्वगुण का जो भोगादि तप है वही पुरुष का तप है अर्थात् सत्त्व का भोग पुरुष में अध्यारोपित होता है अत: यह सिद्ध हुआ कि सत्त्वगुण में जो चित्त का प्रतिबिम्ब होता है उसही से सत्त्व में चैतन्यता जान पड़ती है ॥ २३ ॥

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

सूत्र का प०—(तत्) सो (असंख्येयवासनाभिः) असंख्य वासनाओं से (चित्रम्) विचित्र चित्त (अपि) भी (परार्थम्) दूसरे के निमित्त है (संहत्यकारित्वात्) संग्रहकारी होने से ॥ २४ ॥

सू० का भा०—सो चित्त असंख्य एवं विचित्र वासनायुक्त होने पर भी दूसरे ही के निमित्त है क्योंकि वह संग्रह करने वाला है ॥ २४ ॥

व्या० दे० कृत भा०—तदेतच्चित्तमसंख्येयाभिर्वासनाभिरेव चित्रीकृतमपि परार्थं परस्य भोगापवर्गार्थं न स्वार्थं संहत्यकारि-

स्याद्गृहवत् संहत्यकारिणा चित्तेन न स्वार्थेन भवितव्यं न सुखचित्तं सुखार्थं न ज्ञानं ज्ञानार्थमुभयमप्येतत्परार्थम् । यश्च भोगेनापवर्गेण चार्थेनार्थवान् पुरुषः स एव परो न परः सामान्यमात्रम् । यत्तु किञ्चित्परं सामान्यमात्रं स्वरूपेणोदाहरेद्वैनाशिकस्तत्सर्वं संहत्यकारित्वात्परार्थमेव स्यात् यस्त्वसौ परो विशेषः स न संहत्यकारी पुरुष इति ॥ २४ ॥

भा० का प०—सो वह चित्त असंख्य वासनाओं से चित्रित हुआ भी परार्थ अर्थात् दूसरे के भोग और मोक्ष के वास्ते है अपने लिये नहीं क्योंकि वह संग्रह करने वाला है घर के समान । संग्रहकारी चित्त से स्वार्थ से कार्य्य नहीं हो सकता है । सुख चित्त सुख के अर्थ नहीं, न ज्ञान ज्ञान के लिये है । ये दोनों दूसरे के अर्थ हैं । जो भोग और मोक्ष के प्रयोजनों का अर्थवान् है वह पुरुष है वही पर है सो पर सामान्य नहीं है जो कुछ सामान्य मात्र पर का स्वरूप से वैनाशिक उदाहरण देवे वह सब संहतकारी होने से परार्थ ही है । जो ये विशेष पर है सो संहतकारी नहीं है ॥ २४ ॥

भा० का भा०—वह चित्त असंख्य वासनाओं से चित्रित होने पर भी जो करता है सो सब सेवक के समान पर (पुरुष) के अर्थ करता है, उसका सुख और ज्ञान दोनों अपने अर्थ नहीं हैं जो भोग और मोक्ष के अर्थों का अर्थी है सो पर पुरुष है सो सामान्य नहीं किंतु विशेष है क्योंकि जो पर भी स्वरूप से नाश होने वाला है, सो सब परार्थ है और ये पुरुष विशेष है अतएव समुदाय के साथ कर्त्ता नहीं है ॥ २४ ॥

भो० वृ०—तदेव चित्तं संख्यातुमशक्याभिर्वासनाभिश्चित्रमपि नानारूपमपि परार्थं परस्य स्वामिनो भोक्तुर्भोगापवर्गलक्षणमर्थं साधयतीति । कुतः, संहत्यकारित्वात्, संहत्य संभूय मिलित्वाऽर्थक्रियाकारित्वात् । यच्च संहत्यार्थक्रियाकारि तत्परार्थं दृष्टं, यथा शयनासनादि । सत्त्वरजस्तमांसि

च चित्तलक्षणपरिणामभाञ्जि संहत्यकारीणि चातः परार्थानि । यः परः स पुरुषः । ननु यादृशेन शयनासनादीनां परेण शरीरवता पारार्थ्यमुपलब्धं तद्दृष्टान्तबलेन तादृश एव परः सिध्यति । यादृशश्च भवता परोऽसंहतरूपोऽभिप्रेतस्तद्विपरीतस्य सिद्धेरयमिष्टविघातकृद्धेतुः । उच्यते—यद्यपि सामान्येन परार्थमात्रे व्याप्तिर्गृहीता तथाऽपि सत्त्वादिविलक्षणधर्मिपर्यालोचनया तद्विलक्षण एव भोक्ता परः सिध्यति । यथा चन्दनवनावृते शिखरिणि विलक्षणाद्धूमाद्वह्निरनुमीयमान इतरवह्निविलक्षणश्चन्दनप्रभव एव प्रतीयते एवमिहापि विलक्षणस्य सत्त्वाख्यस्य भोग्यस्य परार्थत्वेऽनुमीयमाने तथाविध एव भोक्ताऽधिष्ठाता परश्चिन्मात्ररूपोऽसंहतः सिध्यति । यदि च तस्य परत्वं सर्वोत्कृष्टत्वमेव प्रतीयते तथाऽपि तामसेभ्यो विषयेभ्यः प्रकृष्यते शरीरं प्रकाशरूपेन्द्रियाश्रयत्वात्, तस्मादपि प्रकृष्यन्त इन्द्रियाणि, ततोऽपि प्रकृष्टं सत्त्वं प्रकाशरूपं, तस्यापि यः प्रकाशकः प्रकाश्यविलक्षणः स चिद्रूप एव भवतीति कुतस्तस्य संहतत्वम् ॥ २४ ॥

इदानीं शास्त्रफलं कैवल्यं निर्णेतुं दशभिः सूत्रैरुपक्रमते—

भो० वृ० का भा०—इस प्रकार से चित्त असंख्य वासनाओं से युक्त होने के कारण अनेक रूप वाला है तो भी आत्मा के भोग को सिद्ध करता है क्योंकि वह औरों से मिलकर काम करता है जो जो मिल के काम करने वाले हैं वे परार्थ ही काम करते दीखते हैं, जैसे शय्या वा आसन आदि । ऐसे ही सत्त्व, रज, तम आदि मिल कर काम करते हैं। इस कारण वे सब परार्थ कार्य्य करने वाले हैं, यहां पर (दूसरा) पुरुष ही है इस कारण सिद्ध हुआ कि चित्त पुरुष के भोग का साधक है। अब सन्देह यह होता है कि जैसे शय्या और आसनादि से शरीरधारी का अर्थ सिद्ध होता है इस ही दृष्टान्त से वैसा ही पर (दूसरा) असंहतकारी अर्थात् अकेला ही कार्य्य करने वाला सिद्ध हो सकता है इस कारण आपका कहा हेतु केवल हेत्वाभास है ! इस का उत्तर यह है कि यद्यपि सामान्य रूप से जो व्याप्ति (यत्र यत्र संहत्यकारित्वं तत्र तत्र

परार्थत्वम्) कही थी उस से उक्त शङ्का हो सकती है पर सत्त्वगुणादि के विशेष विचार करने से आप के कहे पर से भोक्ता रूप पर विलक्षण है जैसे काष्ठ चन्दन से पूरित पर्वत के धुएं को देख कर जो अग्नि का अनुमान किया जाता है वह धूम और वह अग्नि अन्य धूम और अग्नियों से विलक्षण होते हैं ऐसे ही यहां भी विलक्षण जो सत्त्वरूप भोग्य हैं उस की परार्थता के अनुमान से विलक्षण भोग्यता अधिष्ठाता और चिन्मात्र असंहत्यकारी पर सिद्ध होता है यद्यपि उसका परत्व सत्त्व से उत्तम वा विलक्षण है तो भी तमोगुणी विषयों से शरीर उत्तम है क्योंकि प्रकाश रूपी इन्द्रियों का आश्रय है । शरीर से इन्द्रियां उत्कृष्ट हैं उन से भी चित्त (सत्त्व) उत्कृष्ट है और उस से भी पर अर्थात् पुरुष उत्कृष्ट है तब वह संहत्यकारी अर्थात् सत्त्व के साथ मिल कर कार्य्य करने वाला क्यों कर रहा ॥ २४ ॥

आगे योगशास्त्र का फल जो कैवल्य अर्थात् मुक्ति है उसका निर्णय १० सूत्रों से करेंगे—

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः ॥२५॥

सूत्र का पदार्थ—(विशेषदर्शिन) विशेषदर्शी को (आत्मभावभावनानिवृत्तिः) शरीर के भाव की भावना की निवृत्ति हो जाती है ॥ २५ ॥

सूत्र का भा०—विशेषदर्शी योगी को शारीरिक भावों की भावना नहीं रहती है ॥ २५ ॥

व्या० दे० कृत भा० – यथा प्रावृषि तृणांकुरस्योद्भेदेन तद्-बीजसत्ताऽनुमीयते तथा मोक्षमार्गश्रवणेन यस्य रोमहर्षाश्रुपातौ दृश्येते तत्राप्यस्ति विशेषदर्शनबीजमपवर्गभागीयं कर्म्माभिनिर्वर्तितमित्यनुमीयते । तस्याऽऽत्मभावभावना स्वाभाविकी प्रवर्त्तते ।

यस्याभावादिदमुक्तं स्वभावंमुक्त्वा दोषाद्येषां पूर्वपक्षे रुचिर्भ-वत्यरुचिश्च निर्णये भवति। तत्राऽऽत्मभावभावना कोऽहमासं कथ-महमासं किंस्विदिदं कथंस्विदिदं के भविष्यामः कथं वा भविष्याम इति। सा तु विशेषदर्शिनो निवर्त्तते। कुतः। चित्तस्यैवैष विचित्रः परिणामः, पुरुषस्त्वसत्यामविद्यायां शुद्धश्चित्तधर्मैरपरामृष्ट इति। ततोऽस्याऽऽत्मभावभावना कुशलस्य निवर्तत इति॥ २५॥

भा० का प०—जैसे वर्षाऋतु में घास के उत्पन्न होने से उनकी सत्ता जानी जाती है तैसे ही मोक्षमार्ग के सुनने से जिसका रोम हर्ष और आंसू गिरना दीखता है उसमें भी विशेषज्ञान का बीज है जो कि मोक्षं-भागीय पूर्वजन्म के कर्म्मों से सिद्ध हुआ है उसको आत्मभाव भावना स्वभाव से ही होती है। जिसके अभाव से यह कहा जाता है कि स्वभाव को त्याग कर विद्यमान दोष से जिनको पूर्वपक्ष में रुचि होती है और निर्णय में अरुचि होती है, वहां आत्मभाव भावना का अर्थ यह है—मैं कौन था, किस प्रकार था, यह जन्म क्या है, क्योंकर है, कौन होंगे, कैसे होंगे ? यह आत्मभाव भावना विशेषदर्शी की निवृत्त हो जाती है। क्यों ? यह चित्त ही का विचित्र परिणाम है पुरुष तो अविद्या के न होने पर शुद्ध चित्तधर्मों से रहित है। यह आत्मभावना कुशल पुरुष की निवृत्त होती है॥ २५॥

भा० का भा०—जैसे वर्षा में घास के उत्पन्न होने से उसकी सत्ता का अनुमान होता है तैसे ही मोक्षकथा होने में जिनके रोम खड़े हो जांय या आंसू गिरें उनमें भी मुक्ति सम्बन्धी ज्ञान विशेष का बीज है ऐसा अनुमान करते हैं क्योंकि दोषग्रस्त स्वभाव वाले को पूर्वपक्ष में रुचि होती है और सिद्धान्त में अरुचि होती है, उसको "मैं पहिले कौन था ये वर्तमान जन्म क्या है, भविष्यत् कैसे होंगे" ऐसे विशेषदर्शिता के संग तर्क होते हैं क्योंकि ये सब चित्त के अद्भुत कार्य हैं जब अविद्या से

युक्त चित्त धर्मों से शुद्ध प्रवेशदर्शन में दत्तचित्त होता है तब ये सब निवृत्त होते हैं ॥ २५ ॥

भोज वृत्ति—एवं सत्त्वपुरुषयोरन्यत्वे साधिते यस्तयोर्विशेषं पश्यति अहमस्मादन्य इत्येवं रूपं, तस्य विज्ञातचित्तरूपसत्त्वस्य चित्ते याऽऽत्मभावभावना सा निवर्त्तते चित्तमेव कर्तृ ज्ञातृभोक्तृ इत्यभिमानो निवर्त्तते ॥ २५ ॥

तस्मिन् सति किं भवतीत्याह—

भो० वृ० का भा०-पूर्वोक्त रीति से सत्त्व और पुरुष की भिन्नता को प्रतिपादन करके कहते हैं कि जो इन दोनों में भेद भावना करता है उसको जो चित्त में आत्मभावना थी वह निवृत्त हो जाती है अर्थात् वह चित्त को कर्त्ता भोक्ता नहीं समझता; किन्तु पुरुष को कर्त्ता समझता है ॥ २५ ॥ फिर क्या होता है सो आगे कहते हैं—

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥२६॥

सूत्र का प०—(तदा) तब (विवेकनिम्नम्) ज्ञान से नम्र (कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्) वक्ष्यमाण कैवल्य के भार से युक्त चित्त ॥ २६ ॥

सू० का भा०—तब चित्त कैवल्यभागी होता है ॥ २६ ॥

व्या० दे० कृत भा०—तदानीं यदस्य चित्तं विषयप्राग्भारमज्ञाननिम्नमासीत् तदस्यान्यथा भवति कैवल्यप्राग्भारं विवेकजज्ञाननिम्नमिति ॥ २६ ॥

भा० का प०—तब योगी का चित्त जो पहिले विषयों के प्रकृष्ट भार से भरा था वह, दूसरे प्रकार का हो जाता है मोक्ष के भार से नत अर्थात् विवेक से उत्पन्न हुए ज्ञान से भर जाता है ॥ २६ ॥

भा० का भा०—जो चित्त पूर्वकाल में विषयों से भरा था सो अब ज्ञान से गम्भीर हो जाता है ॥ २६ ॥

भो० वृ०-यदस्याज्ञाननिम्नपथं बहिर्मुखं विषयोपभोगफलं चित्तमासीत्तदिदानीं विवेकनिम्नमार्गमन्तर्मुखं कैवल्यप्राग्भारं कैवल्यप्रारम्भं सम्पद्यत इति ॥ २६ ॥ अस्मिंश्च विवेकवाहिनि चित्ते येऽन्तरायाः प्रादुर्भवन्ति तेषां हेतुप्रतिपादनद्वारेण त्यागोपायमाह—

भो० वृ० का भा०—पुरुष के अज्ञान का जो नीचा मार्ग है, वही विषय भोग का फल है उसमें जब चित्त नहीं फँसता है तब इसको विवेक मार्ग प्राप्त होता है और उससे मुक्ति का आरम्भ होता है ॥२६॥

मुक्ति के हेतु का वर्णन करने के द्वारा त्याग का उपाय कहते हैं—

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

सूत्र का प०—(तच्छिद्रेषु) समाधि दशा के अभाव में (प्रत्ययान्तराणि) अन्य ज्ञान (संस्कारेभ्यः) संस्कारों से उत्पन्न होते हैं ॥ २७ ॥

सू० का भा०—योगी के संस्कारों से कभी २ दूसरे ज्ञान भी उत्पन्न हो जाते हैं ॥ २७ ॥

व्या० दे० कृत भा०—प्रत्ययविवेकनिम्नस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रप्रवाहिणश्चित्तस्य तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराण्यस्मीति वा ममेति वा जानामीति वा न जानामीति वा । कुतः क्षीयमाणबीजेभ्यः पूर्वसंस्कारेभ्य इति ॥ २७ ॥

भा० का प०—ज्ञान से गम्भीर पुरुष का सद्भाव मात्र प्रसिद्धि वाले चित्त को उसके छिद्रों में क्षीयमाण संस्कारों से भी दूसरे ज्ञान

उत्पन्न होते हैं जैसे मैं हूं, या मेरा है या मैं जानता हूं या नहीं जानता हूं * ॥ २७ ॥

भा० का भा०—जब चित्त ज्ञानमय हो जाता है तब पुरुष का सत्त्वभाव प्रसिद्ध करने वाले चित्त में संस्कार के बीज नष्ट होने से दूसरा ज्ञान-मैं हूं, जानता हूं कि नहीं, यह मेरे हैं या नहीं, ऐसे ज्ञानान्तर कहाँ से होंगे ? ॥ २७ ॥

भो० वृ०—तस्मिन् समाधौ स्थितस्य छिद्रेष्वन्तरालेषु यानि प्रत्ययान्तराणि व्युत्थानरूपाणि ज्ञानानि तानि प्राग्भूतेभ्यो व्युत्थानानुभवजेभ्यः संस्कारेभ्योऽहं ममेत्येवं रूपाणि क्षीयमाणेभ्योऽपि प्रभवन्ति अन्तःकरणोच्छित्तिद्वारेण तेषां हानं कर्त्तव्यमित्युक्तम् भवति ॥ २७ ॥

हानोपायश्च पूर्वमेवोक्त इत्याह—

भो० वृ० का भा०—उस समाधि में स्थित पुरुष को योग के विघ्नों में जो व्युत्थानरूप ज्ञान उत्पन्न हुआ करते हैं वह व्युत्थान से उत्पन्न हुए संस्कार जब नष्ट हो जाते हैं इस कारण उन संस्कारों के हान का उपाय अवश्य करना चाहिये ॥ २७ ॥ हान के उपाय जो पूर्व कह चुके हैं उसही को अगले सूत्र में कहते हैं—

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

सूत्र का पदार्थ—(हानम्) नाश (एषाम्) इनका (क्लेशवत्) क्लेशों के समान (उक्तम्) कहा है ॥२८॥

---

* विशेष—यद्यपि योगी ज्ञान से पूर्ण होता है; तथापि उसे ज्ञान के छिद्र अर्थात् समाधि दशा से भिन्न सांसारिक अवस्था में ईश्वर ज्ञान से भिन्न और ज्ञान भी होते हैं। जैसे अपने शरीर का अध्यास या अन्य वस्तुओं में ममत्व आदि; परन्तु वह ज्ञान योगी को कुछ बाधा नहीं देते, क्योंकि जन संस्कारों से वह ज्ञान होते हैं वह स्वयम् क्षीणबीज होते हैं।

सूत्र का भा०—इन संस्कारों का नाश अविद्यादि क्लेशों के समान कहा है ॥ २८ ॥

व्यास दे० कृ० भा०—यथा क्लेशा दग्धबीजभावा न प्ररोहसमर्था भवन्ति तथा ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावः पूर्वसंस्कारो न प्रत्ययप्रसूर्भवति। ज्ञानसंस्कारास्तु चित्ताधिकारसमाप्तिमनुशेरत इति न चिन्त्यन्ते ॥ २८ ॥

भा० का प०—जैसे अविद्यादि क्लेशों के बीज नष्ट हुये नहीं उत्पन्न होते तैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि से जिसका बीज जल गया है ऐसा संस्कार अन्य ज्ञानों का उत्पादक नहीं होता और ज्ञान के संस्कार तो चित्त के अधिकारों की समाप्ति का अनुसरण करते हैं ॥ २८ ॥

भा० का भा०—जिस प्रकार से पूर्वोक्त क्लेश के बीज दग्ध होने से पुनः नहीं उत्पन्न होते हैं तैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि से संस्कार भी सबीज जलने से फिर उत्पन्न नहीं होते और ज्ञानसंस्कार चित्त की समाप्ति तक रहते हैं ॥ २८ ॥

भो० वृ०—यथा क्लेशानामविद्यादीनां हानं पूर्वमुक्तम् तथा संस्काराणामपि कर्त्तव्यम्। यथा ते ज्ञानाग्निना प्लुष्टा दग्धबीजकल्पा न पुनश्चित्तभूमौ प्ररोहं लभन्ते तथा संस्कारा अपि ॥ २८ ॥

एवं प्रत्ययान्तरानुदयेन स्थिरीभूते समाधौ यादृशस्य योगिनः समाधि प्रकर्षप्राप्तिर्भवति तथाविधमुपायमाह —

भो० वृ० का भा०—जैसे अविद्यादि क्लेशों का हान पूर्व कहा था ऐसे ही व्युत्थान संस्कारों का हान भी करना चाहिये जिस से वह व्युत्थान संस्कार ज्ञानाग्नि से दग्धबीज होकर चित्तभूमि में फिर अंकुरित वा उत्पन्न न हों ॥ २८ ॥

इस रीति से जब ज्ञानान्तर की उत्पत्ति न होगी और समाधि स्थिर होगी तब योगी को समाधि की प्रकर्षता क्योंकर प्राप्त हो इसका उपाय अगले सूत्र में कहते हैं—

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेक-ख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

सूत्र का प०—(प्रसंख्यानेऽपि) तत्त्वों के विभावन में भी (अकुसीदस्य) फलाशारहित (सर्वथाविवेकख्यातेः) विवेकख्याति वाले योगी को (धर्म्ममेघः समाधिः) धर्म्ममेघ नाम समाधि होती है ॥ २९ ॥

सू० का भा०-तत्त्वचिन्ता में निरत योगी को भी यदि वह फलाशा रहित हो तो उसे धर्म्ममेघ समाधि प्राप्त होती है ॥ २९ ॥

व्या० दे० कृत भा०—यदाऽयं ब्राह्मणः प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्ततोऽपि न किञ्चित् प्रार्थयते। तत्रापि विरक्तस्य सर्वथा विवेकख्यातिरेव भवतीति संस्कारबीजक्षयान्नास्य प्रत्ययान्तराण्युत्पद्यन्ते। तदाऽस्य धर्ममेघो नाम समाधिर्भवति ॥ २९ ॥

भा० का प०—जब यह योगी तत्त्वावधान में भी कुछ न चाहे अर्थात् उसमें भी विरक्त को सब प्रकार विवेक ज्ञान ही सिद्ध हो तो संस्कार के बीज नाश होने से इसको दूसरा ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है तब इसको धर्ममेघ नाम समाधि होती है ॥ २९ ॥

भा० का भा०—जब योगी योगतत्त्व का चिन्तन करता हुआ फलाशा से रहित होता है तब वहां भी विरक्त होने से उसका विवेक ज्ञान नष्ट नहीं होता। संस्कार के नष्ट होने से इसको दूसरे ज्ञान नहीं उत्पन्न होते तब उसे धर्म्ममेघ अर्थात् धर्म को वर्षाने वाली समाधि होती है ॥२९॥

भो० वृ०-प्रसंख्यानं यावतां तत्त्वानां यथाक्रमं व्यवस्थितानां परस्परविलक्षणस्वरूपविभावनं तस्मिन् सत्यप्यकुसीदस्य फलमलिप्सोः प्रत्ययान्तराणामनुदये सर्वप्रकारविवेकख्यातेः परिशेषात् धर्ममेघः समाधि-

र्भवति । प्रकृष्टमशुक्लकृष्णं धर्मं परमपुरुषार्थसाधकं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघः । अनेन प्रकृष्टधर्मस्यैव ज्ञानहेतुत्वमित्युपपादितं भवति ॥ २९ ॥

तस्माद्धर्ममेघात् किं भवतीत्याह—

भो० वृ० का भा०—प्रसंख्यान अर्थात् क्रम से स्थित जो तत्त्व हैं उन सब के रूप का यथावत् ज्ञान प्राप्त करके जब योगी को तत्त्वों में वितृष्णा वा फलप्राप्ति की अनिच्छा होती है तब योगी को ज्ञानान्तर की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् विवेकख्याति सब प्रकार से दृढ़ हो जाती है । तब योगी को धर्ममेघ नामक समाधि होती है । यह समाधि अशुक्ल-कृष्ण उत्तम धर्म कोवर्षाती है, इस कारण इस का नाम धर्ममेघ है । यही समाधि ज्ञान और धर्म की हेतु है ॥ २९ ॥ इस धर्ममेघ समाधि से क्या होता है इसका वर्णन आगे करेंगे--

ततः क्लेशकर्म्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

सूत्र का प०—(ततः) तब (क्लेशकर्म्मनिवृत्तिः) क्लेश और कर्मों का नाश होता है ॥ ३० ॥

सू० का भा०—तब क्लेश और कर्म्मों का नाश होजाता है ॥३०॥

व्या० दे० कृत भा०—तल्लाभादविद्यादयः क्लेशाः समूलकाषं, कषिता भवन्ति । कुशलाकुशलाश्च कर्माशयाः समूलघातं हता भवन्ति । क्लेशकर्म्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति । कस्मात्, यस्माद्विपर्य्ययो भवस्य कारणम् । नहि क्षीणविपर्य्ययः कश्चित् केनचित् क्वचिज्जातो दृश्यत इति ॥ ३० ॥

भा० का प०—उस धर्ममेघ समाधि के लाभ से क्लेश जड़ से क्षीण होते हैं । दुःख वा सुख देने वाले कर्म्म के फल जड़ समेत नष्ट होते हैं । क्लेश, कर्म निवृत्त होने पर जीता ही योगी मुक्त हो जाता है

क्योंकि मिथ्याज्ञान ही जन्म का कारण है। नष्ट अज्ञान वाला कोई किसी हेतु से कहीं उत्पन्न हुआ नहीं दीखता है॥ ३०॥

भा० का भा०—जब योगी को धर्ममेघ समाधि प्राप्त हो जाती है तब क्लेश और अच्छे बुरे कर्म के फल नष्ट हो जाते हैं, उनके नष्ट होने से योगी जीवनमुक्त होता है क्योंकि अज्ञान ही संसार का कारण है। कहीं नहीं देखा कि कोई ज्ञानी पुरुष किसी के द्वारा कहीं उत्पन्न हुआ हो; किन्तु जब योगी कैवल्य को भोग चुकेगा तब फिर संस्कार वश उत्पन्न होने में कोई भी बाधक नहीं है।

भोज वृत्ति—क्लेशानामविद्यादीनामभिनिवेशान्तानां कर्मणाञ्च शुक्लादिभेदेन त्रिविधानां ज्ञानोदयात् पूर्वपूर्वकारणनिवृत्त्या निवृत्तिर्भवति॥ ३०॥ तेषु निवृत्तेषु किं भवतीत्याह —

भो० वृ० का भा०-अविद्या से लेके अभिनिवेश पर्यन्त जो क्लेश और शुक्लादि जो तीन प्रकार के कर्म हैं उनकी क्रम से निवृत्ति होती है और ज्ञान का उदय होता है॥ ३०॥ उन के निवृत्त होने से क्या होता है सो आगे कहेंगे—

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्॥ ३१॥

सूत्र का प०—(तदा) तब (सर्वावरणमलापेतस्य) क्लेश कर्मादि मल दूर हुये को (ज्ञानस्याऽऽनन्त्यात्) ज्ञान के अनन्त होने से (ज्ञेयमल्पम्) जानने योग्य वस्तु कम रहती है॥ ३१॥

सू० का भा०—जब आवरणरूपी मल योगी के दूर हो जाते हैं तब इस को ज्ञान हो जाता है और जानने योग्य विषय कम रह जाते हैं॥ ३१॥

व्या० दे० कृत भा०—सर्वैः क्लेशकर्मावरणैर्विमुक्तस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्यं भवति। आवरकेण तमसाऽभिभूतमावृतमनन्तं ज्ञानसत्त्वं क्वचिदेव रजसा प्रवर्तितमुद्घाटितं ग्रहणसमर्थं भवति। तत्र यदा सर्वैरावरणमलैरपगतमलं भवति तदा भवत्यस्याऽऽनन्त्यम्। ज्ञानस्याऽऽनन्त्याज्ज्ञेयमल्पं सम्पद्यते। यथाऽऽकाशे खद्योतः। यत्रेदमुक्तम्-

"अन्धो मणिमविध्यत्तमनंगुलिरावयत्।
अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्तमजिह्वोऽभ्यपूजयत्" इति ॥ ३१ ॥

भा० का प०—सब क्लेश कर्म्म रूपी आवरणों से छूटे हुये को अनन्त ज्ञान होता है। तमोगुणसे आवृत्त हुआ है ज्ञान सत्त्वगुण जिसका वह कहीं रजोगुण से प्रवर्तित ग्रहण करने को समर्थ होता है। वहां जब सब आवरण करने वाले मलों से मलरहित होता है तब इस को अनन्त ज्ञान होता है, ज्ञान के अनन्त होने से जानने योग्य कम रहता है, जैसे आकाश में जुगनू। जहां ऐसा कहा है—अन्धे ने मणि को बींधा, टुन्टे ने उसे पकड़ लिया, बिना कण्ठ वाले ने उसे छोड़ दिया, बिना जिह्वा वाले ने उसकी प्रशंसा की ॥ ३१ ॥

भा० का भा०—जब योगी के सब आवरण और मल दूर होगए तब इस को अनन्त ज्ञान होता है। आवृत किया हुआ ज्ञान सतोगुण, रजोगुण से रहित और तमोगुण से शून्य होकर बन्धन दूर हो जाते हैं। जब सब मल दूर हो जाते हैं तब अनन्त ज्ञान उत्पन्न होता है, अनन्त ज्ञान से ज्ञेय पदार्थ कम रह जाते हैं जैसे आकाश में खद्योत का प्रकाश स्वल्प रहता है ऐसे ही योगी का ज्ञेय भी स्वल्प रहता हैं; परन्तु बिना योग किये उस ज्ञान को जानना ऐसा है जैसे अन्धे का मणि पाना आदि ॥ ३१ ॥

भो० वृ०—आव्रियते चित्तमेभिरित्यावरणानि क्लेशास्त एव मलास्तेभ्योऽपेतस्य तद्विरहितस्य ज्ञानस्य शरद्गगननिभस्याऽऽनन्त्यादनवच्छेदात् ज्ञेयमल्पं गणनास्पदं भवत्यक्लेशेनैव सर्वं ज्ञेयं जानातीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

ततः किमित्याह—

भो० वृ० का भा०—आच्छादित होय ढकजाय चित्त जिन से उन अविद्यादि क्लेशों को आवरण कहते हैं और वही मल हैं उनसे रहित जब ज्ञान होता है तब वह आकाश के समान अनन्त होता है और फिर ज्ञेय कम रह जाता है अर्थात् सहज में ही योगी सब विषयों को जान जाता है ॥ ३१ ॥ फिर क्या होता है सो आगे कहते हैं—

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्ति-र्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

सूत्र का प०—(ततः) तब (कृतार्थानाम्) "कृता-निष्पादिता धर्माद्यर्था यैस्ते" कृत प्रयोजनों को (गुणानाम्) गुणों के (परिणामक्रमसमाप्तिः) परिणाम के क्रम की समाप्ति हो जाती है ॥ ३२ ॥

सू० का भा०—धर्ममेघ समाधि होने से कृतार्थ योगी के गुणों के परिणाम क्रम भी समाप्त होजाते हैं ॥ ३२ ॥

व्या० दे० कृत भा०—तस्य धर्ममेघस्योदयात् कृतार्थानां गुणानां परिणामक्रमः परिसमाप्यते। नहि कृतभोगापवर्गाः परिसमाप्तक्रमाः क्षणमप्यवस्थातुमुत्सहन्ते ॥ ३२ ॥

अथ कोऽयं क्रमो नामेति—

भा० का प०—पूर्वोक्त धर्म्ममेघ समाधि के उदय से कृत प्रयोजनों के गुणों के परिणामों का पूर्वोक्त क्रम समाप्त हो जाता है क्योंकि भोग और मोक्ष प्राप्त किये हुए समाप्त क्रम योगी थोड़े काल भी ठहर नहीं सकते ॥ ३२ ॥

भा० का भा०—पूर्वोक्त धर्ममेघ समाधि के उदय से उन गुणों का परिणाम अर्थात् बारबार उदय होना बन्द हो जाता है जिसका फल

मिल चुका है क्योंकि गुण भोग फल के पश्चात् क्षणमात्र भी नहीं रह सकते ॥ ३२ ॥

भो० वृ०—कृतो निष्पादितो भोगापवर्गलक्षणः पुरुषार्थः प्रयोजनं यैस्ते कृतार्था गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि तेषां परिणाम आपुरुषार्थसमाप्तेरानुलोम्येन प्रातिलोम्येन चाङ्गाङ्गिभावः स्थितिलक्षणस्तस्य योऽसौ क्रमो वक्ष्यमाणस्तस्य परिसमाप्तिर्निष्ठा न पुनरुद्भव इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

क्रमस्योक्तस्य लक्षणमाह—

भो० वृ० का भा०—जो सत्, रज और तम आदि गुण अपने भोगादि प्रयोजन को उत्पन्न कर उनका परिणाम अर्थात् अनुलोम, विलोम या अङ्गाङ्गिभाव से उदय और क्षय के क्रम को समाप्त कर देते हैं फिर उनका उदय नहीं होता ॥ ३२ ॥ आगे क्रम का लक्षण कहेंगे—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

सूत्र का पदार्थ—(क्षणप्रतियोगी) क्षण के विरोधी (परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः) परिणाम के अवसान से जो जाना जाय (क्रमः) उसे क्रम कहते हैं ॥ ३३ ॥

सू० का भा०—क्रम का लक्षण यह है कि जो क्षण क्षण में दूसरी अवस्था को धारण करे वह क्रम है ॥ ३३ ॥

व्या० दे० कृत भा०—क्षणानन्तर्यात्मा परिणामस्यापरान्तेनावसानेन गृह्यते क्रमः। न ह्यननुभूतक्रमक्षणा पुराणता वस्त्रस्यान्ते भवति नित्येषु च क्रमो दृष्टः। द्वयी चेयं नित्यता कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च। तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य। परिणामिनित्यता गुणानाम्। यस्मिन् परिणम्यमाने तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यम्।

उभयस्य च तत्त्वानभिघातान्नित्यत्वम्। तत्र गुणधर्म्मेषु बुद्ध्यादिषु परिणामापरांतनिर्ग्राह्यः क्रमो लब्धपर्यवसानो नित्येषु धर्म्मिषु गुणेष्वलब्धपर्यवसानः। कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु स्वरूपास्तिता क्रमेणैवानुभूयत इति तत्राप्यलब्धपर्य्यवसानः शब्दपृष्ठेनास्ति क्रियामुपादाय कल्पित इति। अथास्य संसारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमानस्यास्ति क्रमसमाप्तिर्न वेति। अवचनीयमेतत्। कथम्। अस्ति प्रश्न एकान्तवचनीयः सर्वो जातो मरिष्यतीति। ओं भो इति।

अथ सर्वो मृत्वा जनिष्यत इति। विभज्य वचनीयमेतत्। प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो न जनिष्यत इतरस्तु जनिष्यते। तथा मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा श्रेयसीत्येवं परिपृष्टे विभज्य वचनीयः प्रश्नः पशूनधिकृत्य श्रेयसी देवानृषींश्चाधिकृत्य नेति। अयं त्ववचनीयः प्रश्नः संसारोऽयमन्तवानथानन्त इति। कुशलस्यास्ति संसारक्रमपरिसमाप्तिर्नेतरस्येति अन्यतरावधारणे दोषः। तस्माद्व्याकरणीय एवायं प्रश्न इति॥ ३३॥

गुणाधिकारक्रमसमाप्तौ कैवल्यमुक्तं तत्स्वरूपमवधार्यते—

भा० का प०—वर्त्तमान क्षण के पश्चात् जो काल से परिणाम होता है उस के अनन्तर जो ग्रहण किया जाता है उसे क्रम कहते हैं। इस में शङ्का होती है कि वस्त्र का पुरानापन वस्त्र के अन्त में नहीं जाना जाता, तब क्रम का लक्षण अयुक्त हुआ? इसका उत्तर यह है कि नित्य पदार्थों में क्रम ठीक रीति से जाना जाता है। अब इस में भी सन्देह होगा कि जिन पदार्थों में क्रम है वे नित्य नहीं हो सकते हैं। इसका समाधान यह है कि नित्यता दो प्रकार की है—एक कूटस्थ नित्यता और दूसरी परिणाम नित्यता। यहां कूटस्थनित्यता पुरुष की है और परिणामनित्यता गुणों की है। जिनके परिणाम से तत्त्व नष्ट नहीं होते वे नित्य हैं जो कार्य्य वा कारणरूप तत्त्व का नाशक न हो, इस में यह भी

शङ्का हो सकती है कि जो परिणामी वस्तु है वह नित्य नहीं हो सकती। इसका उत्तर देते हैं कि नित्यता गुणों में रहती है और बुद्धि आदिकों में अन्तदशा से समझने योग्य क्रम रहता है; परन्तु नित्य गुणों में जो क्रम रहता है उसका अन्त होता है इससे ही उनमें क्रमनित्यता रहती है। कूटस्थ अर्थात् विकार रहित नित्य पदार्थों में जो क्रम रहता है उसका अन्त नहीं होता। जो मुक्त जीव अपने स्वरूप में स्थिर रहते हैं उनके जीव की विद्यमानता क्रम से ही जानी जाती है। क्योंकि जीव की नित्यता भी अन्त रहित होती है। अब यह शङ्का होती है कि संसार की स्थिति और लय से जो गुणों में क्रम रहता है उसकी समाप्ति होती है वा नहीं? इस विषय का कथन असम्भव है। कैसे यह, प्रश्न एकदेशीय है जो उत्पन्न हुए हैं वे सब मरेंगे सब मरकर उत्पन्न होंगे। यह पूर्ववचन का अर्थापत्तिन्याय से विभाग वा उत्तर होता है। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि जिसकी विषय सम्बन्धिनी तृष्णा नष्ट हो गई है वह कुशल अर्थात् योगी उत्पन्न नहीं होगा जैसे मनुष्य जाति कल्याणकारिणी है वा नहीं? यह प्रश्न विभाग वचन वाला है अर्थात् इसके उत्तर में हाँ और ना दोनों कह सकते हैं, क्योंकि मनुष्य पशुओं की अपेक्षा उत्तम है, देव और ऋषियों की अपेक्षा उत्तम नहीं है। संसार अनन्त है वा सान्त है? इसका उत्तर यह है कि योगी को संसार के क्रम की समाप्ति हो जाती है दूसरे को नहीं। इस लिये संसार को सान्त वा अनन्त कहने में एक तरह का दोष है, इस कारण यह प्रश्न विवेचनीय है॥ ३३॥

भा० का भा०—वर्तमान क्षण के पश्चात् जो काल से परिणाम होता है उसके अनन्तर जो ग्रहण किया जाता है उसे क्रम कहते हैं। इसमें शङ्का होती है कि वस्त्र का पुरानापन वस्त्र के अन्त में नहीं जाना जाता तब क्रम का लक्षण अयुक्त हुआ? इसका उत्तर यह है कि नित्य पदार्थों में क्रम ठीक रीति से जाना जाता है। अब इसमें भी सन्देह होगा कि जिन पदार्थों में क्रम है वह नित्य नहीं हो सकते हैं? इसका

समाधान यह है कि नित्यता दो प्रकार को है—एक कूटस्थ नित्यता, दूसरी परिणाम नित्यता। यहां कूटस्थनित्यता पुरुष की है और परिणाम नित्यता गुणों की है। जिनके परिणाम से तत्त्व नष्ट नहीं होते वह नित्य है, जो कारण वा कार्य्यरूप तत्त्व का नाशक न हो। इसमें यह भी शङ्का हो सकती है कि जो परिणामी वस्तु है वह नित्य नहीं हो सकती ? इसका उत्तर देते हैं कि नित्यता गुणों में रहती है और बुद्धि आदि में अन्त दशा से समझने योग्य क्रम रहता है; परन्तु नित्य गुणों में जो क्रम रहता है उसका अन्त होता है इससे ही उनमें क्रमनित्यता रहती है। कूटस्थ अर्थात् विकाररहित नित्य पदार्थों में जो क्रम रहता है उसका अन्त नहीं होता। जो मुक्त जीव अपने स्वरूप में स्थिर रहते हैं उनके जीव की विद्यमानता क्रम से ही जानी जाती है क्योंकि जीव की नित्यता भी अन्त रहित होती है। अब यह शङ्का होती है कि संसार की स्थिति और लय से जो गुणों में क्रम रहता है उसकी समाप्ति होती है वा नहीं ? इस विषय का कथन असम्भव है। कैसे, यह प्रश्न एकदेशीय है। जो उत्पन्न हुये हैं वे सब मरेंगे, मर कर उत्पन्न होंगे। यह पूर्ववचन का अर्थापत्ति न्याय से विभाग वा उत्तर होता है। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि जिस की विषय सम्बन्धिनी तृष्णा नष्ट होगई वह कुशल अर्थात् योगी उत्पन्न नहीं होगा तैसे ही मनुष्यजाति कल्याणकारिणी है वा नहीं ? यह प्रश्न विभाग वचनवाला है अर्थात् इसके उत्तर में हां और ना दोनों कह सकते हैं। क्योंकि पशुओं की अपेक्षा मनुष्य उत्तम है, देव तथा ऋषियों की अपेक्षा उत्तम नहीं है। संसार अनन्त है वा सान्त है ? इसका उत्तर यह है कि योगी को संसार के क्रम की समाप्ति हो जाती है दूसरे को नहीं, इस लिये संसार को सान्त व अनन्त एक तरह का कहने में दोष है इस कारण यह प्रश्न विवेचनीय है ॥ ३३ ॥

भो० वृ०—क्षणोऽल्पीयान् कालस्तस्य योऽसौ प्रतियोगी क्षण-

विलक्षणः परिणामोऽपरान्तनिर्ग्राह्योऽनुभूतेषु क्षणेषु पश्चात् सङ्कलनबुद्ध्यैव यो गृह्यते स क्षणानां क्रम उच्यते। न ह्यननुभूतेषु क्षणेषु क्रमः परिज्ञातुं शक्यः ॥ ३३ ॥ इदानीं फलभूतस्य कैवल्यस्यासाधारणं स्वरूपमाह—

भो० वृ० का भा०—अत्यन्त सूक्ष्म काल को क्षण कहते हैं उसका जो प्रतियोगी क्षण अर्थात् विलक्षण परिणाम जो पूर्वक्षण के नाश होने पर ग्रहण किया जाता है उसे क्षण का क्रम कहते हैं क्योंकि जिनका अनुभव नहीं किया उनके क्रम का भी ज्ञान नहीं हो सकता है॥ ३३ ॥ आगे योग के फल मोक्ष का असाधारण लक्षण कहेंगे—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥

सू० का प०—(पुरुषार्थशून्यानां गुणानाम्) जिन गुणों की प्राप्ति में पुरुषार्थों की समाप्ति होजाय (प्रतिप्रसवः) व्याहत गति से उन गुणों के नाश को (कैवल्यम्) मोक्ष कहते हैं (स्वरूपप्रतिष्ठा वा) अथवा अपने स्वरूप में स्थित होने को मोक्ष कहते हैं (चितिशक्तिः) यद्वा ज्ञानशक्ति को मोक्ष कहते हैं ॥ ३४ ॥

सू० का भा०—स्पष्ट है ॥ ३४ ॥

व्या० दे० कृत भा०—कृतभोगापवर्गाणां पुरुषार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्य्यकारणात्मनां गुणानां तत्कैवल्यम्, स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वानभिसम्बन्धात् पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला तस्याः सदा तथैवावस्थानम् कैवल्यमिति ॥ ३४ ॥

भा० का प०—जिन गुणों के फल भोग वा स्वर्गादि फल प्राप्त

हो चुके हैं वे जब पुरुषार्थशून्य होकर कार्य कारण भाव से उत्पन्न होने के अयोग्य हो जायँ, उस दशा को मोक्ष कहते हैं स्वरूप प्रतिष्ठा का अर्थ यह है कि बुद्धि वा मन के सम्बन्ध से रहित जो ज्ञानशक्ति है उसे केवला कहते हैं। सर्वदा उस ही ज्ञानशक्ति में स्थिर रहने को कैवल्य कहते हैं॥ ३४॥

भा० का भा०—जिन गुणों के फल भोग वा स्वर्गादि फल प्राप्त होचुके हैं कार्य कारण भाव से उन गुणों की अनुत्पत्ति को मोक्ष कहते हैं। स्वरूप प्रतिष्ठा का अर्थ यह है कि बुद्धि वा मन के सम्बन्ध से रहित जो ज्ञानशक्ति उसे केवला कहते हैं, सर्वदा उस ही शक्ति में स्थिर रहने को कैवल्य कहते हैं॥ ३४॥

भोज वृत्ति—समाप्तभोगापवर्गलक्षणपुरुषार्थानां गुणानां यः प्रतिप्रसवः प्रतिलोमस्य परिणामस्य समाप्तौ विकारानुद्भवः क्षणेषु। यदि वा चिच्छक्तेर्वृत्तिसारूप्यनिवृत्तौस्वरूपमात्रेऽवस्थानं तत् कैवल्यमुच्यते।

भो० वृ० का भा०—समाप्त हो गये हैं भोग और अपवर्ग रूप लक्षण जिन पुरुषार्थ रूप गुणों के उन गुणों का जो प्रति प्रसव अर्थात् अनुलोमादि भावों से फिर उत्पन्न न होना उसे मोक्ष कहते हैं। यद्वा चित् शक्ति का वृत्तियों की सरूपता को त्यागकर अपने ही रूप में स्थिर रहना, उसे कैवल्य वा मुक्ति कहते हैं।

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे सांख्यप्रवचने कैवल्यपादश्चतुर्थः सम्पूर्णः।

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः॥